नयप्रज्ञापन

ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय
अवक्तव्यनय
अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्यनय
अस्तित्व-नास्तित्व
अस्तित्व
द्रव्यनय
गुणनय
पर्यायनय
कर्तृनय
शुद्धनय
अशुद्धनय
ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय
व्यवहारनय
भोक्तृनय
प्रवचनसार परिशिष्ट में समागत
४७ नयों पर
आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नयप्रज्ञापन

(४७ नयों पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम. ए., साहित्यरत्न, पीएच. डी.

प्रकाशक :

श्रीमती रम्भाबैन पोपटलाल बोरा ट्रस्ट, बम्बई

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए- 4 बापूनगर, जयपुर - 302015

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम संस्करण : **5 हजार**

(15 अगस्त 1996)

मूल्य : **बीस रुपए**

मुद्रक :

रूपा ऑफसैट प्रिंटर्स
मालवीयानगर
जयपुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of
Nai Pragnapan (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	7 April 2009	First electronic version

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशकीय

नयप्रकरण जैनदर्शन का मौलिक प्रकरण है; क्योंकि जैनेतर दर्शनों में नय नाम की कोई चीज ही नहीं है। समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। जिनागम का एक वाक्य भी ऐसा नहीं, जो नयवाद से निरपेक्ष हो। इसलिए जिनागम का रहस्य समझने के लिए नयों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और नैगमादि सप्तनयों का वर्णन तो जिनागम में सहजता से उपलब्ध है; किन्तु ४७ नयों की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की आचर्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के परिशिष्ट की मौलिक विशेषता है; क्योंकि इसे छोड़कर ४७ नयों की चर्चा अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी ने इन ४७ नयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस विषय पर उनके प्रवचनों का संकलन नयप्रज्ञापन नाम से गुजराती में तो उपलब्ध है; किन्तु हिन्दी में उपलब्ध नहीं था। अत: डॉ. भारिल्ल जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाले वीतराग-विज्ञान (आध्यात्मिक मासिक) में क्रमश: प्रकाशित किया गया, जो पाठकों द्वारा सराहा गया। उसी का यह पुस्तकाकार प्रकाशन है जो कि पाठकों के अति अनुरोध पर उपलब्ध कराया जा रहा है। आशा है इसके स्वाध्याय से आपको आत्म-तत्त्व समझने में महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ का सम्पादन कार्य जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने किया है। पूज्य स्वामीजी के अनेक ग्रंथों को सम्पादित कर उन्हें व्यवस्थित रूप से प्रकाशित करने का श्रेय डॉ. भारिल्लजी को ही जाता है। उनके इस योगदान के लिये ट्रस्ट चिरऋणी रहेगा।

कृति को जनमानस में कम से कम मूल्य में उपलब्ध कराने हेतु भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन बधाई के पात्र हैं। उन्होंने इस प्रकाशन की लागत का 30% रुपए का आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। अन्य जिन महानुभावों ने कीमत कम करने हेतु आर्थिक सहयोग दिया है, उनके लिए भी हम धन्यवाद देते हैं।

सुन्दर व आकर्षक कलेवर में प्रकाशित करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को जाता है। ग्रंथ की प्रूफ रीडिंग श्री शान्तिकुमार पाटिल एवं श्री पी. सी. गोयल ने की है। अत: ट्रस्ट तीनों महानुभावों का आभारी है।

सभी आत्मार्थी नयों के यथार्थ स्वरूप को समझकर आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें, इसी भावना के साथ—

श्रीमती रम्भाबैन पोपटलाल बोरा ट्रस्ट
मुम्बई (महा.)

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर (राज.)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

नयप्रज्ञापन

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित २७५ गाथाओं की टीका पूर्ण करने के बाद आचार्य अमृतचंद्रदेव ने परिशिष्ट की रचना की है। जिसप्रकार मंदिर के ऊपर कलश चढाया जाता है, उसीप्रकार 'यह आत्मा कैसा है तथा इसकी प्राप्ति किस विधि से होती है' – इसके उत्तरस्वरूप आचार्य अमृतचंद्रदेव ने प्रवचनसार के ऊपर यह परिशिष्टरूपी कलश चढाया है।

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते।

यह आत्मा कौन है, कैसा है तथा किस विधि से प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं कि वैसे इस प्रश्न का उत्तर पूर्व में कह चुके हैं, फिर भी यहाँ पुनः कहते हैं।

जिन्हें आत्मा को प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा होती है, वे ही बारम्बार आत्मा की बात पूछते हैं। जिसप्रकार जिसे पुत्र के प्रति प्रेम होता है, वह बारम्बार पुत्र की संभाल करता है। इसीप्रकार जिसे आत्मा के प्रति लगन हुई है, आत्मकल्याण करने की रुचि जगी है, वह आत्मा का स्वरूप समझने के लिए बारम्बार आत्मा के बारे में ही प्रश्न पूछता है। जिसे जिसकी जरूरत होती है, उसे उसका ज्ञान-श्रद्धान और पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। शिष्य को आत्मा की रटन लगी है, इसलिए वह बारम्बार आत्मा के बारे में ही प्रश्न पूछता है कि हे प्रभो ! मेरा आत्मा कैसा है तथा उसको प्राप्त करने की विधि क्या है ?

ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आचार्यदेव फिर से आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। यह आत्मा कौन है ? – ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आत्मा की महिमा भासित हुई है। अतः उसकी रुचि और ज्ञान का प्रयत्न आत्मस्वभाव की ओर ढ़ले बिना नहीं रहता।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जिसको आत्मा का स्वरूप समझने की तीव्र जिज्ञासा जगी हो, – ऐसे शिष्य के लिए ही यह उपदेश दिया है ; कपडे की पोटली लेकर गली-गली में जाकर कपडा बेचनेवाले की भांति या सब्जी की टोकरी लेकर गली-गली में जाकर सब्जी बेचनेवाले की भांति हम दूसरे के घर जाकर नहीं समझाते। जिसप्रकार जिसे प्यास नहीं लगी हो, उसे पानी नहीं पिलाते और जिसे भूख नहीं लगी हो, उसे भोजन नहीं कराते; उसीप्रकार जिसे आत्मा की महिमा नहीं है, जरूरत नहीं है, दरकार नहीं है, उसे आत्मा की बात नहीं सुनाते; जिन्हें आत्मा को जानने की तीव्र जिज्ञासा है, उसे ही आत्मा की बात बताते हैं।

श्रीगुरु के पास जाकर 'यह आत्मा कौन है' – ऐसा पूछनेवाले जीव को आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है और श्रीगुरु के पास जाकर आत्मा का स्वरूप समझने के लिए तैयारी भी है – ऐसे सुपात्र शिष्य को आचार्यदेव इस परिशिष्ट द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। तथा वह शिष्य भी आत्मस्वरूप को प्राप्त किये बिना नहीं रहता।

शिष्य को एकमात्र आत्मा समझने की तीव्र जिज्ञासा है, इसलिए वह कोई अन्य यहाँ-वहाँ का प्रश्न न पूंछकर सीधा आत्मा का ही प्रश्न पूंछता है कि हे प्रभो ! यह आत्मा कैसा है तथा इसकी प्राप्ति कैसे होती है। पात्रशिष्य ने यहाँ पुण्य-पाप, स्वर्ग-नर्क या कर्मों की बात नहीं पूंछी; क्योंकि आत्मा के अलावा बांकी सब तो अनंतबार जाना, परन्तु अपने आत्मा को अभीतक कभी नहीं जाना; इसलिए शिष्य ने सबसे पहले आत्मप्राप्ति के उपाय के बारे में ही पूंछा है, पुण्य कैसे होता है और स्वर्ग कैसे मिलता है – शिष्य ने ऐसा नहीं पूछा; बल्कि आत्मा का स्वरूप क्या है और वह कैसे प्राप्त होता हैं – ऐसा पूछा है। इस प्रश्न में ही उसकी आत्मा को समझने की पात्रता सिद्ध होती है।

प्रश्न पूछने में भी 'यह आत्मा कैसा है' – ऐसा कहकर अपने आत्मा को पृथक् रखकर पूछा है। 'यह आत्मा' – ऐसा कहने में ही स्वयं अपने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा के सन्मुख होने की बात आ गई, अन्य आत्माओं की ओर झुकना नहीं रहा । स्वयं अर्न्तमुख होकर अपने आत्मा को जानने पर अन्य दूसरे का आत्मा भी जानने में आ जाता है ; क्योंकि जैसा स्वभाव अपने आत्मा का है, वैसा ही स्वभाव प्रत्येक आत्मा का है ।

हे प्रभो ! यह मेरा आत्मा कैसा है – ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आत्मा की ऐसी तीव्ररुचि है कि वह मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखनेवाला भव्य ही है, वह अल्पकाल में आत्मा का स्वरूप समझकर मोक्ष प्राप्त करनेवाला है । जिसके अन्तर से ऐसा प्रश्न उठता है, वह आत्मस्वभाव समझकर मोक्ष पाये बिना नहीं रहता । तथा पूर्व में जो कुछ सुना और जाना था, उस सभी पर पानी फेरकर अर्थात् सम्पूर्ण पक्षपात छोडकर श्रीगुरु के पास जाकर विनयपूर्वक पूछता है कि हे प्रभो ! यह मेरा आत्मा कैसा है और मुझे उसकी प्राप्ति कैसे होगी – ऐसा पूछनेवाले को परपदार्थ, रुपया-पैसा की अथवा पुण्य आदि को प्राप्त करने की भावना नहीं होती । उसे तो एकमात्र आत्मस्वभाव को जानकर उसे प्राप्त करने की ही भावना है, इसलिए उसने जिज्ञासापूर्वक एकमात्र अकेले आत्मा के बारे में ही प्रश्न पूछा है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि वैसे इस प्रश्न का उत्तर पहले कह तो दिया है; परन्तु फिर भी यहाँ शिष्य की जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए इस परिशिष्ट में फिर से समझाते हैं ।

अनादिकाल से संसार में रखड़ते हुए इस जीव ने परपदार्थों का काम तो किया ही नहीं है ; क्योंकि 'पर को लेना या छोडना' – यह आत्मा के हाथ में ही नही है । इसने तो अनादिकाल से अज्ञानदशा में विकारीभाव ही किये हैं, और उन्हें ही अपना स्वरूप मानकर संसार में रखड़ रहा है । अब जिस जीव को आत्महित – आत्मा का आनंद प्राप्त करने की भावना है, वह पूछता है कि हे प्रभो ! मैंने जो अनादिकाल से जो किया, अब मुझे उससे पृथक् नया क्या करना है – ऐसे शिष्य को समझाने के लिए इस परिशिष्ट द्वारा फिर से उस आत्मा का स्वरूप एवं उसे प्राप्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करने की विधि कहते हैं । वैसे ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन व चरणानुयोगसूचक चूलिका में पहले ही यह बात विस्तार से आ गई है, फिर भी यहाँ नये तरीके से एकबार फिर समझाते हैं।

शिष्य ने प्रश्न में दो बाते पूंछी हैं – एक तो आत्मा कैसा है और दूसरी – आत्मा किस विधि से प्राप्त होता है – इन दो बातों में आत्मा कैसा है – यह पूंछकर सम्यग्ज्ञान की और आत्मा किसविधि से प्राप्त होता है – यह पूंछकर चारित्र की बात की है । शिष्य पात्रतापूर्वक पूंछता है कि हे नाथ! जिस आत्मतत्त्व को जाने बिना मैं अनादिकाल से संसार में रखड़ रहा हूँ, वह मेरा आत्मद्रव्य कैसा है, कौन है और उसकी प्राप्ति किस विधि से होती है – यह सब बातें मुझे समझाने की कृपा करो; जिससे मैं अपने आत्मस्वरूप को समझकर आत्मा को प्राप्तकर परमात्मा हो जाऊँ और फिर मेरा संसार में जन्म-मरण न हो ।

देखो, शिष्य कोई यहाँ-वहाँ का प्रश्न नहीं पूंछता; परन्तु 'आत्मा कौन है ?' सीधा यही प्रश्न पूंछता है। जैसे – बाजार में जानेवाला व्यक्ति उसी वस्तु का भाव पूंछता है, जो वस्तु उसे खरीदनी होती है । हीरा खरीदनेवाला कहीं साग-भाजी का भाव नहीं पूछता । इसीप्रकार शिष्य को आत्मा प्राप्त करने की रुचि जागृत हुई, अत: वह आत्मा के ही बारे में प्रश्न पूछता है कि आत्मा कौन है तथा उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?

देखो, प्रश्न की भाषा तो जड़ है, परन्तु उसका वाच्यभाव ऐसा है कि शिष्य को इस जाति की अर्थात् आत्मा समझने की भावना जगी है, रुचि जगी है – ऐसे पात्रजीव को समझाने के लिए यहाँ फिर से आत्मा का वर्णन करते हैं । अहा ! देखो, आचार्यप्रभु की करुणा एवं शिष्य की पात्रता।

आत्मा कैसा है – यह जानकर मुझे अपना कल्याण करना है – ऐसी भावना जिसे होती है, उसे ही ऐसा प्रश्न उठता है और उसे ही आचार्यदेव समझाते हैं । जो जीव समझकर उसमें स्थिर हो गये है, उन्हे ऐसे प्रश्न ही नहीं रहते । इसीप्रकार जिसे समझने की इच्छा ही नहीं है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे भी ऐसा प्रश्न नहीं उठता और उसके लिए समझाते भी नहीं हैं। परन्तु जिन्हें अन्दर में जिज्ञासा जगी है और विनय से पूंछते हैं –ऐसे शिष्यों के लिए ही आचार्यदेव फिर से आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानंतधर्माधिष्टात्रेकंद्रव्यमनंतधर्मव्यापकानंतनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्।

प्रथम तो, आत्मा चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंतधर्मों का अधिष्ठाता एकद्रव्य है; क्योंकि अनंतधर्मों में फैलनेवाले अनंतनय और उन अनंतनयों में व्यापनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण – ऐसे प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मद्रव्य प्रमेय होता है, जाना जाता है।

यह भगवान आत्मा एकद्रव्य है और इसमें अनंतधर्म हैं। प्रत्येक आत्मा अनंतधर्मों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। आत्मा के अनंतधर्म चैतन्यसामान्य से व्याप्त हैं अर्थात् अनंतधर्मों का निवासस्थान एक आत्मद्रव्य है। धर्म अनंत होते हुए भी उन्हें धारण करनेवाला द्रव्य एक है। यहाँ ऐसा नहीं है कि जगत में जो अनेक आत्मायें है, वे सभी मिलकर एक हैं; परन्तु ऐसा है कि जगत में अनंत आत्मायें हैं और प्रत्येक आत्मा अनंतधर्मात्मक है तथा उन अनंतधर्मों का आधारभूत एकद्रव्य है; क्योंकि अनंतधर्मों को जाननेवाले अनंतनय हैं और उनमें व्याप्त रहनेवाले एक श्रुतज्ञानप्रमाण पूर्वक स्वानुभव से आत्मा जाना जाता है।

एक आत्मवस्तु में अनंतधर्म हैं और उसे जाननेवाले श्रुतज्ञानप्रमाण में अनंतनय हैं। एक-एक धर्म को जानने वाला एक-एक नय है – इसप्रकार अनंतधर्मों को जाननेवाले अनंतनय हैं। जिसप्रकार अनंतधर्म एक आत्मद्रव्य में समाहित होते हैं, उसीप्रकार अनंतनय एक श्रुतज्ञान में समाहित होते हैं। जिसप्रकार अपने अनंतधर्मों में एकद्रव्य व्याप्त रहता है, उसीप्रकार उन धर्मों को जाननेवाले अनंतनयों में एक श्रुतज्ञान व्याप्त रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यदि कोई कहे कि छद्मस्थ जीव को अपने आत्मस्वरूप का पता नहीं चलता तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उसकी यह बात झूठी है; क्योंकि अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान से अनंतधर्मात्मक आत्मा जाना जाता है। स्वसन्मुख श्रुतज्ञान से सम्पूर्ण आत्मा स्वानुभव में आ जाता है।

आत्मा कैसा है और वह किस विधि से जानने में आता है – ये दोनों बातें इसमें आ जाती हैं।

आत्मा कैसा है ? आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंतधर्मात्मक एकद्रव्य है।

आत्मा किस विधि से प्राप्त होता है ? आत्मा के अनंतधर्मों को जाननेवाले जो अनंतनय हैं, उनमें व्याप्त श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभव से आत्मा जाना जाता है।

यहाँ अनंतधर्मात्मक अपना आत्मा प्रमेय है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण है। – ऐसे प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से अपना आत्मा प्रमेय होता है, जाना जाता है। पर के निमित्त से या राग के विकल्प से यह आत्मा प्रमेय नहीं बनता, बल्कि साधकजीव के स्वसन्मुख होने पर श्रुतज्ञान से ही यह आत्मा प्रमेय होता है। अनंतधर्मात्मक आत्मा जैसा है, उसे वैसा न माने तो उसका निर्विकल्प स्वसंवेदन नही होता। आत्मा जैसा है, उसे स्वानुभव से वैसा ही जानना धर्म है।

यहाँ आत्मा को जो अनंतधर्मात्मक कहा है, उसमें धर्म शब्द का क्या अर्थ है ?

धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव। प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनंतस्वभाव रहते हैं, उन्हें ही यहाँ धर्म कहते हैं। जड़-पुद्गल में भी उसके अनंतधर्म रहते हैं; परन्तु यहाँ तो शिष्य ने 'आत्मा कैसा है ?' – यह पूंछा है, इसलिए आत्मा के धर्मों की बात की है। आत्मा में ज्ञान, र्शन, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, पुरुषार्थ, नियत आदि अनंत-्वभाव विद्यमान हैं। वे सभी उसके धर्म हैं। अपने इन धर्मों से धर्मी ात्मा जाना जाता है। यहाँ धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग है, उसका वर्णन नहीं है। यहाँ तो जो वस्तु में अनंतधर्म हैं, उनका वर्णन है।

ऐसे अनंतधर्मात्मक आत्मा को जानकर उसकी रुचिपूर्वक उसमें एकाग्रता करने से ही मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधर्म प्रगट होता है।

वस्तु में तो अनंतधर्म स्वयंसिद्ध हैं, वे ही ज्ञान में जानने में आते हैं। वस्तु के अनंतधर्मों को कोई नया उत्पन्न नहीं करना पड़ता। वे तो स्वभाव से ही वस्तु में पड़े हैं। अतः जब वस्तु का यथार्थज्ञान होता है; तब सम्यग्ज्ञान हुआ – इसप्रकार सम्यग्ज्ञान नया प्रगट होता है।

अनंतधर्म वस्तु में एकसाथ ही हैं और ज्ञान में भी एकसाथ जाने जाते हैं। अनंतधर्मों को जानने के लिए अनंतकाल नहीं लगता। श्रुतज्ञान को अर्न्तमुखपूर्वक अन्दरस्वभाव में एकाग्र करने पर अनंतधर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है।

छद्मस्थ जीव प्रत्येक धर्म को अलग-अलग भले नहीं जानता हो, परन्तु अन्तर्मुख होने पर अनंतगुणों का पिण्ड भगवान आत्मा उसके श्रुतज्ञान के स्वसंवेदन में आ जाता है। अनंतधर्मात्मक आत्मा का अनुभव करने के लिए अनंतधर्मों के भेद का विकल्प करने की जरूरत नहीं पड़ती; क्योंकि अनंतधर्मों को धारण करनेवाला धर्मी एक है। जिसप्रकार आत्मा अनंतधर्मों का स्वामी है, उसीप्रकार उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान भी अनंतनयों का स्वामी एक है। इसलिए एक धर्म को जानने के विकल्प में सम्पूर्ण आत्मा प्रमेय नहीं होता और सम्पूर्ण आत्मा को जाने बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता। ज्ञान में अनंतनय हैं और पदार्थ में अनंतधर्म हैं। ज्ञान अनंतनयात्मक होते हुए भी प्रमाणपने तो एक ही है, इसीप्रकार पदार्थ अनंतधर्मात्मक होते हुए भी वस्तुपने तो एक ही है। ऐसी प्रमाण और प्रमेय की एकता होने पर आत्मा जानने में आता है अर्थात् श्रुतज्ञानप्रमाण स्वसन्मुख होकर अभेद आत्मा के सन्मुख होते ही आत्मा का स्वानुभव होता है – आत्मा जानने में आ जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा स्वयं ही अनंतधर्मों का स्वामी है। अनंतगुण - धर्म, पर्याय और सापेक्ष धर्म - इन सबका पिंड आत्मा है, इन सब धर्मों को आत्मा वास्तव में धारण करता है। आत्मा के किसी धर्म में पर की अपेक्षा भले ही आती हो, परन्तु उसका कोई भी गुण, पर्याय अथवा धर्म पर के कारण से नहीं है। नित्यत्व-अनित्यत्व अथवा गति-स्थिति आदि धर्म आत्मा के स्वयं के हैं, इन धर्मों को भी आत्मा ही धारण करता है; अन्य कोई काल आदि के निमित्त से ये धर्म नहीं हैं।

अशुद्धता में कर्म निमित्त होता है, इसलिए अशुद्धता कर्म के कारण से ही होती है – ऐसा नहीं है; अशुद्धता भी अपनी ही पर्याय का धर्म है। आत्मा का एक भी धर्म पर के आधार से नहीं है। आत्मा स्वयं ही शुद्धता या अशुद्धता रूप होनेवाला है। अशुद्धता कर्म के कारण से होती है – ऐसा नहीं है; अशुद्ध होने की योग्यतारूप धर्म भी आत्मा का स्वयं का ही है। काल के कारण आत्मा परिणमन नहीं करता है, परिणमन धर्म स्वयं आत्मा का है। आत्मा धर्मास्तिकाय के कारण गति नहीं करता है, गति करने रूप धर्म (क्रियावतीशक्ति) स्वयं आत्मा का है। अधर्मास्तिकाय के कारण आत्मा स्थिर नहीं होता है, स्थिर होनेरूप धर्म भी आत्मा का ही है। इसप्रकार अपने समस्त धर्मों का धनी आत्मा स्वयं ही है।

काल आदि अन्य निमित्त जगत में भले ही हों, लेकिन आत्मा का कोई भी धर्म निमित्त के कारण से नहीं है; धर्म तो आत्मद्रव्य के ही आधार से है। सिद्धभगवान का प्रतिसमय परिणमन भी आत्मा का स्वयं का अनादि-अनन्त धर्म है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा अपने अनन्तधर्मों का स्वामी स्वयं ही है।

आत्मद्रव्य में अनन्तधर्म हैं और उन अनन्तधर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं, उन अनन्तनयों में व्यापनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा जानने में आता है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्रमाण है और उसका एक अंश नय है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु को जानता है और नय एक-एक धर्म को जानता है। यहाँ तो जो नय जिस धर्म को जानता है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह नय उस धर्म में व्याप्त हो जाता है – ऐसा कहकर आचार्यदेव नय और नय के विषय में अभेद बताते हैं। जिस धर्म के सन्मुख होकर जो नय जानता है, उस धर्म के साथ वह नय अभेद हो जाता है अर्थात् नय और नय का विषय एक हो जाते हैं।

प्रवचनसार के तीन अधिकारों में वस्तुस्वरूप का विस्तृत वर्णन करने के बाद अब इस अन्तिम परिशिष्ट में आचार्यदेव ने बहुत स्पष्ट बात लिखी हैं। शास्त्र में भले ही निमित्त की अपेक्षा से ऐसा कथन किया हो कि कर्म के कारण विकार होता है, धर्मास्तिकाय के कारण जीव-पुद्गल गति करते हैं, काल के कारण वस्तु परिणमती है – इस प्रकार निमित्त से चाहे जितना कथन किया हो, परंतु वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि उस-उसप्रकार का धर्म वस्तु का स्वयं का है, निमित्त के कारण वह धर्म नहीं है। किसी वस्तु का कोई भी धर्म किसी अन्य वस्तु के कारण से नहीं होता है, प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने अनन्तधर्म स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने अनन्तधर्मों का स्वामी है।

अहो ! आचार्यदेव ने थोड़े से कथन में बहुत रहस्य भर दिया है। आचार्यदेव कहते हैं कि यहाँ थोड़े ही धर्मों का वर्णन किया है, लेकिन इसे थोडा लिखा बहुत समझना। 'थोडा लिखा बहुत जानना' – इसप्रकार कब कहा जाता है ? कुछ भी नहीं लिखा हो तब तो ऐसा नही कहते हैं, लेकिन मुद्दे की बात लिखकर ही ऐसा कहा जाता है। उसीप्रकार आत्मा में अनन्तधर्म हैं, उसमें से कुछ मूलभूत धर्मों का वर्णन यहाँ आचार्यदेव ने किया है। उन्हें प्रयोजनभूत धर्म जानकर 'इसीप्रकार के अन्य अनन्तधर्म सर्वज्ञदेव ने जाने हैं, वैसे ही हैं' – ऐसी प्रतीति करें तो ठीक है, अन्यथा आत्मा क्या है और उसके धर्म क्या हैं – यह कुछ भी नहीं जानें, प्रयोजनभूत वस्तु का निर्णय नहीं करें और भगवान ने कहा वह सत्य है – ऐसा रूढ़ी से मान लें, तो उससे स्वयं का कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु में अनन्तधर्म किसी कल्पना से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं कहते हैं, परन्तु वस्तु में वे अनन्तधर्म वास्तविक ही हैं। वस्तु में जो वाच्यरूपधर्म हैं, उनका ही यह कथन है और वे ही ज्ञान से जाने जाते हैं (जानने में आते हैं) यदि वस्तु में ऐसे वाच्यधर्म न हों तो उनका कथन भी नहीं होता और उनको जाननेवाला ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए वस्तु में अनन्तधर्म हैं, उनको जाननेवाला ज्ञान भी है और उनका कथन भी है – ये तीनों सत्य हैं – वास्तविक हैं।

वस्तु जैसी है, वैसी परिपूर्ण जिस ज्ञान में ज्ञात हो; उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण अर्थात् वस्तु को नापनेवाला ज्ञान। 'प्र' अर्थात् विशेषरूप से और 'माण' अर्थात् नाप। जिसप्रकार तराजू अनाज आदि को तोलनेवाला है, वहाँ भी उस तोल को जाननेवाला तो ज्ञान ही है; उसीप्रकार आत्मा के अनन्तधर्मों को जाननेवाला – आत्मा को नापनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है। अनन्तधर्मों का कथन करने में वाणी निमित्त है, लेकिन उस वाणी को आत्मा के धर्मों की खबर नहीं है। वाणी और धर्म – इन दोनों को जाननेवाला तो ज्ञान है और वही प्रमाण है।

देखो भाई ! यह अनन्तधर्मों वाले अपनी आत्मा की बात है, यह बात समझने जैसी है। रुपयों का ढेर पड़ा हो तो उसे गिनने में कैसा उत्साह आता है ? यहाँ तो तेरी आत्मा में एक समय में अनंतधर्मों का ढेर पडा है, अन्तमुर्ख होकर उसे नापने का तुझे उत्साह नहीं आता है ? यदि उनको नाप करना हो तो तुम्हारे श्रुतज्ञान प्रमाण से ही होगा। किसी पर के निमित्त से अथवा राग से उसका नाप नहीं हो सकता, परन्तु ज्ञान को अन्तर्मुख करे तो उस ज्ञान से ही आत्मा का नाप होता है।

अनन्तधर्मों की पूंजी प्रत्येक आत्मा में सदैव पडी है, परन्तु अन्तर्मुख होकर उसे जानने की अज्ञानी ने कभी चिन्ता ही नहीं की है। जैसे घर की पूंजी किसी पेटी में रखना हो तो किसी नौकर से नहीं रखवाते हैं, घर के आदमी से ही रखवाते हैं; उसीप्रकार आत्मस्वभावरूपी घर की यह अनन्तधर्मों की पूँजी है, उसका माप किसी बाह्य साधन से नहीं होता है, परन्तु स्वयं ही अपने श्रुतज्ञानप्रमाण को अन्तर में लगावें, तभी उसका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नाप और स्वानुभव होता है। अपने अनन्तधर्मों को जाननेवाला ज्ञान अपने पास ही है, उस ज्ञान को अन्तरस्वभाव में लगायें तभी आत्मा जाना जाता है। इसमें किसी दूसरे का ज्ञान अपने काम नहीं आता है।

'गुरु का ज्ञान तो हमारी आत्मा को जानता है न ?' – ऐसा कोई कहे तो उसका समाधान करते हैं कि गुरु का ज्ञान दूसरे की आत्मा को जानता तो है, लेकिन गुरु का ज्ञान तो गुरु के पास ही रहा, उससे दूसरे को क्या लाभ हुआ ? गुरु का ज्ञान तो अपनी आत्मा को ही स्वद्रव्यरूप से जानता है, उसके ज्ञान में अन्य आत्मा तो परद्रव्यरूप से जानने में आता है। वह अपनी आत्मा को अपने अनन्तधर्मों के स्वामी के रूप में जानता है, पर की आत्मा के धर्मों के स्वामी के रूप में नहीं जानता है। इसलिए यह आत्मा भी स्वयं अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करे तो यह ज्ञान भी स्वयं को अपने अनन्तधर्मों के स्वामी के रूप में जानता है अर्थात् स्वयं अपनी आत्मा को स्वद्रव्यरूप से जानता है और वही ज्ञान अपने परमानन्द का कारण होता है। इसके सिवाय अन्य किसी का ज्ञान अपनी आत्मा को स्वद्रव्यरूप जानने के लिए काम नहीं आता है। प्रमेय भी स्वयं ही है और प्रमाण ज्ञान भी स्वयं का ही है।

धर्म अनन्त हैं, परन्तु वस्तु एक ही है।

नय अनन्त हैं, परन्तु प्रमाण एक ही है।

अनन्तनय एक श्रुतज्ञान प्रमाण में समा जाते हैं, भिन्न नहीं रहते हैं; अनन्तधर्म भी एक वस्तु में समा जाते हैं, भिन्न-भिन्न नहीं रहते हैं। प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से ही आत्मद्रव्य स्वयं का प्रमेय होता है। अनन्तनय और अनन्तधर्म हैं – ऐसा कहा है, लेकिन अनुभव में उन धर्मों का या नयों का भेद नहीं रहता, अभेद हो जाता है; एक अभेद श्रुतज्ञान प्रमाण स्वानुभव से सम्पूर्ण वस्तु जानने में आती है। श्रुतज्ञान में अनन्तनयरूप से भेद हैं, परन्तु प्रमाणरूप से अभेद हैं; उसीप्रकार वस्तु में अनन्तधर्मरूप से भेद हैं, परन्तु वस्तुरूप से एक अभेद है। जैसे वस्तु में अभेद और भेद दो प्रकार होते हैं, उसीतरह उन्हें जाननेवाले ज्ञान में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी अभेद और भेद (प्रमाण और नय) – ऐसे दो प्रकार छद्मस्थ के ज्ञान में होते हैं।

आत्मा कैसा है ? – यह शिष्य ने पूछा था, उसी का यह वर्णन चल रहा है। जिसे अन्दर से चोट करता हुआ आत्मा का प्रश्न उठा हो – ऐसा शिष्य आत्मा समझकर मुक्ति प्राप्त किए बिना नहीं रहता। जिसे आत्मा को समझने की तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई हो, वह जीव अनन्तधर्मवाले आत्मा को समझेगा और उन अनन्तधर्मों में जितने अव्यक्त – शक्तिरूप धर्म हैं, वे सब उसमें पूर्ण व्यक्त हो जायेंगे। जिसने अनन्तधर्मवाले आत्मा की रुचि - प्रतीति की, उसके केवलज्ञानादि सभी धर्म पूर्ण विकसित हुए बिना नहीं रहते। केवलज्ञान पूर्णप्रत्यक्ष प्रमाण है, श्रुतज्ञान पूर्णप्रत्यक्ष नहीं है; फिर भी केवलज्ञान में जैसा आत्मा जाना गया है, वैसा ही आत्मा श्रुतज्ञानप्रमाण से परोक्षरूप जाना जाता है। श्रुतज्ञान परोक्ष होते हुए भी संदेहात्मक नहीं है, नि:सन्देह है। श्रुतज्ञानरूप परोक्षप्रमाण को अन्तर्मुख करके जिसने अनन्तधर्मोंवाले आत्मा को स्वीकार किया एवं उसी में एकाग्रता की उसे केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण अवश्य प्रगट होगा और अनन्तधर्मवाली वस्तु भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जायेगी अर्थात् स्वज्ञेय और ज्ञान दोनों ही पूर्ण होंगे।

केवलज्ञान पूर्णप्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। श्रुतज्ञान परोक्ष होते हुए भी स्वसंवेदन में अंशत: प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान का अन्तर्मुख रागरहित चैतन्यस्वसंवेदन का जो अंश है, वह तो प्रत्यक्ष ही है। श्रुतज्ञान आत्मा के अनन्तधर्मों को परोक्ष जानता है, तथापि वह प्रमाण है – नि:सन्देह है। उस परोक्ष प्रमाण से जिसने अपनी आत्मा का अनुभव किया, उसे पूर्णप्रत्यक्ष रूप केवलज्ञानप्रमाण प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा।

यहाँ श्रुतज्ञान में अनन्तनय और वस्तु में अनन्तधर्म स्थापित किये हैं। इसके निर्णय बिना प्रमेयपदार्थों का यथार्थज्ञान नहीं होता है, श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता है तथा आत्मा की प्राप्ति भी नहीं होती है। जिस वस्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को प्राप्त करना है, उसे पहले अच्छी तरह पहिचानना तो चाहिए न ! भगवान आत्मा की प्राप्ति करके परमात्मा होने के लिए पहले आत्मा का यथार्थज्ञान करना चाहिए । आत्मा का ज्ञान किसप्रकार होता है – उसका यह वर्णन चल रहा है । जो श्रुतज्ञान अनन्तनयवाला है – ऐसे श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव द्वारा आत्मा जानने में आता है ।

श्रुतज्ञान अनन्तनयोंवाला कब होता है ? जब वह अनन्तधर्मवाले आत्मा को जानता है तब ! कोई ऐसा न जानकर आत्मा को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा शुद्ध अथवा सर्वथा अशुद्ध इत्यादिरूप एक ही धर्मवाला मानलें तो वह आत्मा पूर्ण (अनन्तधर्मात्मक) नहीं होगा और उसका श्रुतज्ञान भी अनन्तनयोंवाला नहीं होगा अर्थात् प्रमाणज्ञान न होकर मिथ्याज्ञान ही रहेगा । इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि अनन्तनयवाले श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभवद्वारा आत्मा जाना जाता है । ऐसे श्रुतज्ञान को अथवा आत्मा के अनन्तधर्मों को जो स्वीकार न करें, उसे कभी भी आत्मा का अनुभव सच्चा नहीं होता है ।

इस जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक आत्मा में अनन्तधर्म हैं, उन प्रत्येक धर्मों को जाननेवाला एक-एक नय है, ऐसे अनन्तनयोंवाला एक श्रुतज्ञान प्रमाण है और उन धर्मों का कथन करनेवाली वाणी भी है – इसप्रकार पदार्थ के धर्म, उनको जाननेवाला ज्ञान और उन्हें कहनेवाली वाणी – इन सबको जो न स्वीकार करें, तो उसे श्रुतज्ञान प्रमाण होकर आत्मा का अनुभव नहीं होगा । सम्पूर्ण आत्मा के स्वानुभव बिना उसके एक-एक अंश का – एक-एक धर्म का भी सच्चा ज्ञान नहीं होगा और सम्यक्नय भी नहीं होंगे; अर्थात् उसका ज्ञान भी झूठा, वाणी भी झूठी और उसके द्वारा माने हुए धर्म भी झूठे हैं ।

यहाँ साधकजीव की बात है । साधकजीव अनन्तधर्मवाले आत्मा का श्रुतज्ञानप्रमाण से अनुभव करता है और उसे ही सम्यक्नय होते हैं । वह नय-प्रमाण से आत्मा को कैसे जानता है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं । ये नय साधकजीव के होते हैं, अज्ञानी को और केवलज्ञानी को नय नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते हैं। केवली भगवान को केवलज्ञान में आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष जानने में आ गया है और पूर्णता हो गयी है, इसलिए उन्हें अब नयों से कुछ भी साध्य नहीं रहा और अज्ञानी को तो वस्तु का भान ही नहीं है, इसलिए उसे भी नय नहीं होते हैं। नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश हैं, वे साधकजीव को ही होते हैं।

आत्मा के ज्ञान की पांच प्रकार की अवस्थाऐं हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से मुख्यरूप से श्रुतज्ञान ही आत्मा को साधक हो सकता है; क्यों कि केवलज्ञान तो छद्मस्थजीव को होता नहीं है, अवधि और मन:पर्ययज्ञान का विषय परपदार्थ है, इसलिए वे भी साधक नहीं होते हैं; मतिज्ञान सामान्यरूप से जानता है, इसलिए उसमें नय नहीं होते हैं। एक श्रुतज्ञान प्रमाण ही अनन्तधर्मवाले आत्मा को जानता है और उस प्रमाण से ही आत्मा का स्वानुभव होता है। उस श्रुतज्ञान में नय होते हैं।

अनन्तधर्मवाला आत्मा प्रमेय है और अनन्तनयवाला श्रुतज्ञान प्रमाण है। उनमें से ४७ नयों के द्वारा आत्मा के ४७ धर्मों का वर्णन करेंगे। वस्तु में अनन्तधर्म हैं, उन सबका वाणी से भिन्न-भिन्न वर्णन नहीं हो सकता है, वाणी में तो कुछ ही धर्मों का वर्णन आ सकता है। यहाँ ४७ नयों द्वारा ४७ धर्म कहकर आत्मा का वर्णन किया है, लेकिन उसमें अन्य अनन्तधर्म भी साथ में आ ही जाते हैं। नयों के समूह द्वारा आत्मा कैसे जाना जाता है – उसका यह वर्णन है। सम्पूर्ण नयों का समूह वह प्रमाण और सम्पूर्ण धर्मों का समूह वह प्रमेय – इसप्रकार प्रमाणपूर्वक प्रमेय की ओर ढलते ही स्वानुभव से आत्मा जानने में आता है।

हे प्रभो ! यह आत्मा कैसा है ? – ऐसा शिष्य ने पूछा था, उसके उत्तर में आचार्यदेव ने पहले तो संक्षेप में कहा कि आत्मा अनन्तधर्मों वाला एक द्रव्य है और वह अनन्तनयोंवाले श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभव द्वारा जाना जाता है।

अब आचार्यदेव ४७ नयों से आत्मा का वर्णन करते हैं। यहाँ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक-एक नय से एक-एक धर्म का वर्णन है, परन्तु उसमें संपूर्ण प्रमाण और संपूर्ण प्रमेय साथ में ही आ जाता है।

आत्मा के किसी भी धर्म को स्वीकार करनेवाला आत्मद्रव्य को लक्ष्य करके ही उस धर्म को स्वीकार करता है, न कि किसी पर को लक्ष्य करके; क्योंकि आत्मा के अनन्तधर्मों में से कोई भी धर्म पर के आधार से नहीं है, अपितु अनन्तधर्मों के पिंडरूप आत्मद्रव्य के ही आधार से प्रत्येक धर्म रहता है। इसलिए सम्पूर्ण धर्मी दृष्टि में आये बिना उसके एक-एक धर्म की स्वीकृति यथार्थ नहीं हो सकती है। नय से एक-एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाला गौणरूप से अनन्तधर्मवाली सम्पूर्ण वस्तु को भी स्वीकारता है; क्यों कि धर्म तो वस्तु का ही है, कोई एक धर्म वस्तु से अलग होकर नय का विषय तो बनता नहीं है, इसलिए किसी भी नय से एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाले की दृष्टि भी अकेले धर्म पर नहीं होती है। धर्म तो धर्मी अर्थात् अखण्ड वस्तु के आधार से रहता है, इसलिए उसपर ही दृष्टि रखकर एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान होता है। सभी नयों के वर्णन में यह खास बात ध्यान में रखनी चाहिए।

* * *

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहाव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठि कहं हुँति॥

गाथार्थ – जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को नहीं जाननेवाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

– श्री माइल्ल धवल, द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गाथा-१८१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१

द्रव्यनय

तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् ।

वह अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से पटमात्र की भांति चिन्मात्र है ।

प्रमाण का विषय अनन्तधर्मात्मक पूर्ण आत्मद्रव्य है, परन्तु नय से देखने पर वही आत्मद्रव्य एकधर्मात्मक दिखाई देता है । नय अर्थात् ज्ञान का अंश । वस्तु के सामान्य अंश को जाननेवाला ज्ञान द्रव्यनय है, ताने-बाने का भेद नहीं करके पट को देखने की तरह अनन्त गुण-पर्यायों का भेद नहीं करके आत्मद्रव्य को 'चिन्मात्र द्रव्य है' – ऐसा सामान्यपने लक्ष में लेना द्रव्यनय है । आत्मा में तो एक साथ अनन्त धर्म हैं, परन्तु उसमें से 'आत्मा चैतन्यमात्र है' – इसप्रकार एक धर्म की मुख्यता से आत्मा को लक्ष में लेना द्रव्यनय है । इस नय से देखने पर आत्मा चैतन्यमात्र है ।

यहाँ प्रत्येक नय को दृष्टान्त देकर समझाया गया है । द्रव्यनय को समझाने के लिए यहाँ पर वस्त्र का दृष्टान्त दिया है । जिसप्रकार वस्त्र में ताने-बाने, लम्बाई-चौड़ाई अथवा रंग आदि के भेद को लक्ष में न लेने पर और एकरूप सामान्य वस्त्रपने से देखने पर 'यह वस्त्र है' – ऐसा ज्ञान होता है; उसीप्रकार साधक-बाधक इत्यादि पर्याय और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि गुणभेद को गौण करने पर एकरूप सामान्य चैतन्यस्वरूपी आत्मा ज्ञात होता है । इसप्रकार आत्मा के धर्मों को जानकर श्रुतज्ञान-प्रमाणपूर्वक स्वानुभव करे तो ही जैसा है, वैसा अनन्तधर्मात्मक आत्मा प्रमेय होता है ।

"इतने सारे नयों से आत्मा को जानने से क्या लाभ है ? केवल 'आत्मा है' – ऐसा जान लें तो नहीं चलेगा क्या ?"– ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर देते हैं कि हे भाई ! 'आत्मा है' – इसप्रकार उथलेपन से तो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सभी कहते हैं; परन्तु जबतक उसके धर्मों को यथावत् रीति से नहीं जाने, तबतक आत्मा का जानना नहीं कहा जाता है। बहुत से लोग 'आत्मा है' – ऐसा तो कहते हैं, परन्तु उसमें अनन्त धर्म हैं – ऐसा नहीं मानते हैं, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध मानते हैं; इसलिए यहाँ अनेक नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके वस्तुस्वरूप को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया है।

इन नयों में विकल्प अथवा राग की मुख्यता नहीं है, अपितु वस्तुस्वरूप के ज्ञान की मुख्यता है। तत्त्वान्वेषण के लिए – वस्तुस्वरूप के निर्णय के लिए ये नय कार्यकारी हैं। इन नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है।

आत्मा अपने अनन्तधर्मों से और पर के अभाव से टिका हुआ द्रव्य है। यदि आत्मा अनन्तधर्मोंवाला न हो तो वह कायम रहकर भी पलटता कैसे रहे, पर से भिन्न स्व-पने कैसे रह सके ? यदि आत्मा में नित्य धर्म ही हो और अनित्य धर्म नहीं हो तो वह पलट ही नहीं सके; यदि अनित्य धर्म ही हो और नित्य धर्म नहीं हो तो वह कायमरूप से टिक नहीं सके, पलटते ही उसका नाश हो जावे। इसीप्रकार यदि आत्मा में अस्तित्व धर्म ही हो और नास्तित्व धर्म नहीं हो तो वह पररूप भी हो जावे; इसलिए यदि आत्मा में एक साथ नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति, द्रव्य-पर्याय इत्यादि अनन्तधर्म न हों तो वह आत्मवस्तु सिद्ध ही न हो अर्थात् अनन्तधर्मों के बिना आत्मा रह ही नहीं सकता है। यदि उसे जाननेवाला ज्ञान भी अनन्त नयोंवाला न हो तो वह ज्ञान अनन्तधर्मों को जान नहीं सके। अनन्तधर्मात्मक एक आत्मा को अनन्तनयात्मक एक ज्ञान से जाने तो ही आत्मा ज्ञात होता है।

अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान प्रमाण है और वस्तु के एक-एक धर्म का ज्ञान एक-एक नय है। श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मस्वभाव को यथार्थ जानकर उसी में उपयोग को जोड़ना योग (ध्यान) है। आत्मा के यथार्थ ज्ञान बिना उसमें उपयोग नहीं लगता अर्थात् एकाग्र नहीं हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकता और एकाग्रता के बिना ध्यान नहीं होता; क्योंकि जाने बिना ध्यान किसका हो ? पहले प्रमाण द्वारा ऐसे आत्मा को प्रमेय बनावे तो ही उसमें एकाग्रतारूप ध्यान हो सकता है; अतः सर्वप्रथम समस्त पहलुओं से आत्मा का निर्णय करना चाहिये ।

अनादिकाल से जीव ने सब-कुछ किया, परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना । यदि एकबार भी आत्मा की यथार्थ जानकारी करे तो परम-आनन्द की प्राप्ति हुये बिना नहीं रहे । अतः शिष्य को 'आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे हो'– ऐसी जिज्ञासा पैदा हुई है और यह उसी का उत्तर चलता है ।

अभी तो 'आत्मा कौन' है – इसका उत्तर दे रहे है; उसकी प्राप्ति का उपाय बाद में कहेंगे; क्योंकि यथार्थ जानकारी बिना प्राप्ति नहीं होती है।

अनन्तधर्मोंवाला सामान्य-विशेषात्मक आत्मद्रव्य प्रमाण का विषय है और उसे यहाँ सामान्य चिन्मात्र कहा, सो विशेष को गौण करके सामान्यस्वरूपी द्रव्यनय का विषय बताया है । पहले अनन्तधर्मात्मक प्रमाण के विषयभूत आत्मा की बात की और अब नय के विषयभूत आत्मा की बात करते हैं । प्रमाण के विषयभूत सम्पूर्ण आत्मद्रव्य के एक धर्म को ही नय जानता है । गुण-पर्याय के भेद को गौण करके सामान्य चिन्मात्रपने से आत्मा को लक्ष में लेनेवाला द्रव्यनय है । यह (सामान्य) आत्मा के अनन्तधर्मों में से एक धर्म है । यदि उसके साथ होनेवाले और भी अनन्तधर्मों को न माने तो वह ज्ञान प्रमाण नहीं होता है । कोई ऐसा कहे कि 'आत्मा तो चैतन्यमात्र ही है और विकार पर के कारण से होता है' तो ऐसा माननेवाले ने आत्मा के अनन्तधर्मों को नहीं माना । जिसतरह चैतन्यमात्रपना आत्मा का एक धर्म है, उसीतरह अवस्था में जो विकार होता है, वह भी आत्मा की पर्याय का धर्म है; अगर इसे न माने तो प्रमाणज्ञान नहीं हो ।

'आत्मा मात्र चैतन्यस्वभावी है'– ऐसा जो मानता है, वह अपना ज्ञान बाहर से आता है' - ऐसा नहीं मानता है; क्योंकि चैतन्यधर्म अपना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वयं का है और उसी में से विशेषज्ञान आता है। विशेषज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, शास्त्र से अथवा वाणी-श्रवण से ज्ञान नहीं आता, अपितु आत्मा के अपने आश्रित चैतन्यमात्र धर्म में से ही ज्ञान आता है। वह धर्म स्वयं तीनों काल विशेषपने परिणमता है। अज्ञानी का भी सामान्य चैतन्य स्वभाव ही विशेषपने परिणमता है, परन्तु उसे सामान्य की प्रतीति नहीं है। अतः वह उस सामान्य के साथ एकत्व नहीं करता है और पर के साथ एकत्व मानता है अर्थात् उसका विशेष अयथार्थ होता है।

द्रव्यनय से आत्मा को चिन्मात्र कहा है और यह धर्म परपदार्थ का नहीं, अपितु अपना ही है; अतः इसे आत्मवस्तु में ही देखना चाहिए, परपदार्थ में नहीं।

प्रश्न–आत्मा तो सूक्ष्म वस्तु है। क्या उसे देखने के लिए सूक्ष्मदर्शी यन्त्र नहीं है ?

उत्तर–अवश्य है; यह उसी को देखने की बात चल रही है। श्रुतज्ञान का अन्तर्मुखी ढलान ही आत्मा को देखने का सूक्ष्मदर्शी यन्त्र है। आत्मा स्वयं सूक्ष्म अरूपी वस्तु है। द्रव्य अरूपी, गुण अरूपी और उनकी पर्यायें भी अरूपी हैं, अर्थात् ये तीनों सूक्ष्म हैं; अतः अन्तर्मुखी ढलानवाला ज्ञान ही सूक्ष्म होने से इन्हें जाननेवाला सूक्ष्मदर्शी यन्त्र है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियादिक बाह्यपदार्थ से अथवा विकल्प से आत्मा नहीं जाना जा सकता है।

हे भाई ! एकबार यथार्थपने सुनकर ऐसी वस्तु का ज्ञान कर ! तो तुझे कहीं भी सन्देह नहीं रहेगा। देवाधिदेव सर्वज्ञपरमात्मा ऐसा कहते हैं कि तेरा आत्मा ही तेरा चैतन्यदेव है, अनन्तधर्मों को धारण करनेवाला है; तू उसे पहिचानकर उसकी आराधना कर ले तो तेरी परमात्म दशा प्रगट हो जावेगी।

नय एक धर्म को मुख्य करके जानता है, परन्तु वस्तु में तो एकसाथ ही अनन्तधर्म हैं। जहाँ वर्ण हो, वहाँ उसके साथ ही गन्ध-रस-स्पर्श आदि भी होते ही हैं। वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श – ये सब पुद्गल के धर्म हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इनमें से एक धर्म हो और दूसरे न हों – ऐसा कभी नहीं बनता है। जहाँ एक धर्म हो, वहाँ दूसरे अन्य सभी धर्म भी साथ में ही रहते हैं। इसीप्रकार आत्मा में ज्ञानादिक अनन्तधर्म हैं। उनमें से किसी एक धर्म को जब मुख्य करके कहा जाये, तब भी वस्तु में दूसरे अनन्तधर्म भी मौजूद हैं और उसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है।

आत्मा में अनन्तधर्म हैं और आत्मा अनन्तधर्मोंवाला एक स्वतन्त्र द्रव्य है, उसे जाननेवाला ज्ञान अनन्त नयों के समूहरूप है। ऐसे श्रुतज्ञान-प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। केवली भगवान को आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष है; अत: यह वर्णन उनकी अपेक्षा से नहीं, अपितु साधकजीव की अपेक्षा से है। इसीलिए यहाँ श्रुतज्ञान और नयों से वर्णन किया है। साधकजीव अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञान-प्रमाण से जानता है। एक-एक नय आत्मा के एक-एक धर्म को जानता है।

यहाँ 'द्रव्यनय से आत्मा कैसा है' – यह बात चल रही है। जो नय द्रव्यधर्म से आत्मा को लक्ष में लेता है, अर्थात् सदृश एकरूप चिन्मात्रस्वभाव से आत्मा को लक्ष में लेता है, उसका नाम द्रव्यनय है।

आत्मा के अनन्तधर्मों में एक धर्म ऐसा है कि आत्मा एकरूप सदृश है, इस धर्म को द्रव्यनय जानता है। जो धर्म वस्तु में होता है, उसी का ज्ञान होता है। जो धर्म वस्तु में होवे ही नहीं तो उसका ज्ञान कहाँ से हो सके? आत्मा में कैसे-कैसे धर्म हैं, उनका यहाँ वर्णन करते हैं।

चिन्मात्रपने एकरूप सदृश टिकना – ऐसा आत्मा का स्वयं का स्वभाव है अर्थात् आत्मा किसी पर के आधार से टिका हुआ नहीं है। कोई ईश्वर भी इसको टिकाये रखनेवाला नहीं है, परन्तु स्वयं अपने चिन्मात्रस्वभाव से टिका हुआ है – ऐसा उसका एक धर्म है।

एक-एक धर्म में पूरा आत्मा समाहित नहीं होता, अपितु अनन्तधर्मों का एकरूप पिण्ड आत्मा है। इसीप्रकार एक-एक नय में सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं आ जाता, परन्तु सारे नयों के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का प्रमाण ज्ञान होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिस धर्म को जो नय जानता है, उस धर्म का उस नय में आरोप होता है। जैसे – जो नय द्रव्यधर्म को जाने, उस नय को द्रव्यनय कहा जाता है, जो नय पर्यायधर्म को जाने, उस नय को पर्यायनय कहा जाता है, जो नय अस्तित्वधर्म को जाने, उस नय को अस्तित्वनय कहा जाता है।

नय वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके जानता है और प्रमाण सारे धर्मों को एकसाथ जानता है। ४७ नयों से आत्मा का वर्णन करके अन्त में (कलश १९ में) आचार्यदेव ऐसा कहेंगे कि "इसप्रकार साधक जीव स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी अनन्तधर्मोंवाले अपने आत्मा को अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र ही देखते हैं अर्थात् चाहे जिस नय से वर्णन किया हो; परन्तु अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना ही सारे नयों का प्रयोजन है। कोई भी एक सम्यक् नय से देखनेवाला अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को देखता है।

देखो ! 'जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मायें हैं और प्रत्येक आत्मा में अनन्तधर्म हैं' – ऐसा वस्तुस्वरूप जो कहते हों, वे ही देव–गुरु–शास्त्र सच्चे हैं। 'जगत में भिन्न–भिन्न अनन्त आत्मायें हैं और प्रत्येक आत्मा में अनन्तधर्म हैं'– जो इसे नहीं स्वीकारे; वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं। तथा जो ऐसे कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र को मानता है, उसकी तो अभी व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह तो धर्म से बहुत दूर है।

वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जाने बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता और ज्ञान के स्थिर हुये बिना विकल्प नहीं टूटता अर्थात् चित्त का निरोध नहीं होता। वस्तुस्वरूप को जैसा है, वैसा जानकर जब ज्ञान उसमें एकाग्र होता है तो राग और विकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती– इसका ही नाम चित्त का निरोध है। इसके अलावा 'मैं चित्त को रोकूँ, मैं विकल्प को रोकूँ'– इसप्रकार नास्ति के लक्ष से विकल्प टूटता नहीं है, परन्तु विकल्प

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्पन्न होता है। 'मैं चैतन्यमात्र स्वभाव हूँ' – ऐसा अस्तिभाव की ओर ज्ञान का जोर लगाने पर चित्त का निरोध सहज ही हो जाता है। अतः पहले वस्तु के स्वरूप को सभी पहलुओं से जैसा है, वैसा जानना चाहिए – उसका यह वर्णन चलता है।

यहाँ जो यह द्रव्यनय कहा है, इसका विषय तो एक ही धर्म है; किन्तु समयसारादि में जो द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दो मुख्य नय लिये हैं, उनमें द्रव्यार्थिकनय का विषय अभेद द्रव्य है। द्रव्यनय वस्तु में भेद करके उसके एक धर्म को लक्ष में लेता है, जबकि द्रव्यार्थिकनय भेद किए बिना वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेदद्रव्य को लक्ष्य में लेता है।

इसप्रकार दोनों नयों के विषय में बहुत अन्तर है। समयसार में कथित शुद्धनिश्चयनय का विषय इस द्रव्यनय का विषय नहीं है। उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश तथा भेद को गौण करके सम्पूर्ण अनन्तगुणों का पिण्ड है, जबकि यह द्रव्यनय तो अनन्तधर्मों में से भेद करके एक धर्म को विषय करता है।

अध्यात्मदृष्टि के नयों में तो निश्चय और व्यवहार (अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) – ऐसे दो ही भाग बनते हैं; किन्तु यहाँ तो अनन्तनय लेना है। वहाँ तो दो नयों में सम्पूर्ण प्रमाण समाहित हो जाता है और यहाँ श्रुतप्रमाण के अनन्तनय कहे हैं। यहाँ कहे गये नयों का विषय एक-एक धर्म है, जबकि समयसारादि में कथित द्रव्यार्थिकनय का विषय एक धर्म को लिए बिना एक अभेद वस्तु है।

यहाँ जिसे द्रव्यनय कहा है, वह अध्यात्मदृष्टि के कथन में तो पर्यायार्थिकनय अथवा व्यवहारनय में आता है।

इस परिशिष्ट में ज्ञानप्रधान वर्णन है अर्थात् यहाँ बंध–मोक्ष पर्याय को भी निश्चय में गिनेंगे, जबकि समयसारादि में कथित निश्चयनय के विषय में तो आत्मा को बंध–मोक्ष है ही नहीं। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जैसा कहा है, वैसा यथार्थ समझना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२

पर्यायनय

पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद् दर्शन-ज्ञानादिमात्रम् ।

आत्मद्रव्य पर्यायनय से तंतुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादि मात्र है अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र है, जैसे वस्त्र तंतुमात्र है ।

पर्यायनय श्रुतज्ञान का एक प्रकार है । उस पर्यायनय से देखने पर आत्मद्रव्य दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र ज्ञात होता है । द्रव्यनय से अभेद एकरूप चैतन्यस्वभावमात्र ज्ञात होता है और पर्यायनय से वही आत्मा दर्शन- ज्ञान-चारित्र आदि गुण-पर्याय के भेदवाला भी ज्ञात होता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है । जो द्रव्यनय से एक अभेदरूप चैतन्यभाव मात्र ज्ञात होता है, वही पर्यायनय से ज्ञानादि अनन्त गुण-पर्याय के भेदरूप भासित होता है इसप्रकार वस्तु एक होने पर भी उसके पहलू अनेक हैं ।

वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही सारे पहलुओं से जानकर निश्चित करे । वस्तु के स्वरूप को जाने बिना किसमें एकाग्र होकर ध्यान करेगा ? जिसप्रकार किसी ने हाथ में तो बाण लिया; परन्तु वह बाण जिसमें मारना है, उस लक्ष को निश्चित नहीं किया तो बाण लेना किस काम का ? प्रथम तो जिस पर बाण छोड़ना है, उस लक्ष को यथार्थपने निश्चित करे, पश्चात् ही बाण छोड़े। उसीप्रकार आत्मा का ध्यान करने के लिए पहले आत्मा का यथार्थज्ञान करना चाहिए; क्योंकि आत्मा जैसा है, वैसा लक्ष में लिए बिना ध्यान किसका करेगा?

बहुत से लोग कहते हैं कि हमें ध्यान करना है; परन्तु भाई ! किसका ध्यान करना है, ध्यान में लेने योग्य आत्मा का स्वभाव क्या है ? उसे जाने बिना उसका ध्यान किसप्रकार करेगा ? वस्तु को यथार्थ जानने के बाद उस वस्तु में ज्ञान की एकाग्रता होने का नाम ध्यान है । जिसे वस्तु

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का सच्चा ज्ञान ही नहीं है, उसे ज्ञान की एकाग्रतारूप ध्यान नहीं होता है।

जिसप्रकार वस्त्र सामान्यपने एक होने पर भी लम्बा–चौड़ा, रंगीन, ताना–बानावाला इत्यादि भेदरूप भी ख्याल में आता है; उसीप्रकार चैतन्यबिम्ब भगवान आत्मा द्रव्यनय से एक होने पर भी पर्यायनय से दर्शन- ज्ञानादिरूप है। द्रव्यनय से देखने पर भेद गौण हो जाता है और एकरूप चिन्मात्र भासित होता है; तथा पर्यायनय से देखने पर दर्शन–ज्ञान– चारित्रादि गुण-पर्यायों के भेदरूप भी भासित होता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद काल्पनिक नहीं है, अपितु सत् है। वस्तु में कथंचित् गुण-भेद भी है, वस्तु सर्वथा अभेद नहीं, अपितु भेदाभेद है। भेदाभेद वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

तीनों काल पर्यायरूप होने का आत्मा का स्वभाव है। गुणभेद को भी पर्याय कहा जाता है और विशेष अवस्था को भी पर्याय कहा जाता है। यद्यपि द्रव्यनय से वस्तु नित्य, एकरूप है; तो भी पर्यायनय से उसमें तीनों काल नई-नई अवस्थाएँ हुआ करती हैं– ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा की कोई भी पर्याय पर के कारण नहीं होती, अपितु तीनों काल अपने पर्यायस्वभाव से ही उसकी पर्यायें हुआ करती हैं। आत्मा में पर्याय धर्म कब नही है ? सदा ही है। यदि आत्मा के पर्यायधर्म को जाने तो पर के आश्रय से ही अपनी पर्याय होने की मान्यता छूट जावे और द्रव्य के आश्रय से ही पर्याय का होना मानने लगे। उस जीव को पर से लाभ–हानि होती है– ऐसी मिथ्याबुद्धि रहे ही नहीं। यदि पर से पर्याय में लाभ–हानि माने तो उसने पर्यायधर्म को नहीं जाना है।

आत्मा द्रव्यनय से निगोद से लेकर सिद्ध तक सदा ही एकरूप है, पर्याय का कोई भेद उसमें नहीं है, परन्तु पर्यायनय से वह आत्मा भेदरूप है; आत्मा ही संसार-मोक्षपर्यायरूप में स्वयं परिणमता है। पर्यायधर्म अपना स्वयं का है, किसी अन्य वस्तु के कारण उसका पर्यायधर्म नहीं है। यदि अन्य पदार्थ आत्मा की पर्याय को करे तो आत्मा के पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय होवे तो आत्मा का पर्यायधर्म नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहा । अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें अपने से ही होती हैं – इसप्रकार यदि अपने पर्यायधर्म को नहीं जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता है । स्वभाव-सन्मुख होनेवाला ज्ञान प्रमाणपूर्वक ही स्वभाव-सन्मुख होता है । वस्तुस्थिति जानकर प्रमाणरूप हुए बिना ज्ञान वस्तुस्वभाव में ढलता ही नहीं है अर्थात् उसे आत्मानुभव होता ही नहीं है ।

यदि द्रव्यनय से भी आत्मा को संसार होवे तो वह संसार नित्य रहा ही करे और यदि पर्यायनय से भी आत्मा को संसार नहीं होवे तो आत्मा मुक्त ही होना चाहिए; इसलिए दोनों नयों से वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिए । द्रव्यनय से यदि आत्मद्रव्य में संसार हो तो वह टले कैसे ? और यदि पर्याय में संसार हो तो वह पर्याय के अवलम्बन से कैसे टलेगा ? द्रव्यनय से तो आत्मा को संसार-मोक्ष है ही नहीं, आत्मा संसारपर्याय में हो अथवा मोक्षपर्याय में – सदा ही चिन्मात्र है; संसार व मोक्ष पर्याय में है और उन्हें पर्यायनय जानता है, परन्तु पर्याय के आश्रय से संसार का अभाव नहीं होता, द्रव्य का आश्रय करने पर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है अर्थात् पर्यायनयवाला भी पर्यायबुद्धि रखकर पर्याय को नहीं जानता; बल्कि द्रव्य-दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञान करता है । द्रव्य की दृष्टि के बिना मात्र पर्याय को जाने तो उसे पर्यायबुद्धि (मिथ्यात्व) हो जाती है । सम्पूर्ण द्रव्य के ज्ञानपूर्वक उस द्रव्य के पर्यायधर्म को पर्यायनय जानता है । उस पर्यायनय से आत्मद्रव्य गुण–पर्याय के भेदवाला ज्ञात होता है ।

जो वस्तु द्रव्यदृष्टि से सामान्य एकरूप रहती है, वही वस्तु पर्यायदृष्टि से प्रतिसमय अन्य-अन्य होती है । यदि वस्तु पर्यायदृष्टि से भी एकरूप रहा करे; तो प्रतिसमय जो विशेष कार्य होता है, वह नहीं बन सके अथवा विशेष के बदलने पर सामान्य अलग रह जावे अर्थात् सामान्य और विशेष सर्वथा भिन्न हो जावे; परन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि सामान्य कभी भी विशेष रहित नहीं होता । वस्तु अनंत धर्मात्मक है, यदि सामान्य-विशेष दोनों को एकसाथ नहीं माना जावे तो वस्तु ही सिद्ध न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो।

नय से विचार करनेवाला भी 'सम्पूर्ण धर्मों का समुदाय आत्मा है' – ऐसा लक्ष में रखकर ही एक-एक धर्म का भेद करके विचार करता है। तत्त्वविचार के समय ऐसे धर्मों से वस्तु का निर्णय करना चाहिए। तत्त्व का निर्णय करके अभेद चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। जब अभेद स्वभाव का अनुभव होता है, तब भेद का विचार नहीं रहता है।

नय द्वारा एक धर्म को देखने पर भी दृष्टि में तो पूरी वस्तु आ जाती है और तभी एक धर्म के ज्ञान को नय कहा जाता है। नय कहने में ही वस्तु का एक पहलू तो आया ही, पर दूसरे पहलू भी हैं – ऐसा भी उसमें आ गया। नय एक धर्म को मुख्य करके वस्तु को लक्ष में लेता है। वह धर्म वस्तु का है और वस्तु अनन्तधर्मात्मक है अर्थात् नय के साथ ही उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का प्रमाणज्ञान भी हो जाता है।

नय तो अंश को जानता है, पर अंश किसका ? अंशी का। अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। पूरी वस्तु के प्रमाणज्ञान पूर्वक उसके एक अंश का ज्ञान हो, तो उसे नय कहा जाता है।

(कवित्त)

दरसन-ज्ञान-चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार।
निहचै- दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार॥
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल सकल एक ही बार।
यौं समकाल जीव की परिनति,
कहैं जिनेंद गहै गनधार॥

- पण्डित बनारसीदास, समयसारनाटक, जीवद्वार छन्द - १७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३

अस्तित्वनय

अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्यो-न्मुख विशिखवत् स्वदव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ।

आत्मद्रव्य-अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; लोहमय डोरी और धनुष के मध्य स्थित संधान-दशा में रहे हुए लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति ।

जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खींची हुई दशा में है और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है; उसीप्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है ।''

अनन्तधर्मों का पिण्डरूप सम्पूर्ण आत्मद्रव्य प्रमाण का विषय है तथा उसे अस्तित्वनय से देखने पर वह अस्तित्ववाला कहा जाता है । स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा अस्तित्ववाला है । – इसप्रकार अस्तित्वनय स्व से अस्ति को लक्ष्य में लेता है । पर से आत्मा नास्तिरूप है – यह बात नास्तित्वनय में आयेगी ।

जो अस्तित्वधर्म को जानता है, वह अस्तित्वनय है और जो नास्तित्वधर्म को जानता है, वह नास्तित्वनय है । प्रमाणज्ञान से सम्पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक अंश को मुख्य करके जानना नय है । वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, कोई वस्तु धर्मरहित नहीं है । वस्तु को जानने के लिए उसके धर्मों को जानना चाहिए, वस्तु के धर्मों को जाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती । जिसप्रकार बाजार में वस्तु लेनेवाला वस्तु के धर्मों को जानता है, उसीप्रकार यहाँ चैतन्यवस्तु की प्राप्ति के लिए उसके धर्मों को जानना चाहिये । वस्तु में अनन्तधर्म हैं, उनमें से यहाँ अस्तित्वधर्म का वर्णन चलता है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा का अस्तित्व है – इसप्रकार सामान्यपने तो सभी जानते है; परन्तु उसका अस्तित्व किसप्रकार है, उसका स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कैसा है ? – यह जाने बिना आत्मा का अस्तित्व यथार्थ नहीं जाना जाता। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा ही माननेवाला आस्तिक कहलाता है और विपरीत माननेवाला नास्तिक कहलाता है।

आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आस्तित्वस्वरूप है। आत्मा के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव समझने के लिए यहाँ आचार्यदेव ने तीर का उदाहरण दिया है।

जिसप्रकार बाण का स्वद्रव्य लोहमय है, उसीप्रकार आत्मा का स्वद्रव्य अनन्तगुणपर्यायस्वरूप चैतन्यपिण्ड है।

जिसप्रकार बाण का स्वक्षेत्र डोरी और धनुष के बीच का क्षेत्र है, उसीप्रकार आत्मा का स्वक्षेत्र आत्मा के असंख्य चैतन्यप्रदेश हैं।

जिसप्रकार बाण की खींची हुई अवस्था बाण का स्वकाल है, उसीप्रकार आत्मा का स्वकाल साधक आदि वर्तमान अवस्था है।

जिसप्रकार बाण का स्वभाव अपने निशान के सन्मुख रहनेरूप है, उसीप्रकार उस-उस काल की पर्याय के सन्मुख रहनेवाला आत्मा का जो त्रिकाली भाव है, वह उसका स्वभाव है।

जिसप्रकार बाण अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता है, उसीप्रकार आत्मा भी अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता है; – इसप्रकार वस्तु का अस्तित्व स्वयं से है, पर से नहीं।

बाण की खींची हुई अवस्था बाण का अपना स्वकाल है। वह धनुष चलानेवाले के विकल्प के कारण या हाथ के कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो उसका स्वकाल नष्ट हो जाये, जबकि उसका स्वकाल अपने अस्तित्वधर्म से है, किसी पर के कारण नहीं; इसीप्रकार आत्मा की सम्यग्दर्शनादि पर्याय का अपना स्वकाल है, वह देव, गुरु या पर के कारण नहीं है। अपने वर्तमान स्वकाल में वर्तता हुआ द्रव्य अपने में ही रहता है। जिसप्रकार डोरी और धनुष के बीच में तीर अपनी लम्बाई-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चौड़ाई में रहता है, वही उसका क्षेत्र है। आकाश का क्षेत्र बाण का स्वक्षेत्र नहीं है, वह तो परक्षेत्र है, उसमें बाण नहीं रहता; उसीप्रकार आत्मा शरीर के क्षेत्र में नहीं रहता, परन्तु अपने असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में ही रहता है।

भाई ! तू देख तो सही, तेरा अस्तित्व बाहर में कतई नहीं है, तेरा अस्तित्व तो तेरे में ही परिपूर्ण है। सिद्ध भगवान होने की सामर्थ्य तेरे में ही मौजूद है, वह कहीं बाहर से नहीं आती। इसप्रकार जो ज्ञान अपना अस्तित्व जानता है, उसे अस्तित्वनय कहते हैं। अहो ! एक अस्तित्वनय कहने पर उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों ही समाहित हो जाते हैं। इसलिये आत्मा का अस्तित्व जानने के लिए आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानना चाहिए। वे इसप्रकार है –

चैतन्यमय अनन्तगुणों का पिण्ड आत्मा का स्वद्रव्य है।

वर्तमान में आत्मा देहप्रमाण होते हुए भी आत्मा का स्वक्षेत्र देह से भिन्न असंख्यप्रदेशी है।

सम्यग्दर्शन, मुनिपना या सिद्धदशा एक-एक समय की वर्तमान वर्तती पर्याय आत्मा का स्वकाल है। आत्मा का स्वकाल कहा अर्थात् पर से कोई अवस्था होती है – यह बात ही नहीं रहती; निगोदिया जीव का स्वकाल उसकी निगोददशा है, वह स्वयं से है, पर से नहीं।

उस-उस समय की पर्याय में परिणमित आत्मा के ज्ञानादिभाव त्रिकाल रहते हैं। वर्तमान पर्याय के सन्मुख रहनेवाला भाव कायम रहता है अर्थात् ज्ञानादिगुण तीनों काल की उस-उस पर्यायरूप परिणमते हैं। ऐसा त्रिकाल कायम रहनेवाला आत्मा का स्वभाव है। – ऐसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से आत्मा अस्तित्वरूप है। एक अस्तित्व धर्म से आत्मा को जाने तो सब परेशानी मिट जाये। अस्तित्वधर्म यह बताता है कि आत्मा अपने द्रव्य–क्षेत्र-काल-भाव से है अर्थात् अपने द्रव्य–क्षेत्र-काल-भाव को धरनेवाला है – ऐसा जानने के बाद पर की ओर देखने की या पर से कुछ लेने की बुद्धि नहीं रहती। अपने धर्म के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लिए अपने में ही देखना है, आत्मा के ऐसे अस्तित्व स्वभाव को समझने पर अपने में आये बिना नहीं रहता और उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप परमानन्द प्राप्त हुए बिना नहीं रहता।

प्रश्न – यह तो बहुत सूक्ष्म बात है, समझने में कठिन लगती है; इसे तो 'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बंधन' – इसप्रकार थोड़े में ही समझादो न ?

उत्तर – 'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बंधन' यद्यपि यह बात सत्य है, तथापि इसी में स्व को समझने की बात भी आ जाती है; क्योंकि ऐसा कहनेवाले को भी 'स्व' का आश्रय करने के लिए 'स्व' कौन है ? – यह तो जानना ही पड़ेगा। स्व अर्थात् अपना आत्मा कौन है, कैसा है ? यह जाने बिना उसका आश्रय किसप्रकार करेगा ? पहले आत्मा जैसा है, वैसा उसे जाने तभी उसका आश्रय कर सकता है। –इसप्रकार 'स्वाश्रय से मुक्ति' – ऐसा कहने पर भी स्व को जानने की ही बात आयेगी।

यहाँ परिशिष्ट में शिष्य का भी यही प्रश्न था कि हे भगवान! यह मेरा आत्मा कौन है, कैसा है ? जिसको जानकर आश्रय करने पर मैं परमानन्द को प्राप्त होऊँ। शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में यह आत्मा का वर्णन चलता है, उसमें आत्मा का अस्तित्व कैसा है – यह बताते हैं। इसलिए सूक्ष्म लगे तो भी यह बात रुचिपूर्वक ध्यान से समझने जैसी है। आचार्य तो बहुत स्पष्ट और सरल करके समझाते हैं, पर इसे समझने के लिए दिमाग में दूसरी चिन्ताएँ नहीं रहनी चाहिए; जिसप्रकार कहा गया है, उसीप्रकार लक्ष्य में लेकर विचार करना चाहिए। – इसे समझे बिना सुखी होने का कोई उपाय नहीं है। आत्मा अनन्तधर्मसहित एक पदार्थ है, उसे सामान्य–एक–अभेद-नित्य चैतन्यपिण्डरूप से विषय करना निश्चयनय है और एक-एक धर्म का भेद करके विषय करना व्यवहारनय है। निश्चय से तो आत्मा को बंध और मोक्ष भी नहीं है, आत्मा को बंध-मोक्षवाला कहना भी व्यवहार है – यह अध्यात्म की शैली है; परन्तु इस परिशिष्ट में आत्मा बंध-मोक्षवाला है – यह निश्चय-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नय में लिया गया है, क्योंकि आत्मा अकेला ही बंध और मोक्षपर्यायरूप से परिणमता है – यह बताना है। यहाँ द्रव्यदृष्टि के विषय का वर्णन नहीं है, बल्कि वस्तु के सभी पक्षों का ज्ञान कराके प्रमाण का ज्ञान कराना है; क्योंकि प्रमाण से सभी पक्षों का ज्ञान करनेवाला भी अभेदस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसीतरफ ढलता है, लेकिन पहले तत्त्व का निर्णय करने के लिए धर्मों का भेद करके विचार करना पड़ता है।

आत्मा के अस्तित्वधर्म को जाने तो उसमें स्वकाल की पहचान भी आ जाती है। प्रतिसमय जो पर्याय उत्पन्न होती है, वही स्वकाल है और वही आत्मा का धर्म है, उसमें पर का अभाव है। तीर की जो पर्याय है, वह उसका स्वकाल है। वह पर्याय हाथ के कारण या आत्मा के कारण नहीं हुई है। पराधीन दृष्टिवालों को तो ऐसा लगता है कि यदि तीर की पर्याय स्वयं तीर से ही होती हो तो हाथ लगने से पहले क्यों नहीं हुई और हाथ लगने पर ही क्यों हुई ? ऐसा पूछनेवाले को वस्तु की पर्याय के प्रतिसमय के उपादान का ज्ञान नहीं है। तीर में पहले दूसरी पर्याय का स्वकाल था और बाद में धनुष पर अनुसंधान होने का स्वकाल भी उसके अपने स्वयं के उपादान से आया है।

उपादान दो प्रकार का है – शाश्वत उपादान और क्षणिक उपादान। द्रव्य का जो त्रिकालीस्वभाव है; वही शाश्वत उपादान है और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय की योग्यता क्षणिक उपादान है। क्षणिक उपादान प्रत्येक पर्याय का अलग-अलग है। अज्ञानी को प्रत्येक समय की पर्याय के उपादान का अर्थात् स्वकाल का भान नहीं है; इसलिए वह ऐसा मानता है कि जैसा निमित्त मिलेगा, वैसी पर्याय होगी – यह उसकी मूल में ही भूल है। उसीप्रकार जो क्षणिक रागपर्याय मात्र ही संपूर्ण आत्मा का स्वभाव मान लेवे, उसे वस्तु के त्रिकाली शुद्ध उपादान का अर्थात् स्वभाव का भान नहीं है। स्वकाल क्षणिक उपादान है और स्वभाव त्रिकाली उपादान है। आत्मा के अस्तित्वधर्म को जानने में यह सब आ जाता है। अस्तित्व में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आता है। और स्वद्रव्य-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षेत्र-काल-भाव में यह सब रहस्य समा जाता है।

वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल (क्षणिक उपादान) से ही होती है, निमित्त से नहीं – ऐसा वस्तुस्वरूप है। जीव को कर्म विकार कराते हैं – ऐसा शास्त्रों में व्यवहार से कथन किया हो तो अज्ञानी उसे वास्तविक मान लेता है, उसे निश्चय-व्यवहार की खबर नहीं है। निश्चय-व्यवहार में भी अनेक अपेक्षाएँ हैं, वे इसप्रकार हैं –

विकारी परिणाम आत्मा स्वयं करता है – ऐसा ज्ञान कराने के लिए विकारी परिणाम को निश्चय कहा और उसमें कर्म का उदय निमित्त है, इसका ज्ञान कराने के लिए निमित्त को व्यवहार कहा है; लेकिन वास्तव में कर्म का उदय जीव को विकार कराता है – ऐसा व्यवहार का आशय नहीं है।

मोक्षमार्ग का वर्णन चल रहा हो तो शुभराग को व्यवहार और शुद्धता को निश्चय कहा जाता है – वहाँ पर्याय की शुद्धता निश्चय और अशुद्धता व्यवहार – ऐसी शैली होती है।

जब द्रव्य की बात चल रही हो, तब अभेद द्रव्य तो निश्चय और गुण पर्याय का भेद सो व्यवहार – ऐसा कहा जाता है। यहाँ अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार – ऐसी शैली है।

इसप्रकार जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वही समझना चाहिए।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति है – यह यर्थाथरूप से समझ लेवें तो सारी भूल निकल जाय। यह अस्ति–नास्तिधर्म सभी द्रव्यों में हैं। सभी द्रव्य अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप हैं और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप हैं। यहाँ आत्मा के अस्तित्वधर्म की बात चल रही है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति नास्ति ये दो परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं; वे वस्तु को सिद्ध करती हैं। विरोधी शक्तियाँ एक दूसरे का निषेध करें – ऐसी नहीं है। यदि एक धर्म दूसरे धर्म का निषेध करे तो वस्तु ही अनन्तधर्मात्मक सिद्ध नहीं होगी। अस्ति और नास्ति धर्म परस्पर विरुद्ध होने पर भी वस्तु में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोनों एक साथ ही रहते हैं, इसलिए वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली है। धर्म अपेक्षा विरोध होने पर भी एक वस्तु में रहने की अपेक्षा विरोध नहीं है। अनन्तधर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी धर्मीवस्तु एक ही है, वह अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमाण का विषय है और उसके एक-एक धर्म नय के विषय हैं।

आत्मा तीनों काल स्वयं ही अस्तित्ववाला है, इसलिए किसी परवस्तु की मदद से मेरा अस्तित्व टिका रहेगा – यह बात ही नहीं रही। मैं तो मेरी चैतन्य सत्ता से ही हमेशा टिकनेवाला हूँ– ऐसा अपने अस्तित्व का निर्णय करे, तो जगत को कोई भी प्रतिकूल संयोग मेरा नाश करेगा अथवा मुझे हैरान करेगा – ऐसा भय निकल जाय। 'आत्मा का अस्तित्व स्वयं से है–' इसका अर्थ है आत्मा के सभी काम बिना किसी अन्य पदार्थ के ही चल रहे हैं। मेरा पर के बिना नहीं चलता है – ऐसी उल्टी मान्यतावाले अज्ञानी जीव का भी सब काम तीनों काल पर के बिना ही चल रहा है। आत्मा की पर्याय में अनादिकाल से राग चला आ रहा है, फिर भी द्रव्यस्वभाव में तो राग है ही नहीं। त्रिकालीतत्त्व तो रागरहित ही है – ऐसा जाने तो स्वभावसन्मुख होकर राग से भिन्न हो जाए, पर से तो भिन्न ही है। यहाँ तो प्रमाण के विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु का वर्णन होने से राग को भी आत्मा का धर्म – आत्मा का स्वभाव कहा जायेगा; लेकिन इसको जानने का फल तो रागरहित चैतन्यस्वरूप की ओर ढलना ही है। आत्मा रागरूप परिणमता है, इसलिए राग भी आत्मा का ही एक धर्म है। ऐसा जाननेवाला जीव राग में अटककर राग को नहीं जानता, बल्कि राग का मात्र ज्ञाता रहकर राग को जानता है। राग को जाननेवाला ज्ञान राग में एकाकार होकर नहीं जानता, बल्कि राग से भिन्न रहकर जानता है।

(१) संपूर्ण गुण-पर्यायों का पिण्ड स्वद्रव्य है।

(२) अपने असंख्य आत्मप्रदेश स्वक्षेत्र है।

(३) अपनी वर्तमान समय की अवस्था स्वकाल है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(४) उस-उस पर्याय के सन्मुख झुका हुआ त्रिकाली शक्तिरूप भाव स्वभाव है।

– इसप्रकार आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वरूप है। आचार्यदेव तीर का दृष्टान्त देकर यह बात स्पष्ट करते हैं।

जैसे तीर लोहे से बना हुआ है, तो लोहमयपना उसका स्वद्रव्य है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अपने गुण-पर्यायमय है, वही उसका स्वद्रव्य है – ऐसे स्वद्रव्य से आत्मा का अस्तित्व है।

जैसे लोहमय तीर, डोरी और धनुष के बीच अपने लोहमय स्वक्षेत्र में रहता है, वैसे ही आत्मा अपनी असंख्यात चैतन्यप्रदेशरूपी स्वक्षेत्र में रहता है, वही आत्मा का निवास स्थान अर्थात् स्वक्षेत्र है। इसके सिवाय आत्मा भारत में अथवा शरीर में रहता है – ऐसा कहना वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह तो आत्मा से बाह्यक्षेत्र है। बाह्यक्षेत्र में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, किन्तु अपने क्षेत्र में ही अस्तित्व है।

किसी लक्ष्य की ओर साधी हुई अवस्था तीर का स्वकाल है – उसमें वह तीर रहता है, उसीप्रकार आत्मा अपनी वर्तमान वर्तती एकसमय की अवस्था में रहता है, वही उसका स्वकाल है। जब पैसा, परिवार, सम्मान आदि सब हो, तब लोग कहते हैं कि हमारा काल अच्छा है, जब थोड़ी भी परेशानी हो, तब कहते हैं कि हमारा समय खोटा आया है; परन्तु वास्तव में पैसा आदि परवस्तु आय अथवा जाय, उसके साथ आत्मा के स्वकाल का कोई सम्बन्ध नहीं है। – ऐसा समझे तो पैसा आदि का संयोग आय या जाय, किसी भी स्थिति में एकत्वबुद्धि से हर्ष-विषाद न हो।

त्रिकालीद्रव्य कारण है और प्रत्येक समय की पर्याय कार्य है। मेरे त्रिकालीद्रव्य का एक-एक समय का वर्तमान कार्य मेरा स्वकाल है – ऐसा समझकर द्रव्यसन्मुख होने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा का स्वकाल है।

जिसप्रकार लक्ष्य के सामने रहनेरूप भाव तीर का स्वभाव है, उसीप्र-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कार आत्मा का शक्तिरूप भाव परिणमित होकर पर्यायसन्मुख होता है अर्थात् प्रत्येक समय की पर्यायरूप होने की सामर्थ्यवाला जो स्थाईभाव (शक्ति) है, वह आत्मा का स्वभाव है।

– इसप्रकार अस्तित्वनय ऐसा जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है। – ऐसे अस्तित्व को समझनेवाले को स्वतंत्रता की प्रतीतिपूर्वक परतंत्रता की दृष्टि छूट जाती है। – इसी का नाम धर्म है।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ही अपना अस्तित्व है। एक अस्तित्व धर्म में ये चारों समा जाते हैं। स्वकाल अर्थात् अपने श्रद्धा-ज्ञान आदि की प्रतिसमय होनेवाली वर्तमान पर्याय, उससे आत्मा सत् है। अशुभ, शुभ या शुद्ध भावरूप उस–उस समय की पर्याय में द्रव्य ही रहता है। वह उसका स्वकाल है। अपने स्वकाल से रहित वस्तु नहीं होती और वस्तु का स्वकाल दूसरे से नहीं होता। रागपर्याय वह एकसमय का स्वकाल है। जो राग के समय में मात्र राग बराबर ही आत्मा का अस्तित्व मान ले तो दूसरे समय में निर्मल स्वकाल (पर्याय) कहाँ से आये ? और दूसरे समय राग के नाश होने पर द्रव्य का अस्तित्व कैसे रहे ?

वर्तमान पर्याय पलटकर दूसरे समय की पर्याय भी द्रव्य में से ही आती है और उस पर्याय में भी द्रव्य का ही अस्तित्व है। इसलिए जो जीव अपने को वर्तमान विकारी पर्याय मात्र ही मानता है, वह यह नहीं जानता कि एकसमय बाद यह पर्याय पलटकर अगले समय निर्मल पर्याय प्रगट होगी और जो ऐसा नहीं जानता, उसने अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को नहीं जाना।

एकसमय की पर्यायमात्र ही मेरा अस्तित्व नहीं है, परन्तु मैं तो तीन काल की पर्यायों का पिण्ड हूँ, – ऐसा समझे तो आत्मा को क्षणिक रागमात्र ही न माने, अर्थात् राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की तरफ ढले बिना न रहे। ऐसी दृष्टि के बिना आत्मा की तरफ एकाग्र नहीं हुआ जाता अर्थात् उसे मोक्ष भी नहीं होता। इसलिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु का स्वरूप समझना; वही मोक्ष का उपाय है। इसके बिना अन्य किसीप्रकार से मोक्षमार्ग का आरंभ नही होता।

धर्मात्मा जीव को जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति करने का शुभभाव आता है, वह भी आत्मा का स्वकाल (पर्याय) है। धर्मात्मा जीव के वीतरागी पर्याय प्रगट होने से पहले इसप्रकार का राग आता है। वहाँ वह अन्तर में जानता है कि यह राग मेरी कमजोरी के कारण आता है, किसी पर के कारण नहीं। मेरी पर्याय की योग्यता ही ऐसी है। उससमय जो बाह्यक्रिया होती है, वह मेरे स्वकाल (पर्याय) से भिन्न हैं, वह क्रिया मेरे शुभराग के कारण नहीं होती। – इसप्रकार ज्ञानी को स्वभाव की प्रभुता एवं पर्याय के राग का–दोनों का ज्ञान एकसाथ रहता है। उससमय में हुई ज्ञानपर्याय एवं पूजा भक्ति के रागभाव को वह करता है; लेकिन जलादि अष्टद्रव्य को चढ़ाने की क्रिया आत्मा नहीं करता।

जल आदि की क्रिया में परवस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, उसमें पर का अस्तित्व है। उसमें आत्मा का अस्तित्व नहीं है; इसलिए आत्मा उसे नहीं कर सकता। आत्मा का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है और पर का अस्तित्व परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है। किसी अन्य द्रव्य के अस्तित्व के कारण किसी अन्य द्रव्य में कुछ नहीं होता है। अतः परद्रव्य की क्रिया से आत्मा को पुण्य–पाप नहीं होते। स्वयं के शुभाशुभ परिणाम ही पुण्य-पाप के कारण हैं तथा शुभाशुभ परिणाम से रहित निर्मल परिणाम धर्म है। – इसप्रकार आत्मा को स्वयं के परिणामों का ही फल लगता है।

भगवान की परमशांत वीतरागी प्रतिमा के पास सम्यग्दृष्टि एकावतारी इन्द्र-इन्द्राणी भी भक्ति से नाच उठते हैं। देखो, नंदीश्वरद्वीप में शाश्वत् जिनबिम्ब विराजमान हैं, वहां कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ माह के अन्तिम सप्ताह में देवगण भक्ति करने जाते हैं।

जिसप्रकार आत्मा में परमात्मपने की शक्ति सदा है और उस शक्ति को प्रगट करनेवाले सर्वज्ञ परमात्मा भी जगत में हमेशा एक के बाद एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते रहते हैं; उसीप्रकार परमात्मपने के प्रतिबिम्बरूप में वीतरागी प्रतिमा भी जगत में शाश्वत है। उनके पास जाकर इन्द्र-इन्द्राणी जैसे एकावतारी सम्यग्दृष्टि जीव भी हर्ष से नाच उठते हैं ; लेकिन उससमय भी उन्हें अन्दर में भान है कि मूर्ति का अस्तित्व मूर्ति के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है । शरीर के ऊपर-नीचे होने की क्रिया का अस्तित्व शरीर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, मूर्ति अथवा देह की क्रिया में मेरा अस्तित्व नहीं है। मेरा अस्तित्व तो मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है– ऐसे सम्यक् भानपूर्वक स्वाश्रय से अंशरूप निर्मलपर्याय प्रगट हुई और अल्पकाल में द्रव्य का पूर्ण आश्रय करते ही पूर्ण निर्मलपर्याय प्रगट होगी अर्थात् वह स्वयं परमानन्दमय परमात्मा हो जायेगा।

भगवान की भक्ति के समय अशुभराग का अभाव होकर शुभराग हुआ, वह भी आत्मा की पर्याय (स्वकाल) है। उसमें तो आत्मा का अस्तित्व है, परन्तु पर की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व नहीं है। जो पूजा करते समय अष्टद्रव्य को चढ़ाने की क्रिया में आत्मा की प्रवृत्ति तथा अष्टद्रव्य को चढ़ाने की क्रिया न करने से आत्मा की निवृत्ति मानता है, उसे अपने-पराये का भिन्न-भिन्न भान नहीं है। उसे अपने अस्तित्वधर्म की खबर नहीं है । उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान सबसे बड़ा अधर्म है।

साधक के श्रुतज्ञान में नय होते हैं। उससे वह आत्मा को कैसा जानते हैं – इसका यहाँ वर्णन चलता है। केवलज्ञान में तो ज्ञान और ज्ञेय (स्वज्ञेय) दोनों परिपूर्ण हो जाते है तथा नय से जानने का प्रयोजन ही नहीं रहता। केवलज्ञान में तो लोकालोक के संपूर्ण पदार्थ एकसाथ ज्ञान में ज्ञेयरूप से झलकते हैं, तब संपूर्ण ज्ञेयों को ज्ञान एकसाथ प्रत्यक्ष स्पष्ट जान लेता है। वहाँ ज्ञान का विषय बदलता नहीं है अर्थात् ज्ञान एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर नहीं जाता और वहाँ राग भी नहीं होता।

निचली दशा में रागी जीव को पूर्णज्ञानस्वभाव का भान होने पर भी ज्ञान का पूर्ण विकास न होने के कारण एक समय में संपूर्ण लोकालोक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को जाननेवाला द्रव्यस्वभाव तो उसकी श्रद्धा में आया है; लेकिन ज्ञान अभी (प्रगटपने की अपेक्षा) अधूरा है । इसलिए वह एकसमय में एकसाथ लोकालोक को नहीं जान सकता । इसलिए उसके ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर जाता है और राग भी है ।

जिससमय जिसप्रकार के राग की योग्यता होती है, उससमय उसीप्रकार का राग होता है और उसका ही निमित्त होता है । वहाँ उसके राग को और उसके निमित्त को ज्ञान जानता है। अर्थात् जिसप्रकार राग और उसका निमित्त बदलता है, उसीप्रकार उनको जाननेवाला ज्ञान भी बदलता है । राग अनेक प्रकार का है । जिससमय जैसा राग होता है, उससमय उसीप्रकार का निमित्त होता है । भक्ति के भाव होने पर भगवान के ऊपर लक्ष्य जाता है, न कि किसी स्त्री के ऊपर; और विषय के भाव होने पर स्त्री के ऊपर लक्ष्य जाता है, न कि भगवान के ऊपर । – इसप्रकार जैसा राग होता है वैसे निमित्त के ऊपर ही लक्ष्य जाता है । – ऐसा होने पर भी राग के कारण निमित्त नहीं आता और निमित्त के कारण राग नहीं होता । राग और निमित्त दोनों का स्वकाल भिन्न-भिन्न है और जिसकाल में जो राग अथवा निमित्त होता है, ज्ञान उसे जानता है; लेकिन राग या निमित्त के कारण ज्ञान हुआ, ऐसा नही मानता । वह तो ऐसा जानता है कि उसकाल में उसप्रकार के राग और निमित्त को जाने – ऐसी मेरे स्वपरप्रकाशक ज्ञान की योग्यता थी; इसलिए मुझे ज्ञान हुआ।

इसलिए उसे ज्ञान और राग की भिन्नता का भान है । अतः उसे एकत्वबुद्धि का राग तो होता ही नहीं है । – जो यह समझे, उसने ही अस्तित्वधर्म को वास्तविक जाना है ।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा का अस्तित्व है – इसमें संपूर्ण बात आ जाती है ।

– इसप्रकार अस्तित्वनय से आत्मा को अस्तित्वधर्मवाला बताया । अब नास्तित्वनय से देखने पर वही आत्मा परचतुष्टय से नास्तिरूप है – ऐसा कहेंगे ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४

नास्तित्वनय

नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थाल-क्ष्योन्मुखप्राक्तन विशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ।

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है; अलोहमय डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थिर, संधानदशा में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख – ऐसे पहले के बाण की भांति ।

प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व और वस्तुत्व – ये दोनों धर्म एकसाथ रहते है; इसलिए अस्तित्व धर्म के वर्णन में जो तीर का दृष्टान्त दिया था, वही नास्तित्वनय में भी लिया है । अत: अस्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का हो और नास्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का हो – ऐसा नहीं है, अपितु एक ही वस्तु में दोनों धर्म रहते हैं ।

जिस तीर को स्वचतुष्टय से अस्तिरूप (लोहमय) कहा था, वही तीर अन्य तीर के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है । अन्य तीर के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के बीच में नहीं रहता है; अन्य तीर के काल की अपेक्षा से संधान दशा में नहीं रहता है; और अन्य तीर के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योनन्मुख है, लक्ष्योन्मुख नही; उसीप्रकार आत्मा अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है और आत्मा परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है ।

ज्ञान का स्वभाव आत्मा को जानने-देखने का है । ज्ञान के साथ अन्य अनन्त धर्म हैं; उन सभी धर्मों का पिण्ड आत्मा है । आत्मा के अनन्त धर्मों में से कोई भी धर्म परद्रव्य के आधार से नही है, परद्रव्य के कारण नहीं है तथा परद्रव्य का भी कोई धर्म आत्मा में नहीं है, आत्मा के कारण नहीं है । प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनन्त धर्म स्वतंत्र हैं । यहाँ

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो आत्मा को जानने के लिए आत्मा के धर्मों का वर्णन चलता है।

आत्मद्रव्य में अनन्त धर्म हैं, उन सभी धर्मों को प्रमाण जानता है और नय तो वस्तु के एक-एक धर्म को मुख्य करके जानता है। जिसप्रकार वस्तु में धर्म अनन्त हैं, उसीप्रकार उसे जाननेवाले नय भी अनन्त हैं। उनमें से द्रव्यनय, पर्यायनय और अस्तित्वनय – इन तीन नयों से आत्मा के तीन धर्मों का वर्णन तो हो चुका है; अब चौथे नास्तित्वनय से आत्मा का वर्णन चलता है।

जो आत्मद्रव्य स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अस्तित्वमय है; वही परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नास्तित्वमय है। पर में नहीं होना – यह भी वस्तु का एक अंश है; वस्तु में जहां भाव अंश है वहीं अभाव अंश है; जहाँ स्व से अस्तित्व धर्म है, वहीं पर से नास्तिरूप धर्म भी है। एक ही अंशी के दो अंश हैं। अतः नास्तित्व धर्म भी अपना ही अंश है।

नास्तित्व धर्म किसी वस्तु में स्वयं अभावरूप नहीं रहता, परन्तु सत्स्वरूप है। नास्तित्व धर्म में 'पर से नास्ति' इसप्रकार पर की अपेक्षा भले आती हो; लेकिन वह नास्तित्व धर्म पर के आधार से नहीं होता, वह धर्म तो वस्तु का स्वयं का ही है।

आत्मा का नास्तित्व धर्म यह बताता है कि समस्त परपदार्थपने आत्मा नास्तिरूप है अर्थात् परपदार्थ आत्मा में क्या करे और आत्मा किसी परवस्तु में क्या करे ? दो द्रव्यों के बीच में परस्पर अभावरूप ऐसी अभेद दीवार है कि कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। परवस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर में स्वयं से है, और आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आत्मा में स्वयं से है; एक की दूसरे में नास्ति है। जो जीव इसे बराबर समझ लेता है, वह पराश्रयबुद्धि छोड़कर स्वाश्रय की तरफ ढ़ले बिना नहीं रहता।

कर्म के चतुष्टयपने कर्म का अस्तित्व है, आत्मा का नहीं; इसलिए कर्म आत्मा का कुछ करे – ऐसा नहीं बनता। इसीप्रकार शास्त्र-वाणी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इत्यादि परद्रव्य हैं, इनका अस्तित्व आत्मा से भिन्न है। इनके अस्तित्व में आत्मा का नास्तित्व है, इसलिए शास्त्र – वाणी के कारण आत्मा का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं बनता।

शास्त्रादि परद्रव्य से मुझे ज्ञान होता है अथवा कर्मादि परद्रव्य से मेरा ज्ञान रुकता है, जिसने ऐसा माना है; उसने परपने आत्मा का नास्तित्व नहीं जाना अर्थात् आत्मा के नास्तित्व धर्म को नहीं जाना। इससे आत्मा को ही नहीं जाना। आत्मा कैसा है ? यह जाने बिना उसमें क्या करे ?

इस जगत में एक आत्मा ही है, अन्य सब भ्रम है, जो ऐसा मानता है, उसने आत्मा के नास्तित्व धर्म को नहीं जाना; क्योंकि जगत में आत्मा के अलावा अन्य पदार्थों का भी अस्तित्व है, उन्हें स्वीकार करे; तब आत्मा के नास्तित्वधर्म को जान सकता है कि आत्मा परवस्तुपने नहीं है।

सर्वज्ञ के शासन सिवाय कहीं दूसरी जगह ऐसे वस्तुधर्म का वर्णन नही हो सकता।

जिसप्रकार जगत में खरगोश का सींग है ही नहीं, अतः कोई ऐसा नहीं कहता कि मुझे खरगोश के सींग से लग गई; उसीप्रकार जो अजीवादि परपदार्थों को भी सर्वथा अभावरूप ही मानता है, तो उसने पर से मेरा नास्तित्व है – ऐसा नहीं माना और ऐसा नहीं मानने के कारण उसके पराश्रयपना छूटकर स्वाश्रयपना प्रगट नहीं हो सकता। इसप्रकार पर का सर्वथा अभाव मानने से स्वयं का अभावधर्म (नास्तित्व धर्म) सिद्ध नहीं होता अर्थात् आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

इस जगत में आत्मा के अलावा यदि अन्य परद्रव्य न होते तो आत्मा को भ्रान्ति कैसे होती अर्थात् नहीं होती; क्योंकि अकेले स्वभाव में भ्रान्ति नहीं होती। यदि अकेले स्वभाव में भी भ्रान्ति होती, तब तो वह भ्रान्ति भी स्वभावरूप हो जाती और वह टलती ही नहीं; इसलिए भ्रान्ति के निमित्तरूप परपदार्थ हैं; उनके अस्तित्व को जो नहीं मानता उसकी भ्रांति कभी नहीं टल सकती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसीप्रकार भ्रांति यदि परपदार्थ के कारण होती हो तो जगत में सदैव परपदार्थ होने से भ्रांति भी सदा ही रहती; लेकिन वह भ्रांति आत्मसन्मुख होने पर नष्ट हो जाती है; अतः यह निर्णय हुआ कि भ्रांति पर के लक्ष से होती है, पर के कारण नहीं। जो परवस्तु को ही न मानता हो, उसकी भ्रांति टलने का कोई अवसर ही नहीं है; लेकिन जो परवस्तु के कारण भ्रांति मानता है, उसकी भी भ्रांति नहीं टल सकती।

जगत में मैं स्व हूँ और पर भी हैं। उनमें स्व-पर की एकताबुद्धि के कारण ही भ्रांति है, भ्रांति को मिटाने के लिए स्व-पर की एकताबुद्धि मिटाना चाहिए। जबकि इसके बदले अज्ञानी परवस्तु के अस्तित्व का ही सर्वथा निषेध करता है। वह तो स्थूल मिथ्यात्व है। जिसप्रकार मैं स्व-पने हूँ, उसीप्रकार पर पर-पने है; पर से मेरा नास्तित्व है, – ऐसा समझकर स्व-पर का भेदज्ञान करने से भ्रांति का नाश होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह अपूर्व धर्म है; नय भले वस्तु के धर्मों को मुख्य-गौण करके जानता हो, परन्तु वस्तु में तो सम्पूर्ण धर्म एक साथ ही हैं। वस्तु को स्व से अस्तित्वपने जानने पर, पर से नास्तित्वपने का ज्ञान हो जाता है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक साथ ही हैं।

ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय के कारण नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान की तरह ज्ञेय होने का धर्म है। उसमें ज्ञेयधर्म के कारण ज्ञानधर्म और ज्ञानधर्म के कारण ज्ञेयधर्म नहीं है। अहो, मेरे में भी एक धर्म के कारण दूसरे धर्म नहीं है तो फिर अपना कोई धर्म पर के कारण होता है, यह बात ही कहाँ रही? ज्ञानपने ज्ञान का अस्तित्व है और ज्ञेयपने उसका नास्तित्व है। जो ऐसा न हो, तो अनन्तधर्म सिद्ध नहीं हो सकते।

ज्ञान ज्ञानरूप है, परज्ञेयरूप नहीं है अर्थात् ज्ञेय के कारण ज्ञान होता है, यह बात नहीं रहती। यदि ज्ञेय के कारण ज्ञान होता हो तो केवलज्ञान पराधीन हो जाय; क्योंकि ज्ञेय तो जगत में सदा हैं। अतः केवलज्ञान भी सदा होना चाहिए, जबकि ऐसा नहीं होता है; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान का नास्तित्व है, उससे ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कैसे हो सकता है ? जितने ज्ञेय पदार्थ हैं वे समस्त केवलज्ञान में जानने में आने पर भी उन ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का ऐसा स्वयं का स्वभाव है।

जिसप्रकार पर के कारण ज्ञान नहीं होता है, उसीप्रकार पर के कारण ज्ञान अटकता भी नहीं है। ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को रोकता है, ऐसा कहना वह उपचार कथन है। वहाँ वास्तव में ज्ञान स्वयं ही स्वयं से अटका है। ऐसा अनुपचार वस्तुस्वरूप को लक्ष्य में रखकर समझे तो ही उपचार कथन का आशय समझ सकता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप के भान बिना जो मात्र उपचार को ही वास्तविक स्वरूप मान लेता हैं, वह वस्तुस्थिति को नहीं जानता।

गोम्मटसार आदि शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है, दर्शनावरणी कर्म दर्शन को रोकता है, मोहनीय कर्म सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकता है, अन्तरायकर्म वीर्य को रोकता है;सो ये सम्पूर्ण कथन निमित्त की अपेक्षा से किये गये हैं।

जिस समय जिस कर्म के उदय का स्वकाल है, उसी समय उस निमित्त से जुदा आत्मा का स्वकाल है या नहीं ? जब आत्मा स्वयं, स्वयं के स्वकाल में, स्वयं की योग्यता से ज्ञानादिक के विकास में अटकता है; तब उसके सामने किसका अस्तित्व है। यह बताने के लिए निमित्त से कथन किया है।

भाई, सामने जो ज्ञानावरणी कर्म निमित्त है, वह निमित्त तो तेरे नैमित्तकभाव की इसप्रकार घोषणा करता है कि उस समय आत्मा के स्वकाल में ज्ञान की पूर्णता नहीं है। ज्ञान की पूर्णता हो तो सामने आवरण का निमित्त न हो। 'कर्म ने ज्ञान को रोका' – ऐसा कथन निमित्त की अपेक्षा भले हो; परन्तु वहाँ उपादान का स्वकाल निमित्त से भिन्न – स्वतन्त्र है, उसे समझना चाहिए।

कथनशैली भले भिन्न हो, परन्तु वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा समझना ही चाहिए। चरणानुयोग हो अथवा प्रथमानुयोग – कोई-सा भी अनुयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो; लेकिन आत्मा तो चारों अनुयोगों में एक ही प्रकार का है। द्रव्यानुयोग का आत्मा भिन्न हो और चरणानुयोग का आत्मा भिन्न – ऐसा नहीं है। प्रयोजनवश मात्र कथनशैली में अन्तर है। समयसार अथवा नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि शुद्ध आत्मा में कोई उदयभाव है ही नहीं। वहाँ द्रव्यदृष्टि का वर्णन चलता है। दृष्टि के विषय में पर्याय गौण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र आदि शास्त्रों में ऐसा कहा है कि उदयभाव आत्मा का स्वतत्त्व है। वहाँ प्रमाण के विषय का वर्णन है। उदयभावरूप भी आत्मा स्वयं परिणमता है, वह आत्मा की ही पर्याय है; इसलिए उसे स्वतत्व कहा है। वह उदयभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म नास्तिरूप है। अतः कर्म का कारण वह उदयभाव हुआ, ऐसा नहीं है। पर से तो आत्मा का सदा नास्तित्व है; अतः आत्मा और पर के बीच नास्तिरूप बज्र की दीवार है, उससे परपदार्थ आत्मा में कुछ कर सकें – ऐसा नहीं बनता।

अरिहंत प्रभु संसार में रहते हैं, वह स्वयं के योगकम्पन आदि की योग्यता से रहते हैं। चार अघाति कर्म शेष हैं, इसलिए अरिहंत प्रभु को संसार में रहना पड़ता है, – ऐसा नहीं है; क्योंकि अरिहंत भगवान की आत्मा में चार अघाति कर्म का तो नास्तित्व है।

यह आत्मा अल्पकाल में मोक्ष जायगा – ऐसा केवली भगवान ने ज्ञान में देखा। वहाँ भगवान के ज्ञान के कारण यह आत्मा मोक्ष जायगा, –ऐसा नहीं है। भगवान का केवलज्ञान तो उनका स्वकाल है। मोक्ष जानेवाले आत्मा के लिए तो वह परकाल है। यहाँ परकाल से आत्मा का अस्तित्व नहीं है, परन्तु नास्तित्व है। जो ऐसे अस्ति-नास्ति धर्म को बराबर जानता है, वह जगत के सभी पदार्थ स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा समझता है। अर्थात् उसे कहीं भी पर में एकत्वबुद्धि नहीं रहती, कोई दूसरे द्रव्य से हानि-लाभ होने की मान्यता नहीं रहती, पर के आश्रय की रुचि नहीं रहती। अपने स्वभाव की रुचि बढ़े, यही उसका फल है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मैं पर से जुदा हूँ, ऐसा कहनेवाला यदि स्वसन्मुख होकर अपने को पर से जुदा मानता हो तो ही पर से जुदापना वास्तविक माना कहलाये। शास्त्र पढ़कर 'पर से जुदा हूँ' ऐसा कहे, परन्तु परसन्मुख पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वसन्मुख न हो, तो उसने यथार्थपने पर से भिन्नता नहीं मानी। पर्याय में विकार उत्पन्न होता है, उसे में अलग करूँ – ऐसी बुद्धि वह भी पर्यायबुद्धि है। उसकी दृष्टि विकार के ऊपर है, स्वभाव के ऊपर नहीं। यह विकार हुआ, में उसका अभाव करूँ, – ऐसे विचार के समय विकार को देखने पर विकार का अभाव नहीं होता, परन्तु उत्पत्ति होती है।

जिससमय जो विकार उत्पादरूप है, उस समय तो वह सत् है। उस ही समय उसका अभाव नहीं हो सकता और दूसरे समय तो वह स्वयं चला ही जाता है अर्थात् दूसरे समय भी उसे हटाना नहीं पड़ता है, –इसप्रकार विकार को हटाना नहीं पड़ता। द्रव्य की स्वसन्मुखता में विकार की उत्पत्ति ही न हो, यह विकार के अभाव की रीति है। –इसप्रकार सम्पूर्ण कथन का सार द्रव्य की ओर स्वसन्मुखता करना है।

आत्मा कैसा है – इस बात का यहाँ वर्णन चलता है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं, वे अनन्त नयों से जाने जाते हैं। आत्मा को जानने पर ही आत्मा की प्राप्ति हो सकती है। साक्षात् अनुभव से पहले समस्त पक्षों के भेदपूर्वक आत्मतत्त्व का विकल्पात्मक निर्णय होता है। स्वभाव के साक्षात् अनुभवकाल में भेद का विकल्प नहीं रहता; परन्तु जो पहले विचारपूर्वक निर्णय नहीं करता, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जिसे आत्मा को समझने की तीव्र धगस लगी है – ऐसे शिष्य को आचार्य भगवान समझाते हैं कि हे भाई ! तेरा आत्मा स्वयं तुझरूप है, परपने उसका नास्तित्व है। आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप सिद्धसमान है, आनन्दस्वरूप है; परन्तु अभी तक अन्तर के अवलम्बनपूर्वक उस स्वभाव का भान अनादि से कभी नहीं किया; इसलिए उसकी प्राप्ति नहीं हुई।

अब कहते हैं कि अभीतक आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई – इसको भूल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाओ और अब उसका भान करके परमात्मदशा की प्राप्ति कैसे हो, इसका विचार करो। लोक में भी कहते हैं कि 'जब जाग जाओ तभी है सबेरा' उसीप्रकार जब स्वयं आत्मा का भान करे, तब आत्मा का अनुभव होता है, उसमें पूर्व का भूतकाल विघ्न नहीं करता।

आत्मा स्वचतुष्टयपने है और परवस्तुपने किसी भी क्षेत्र अथवा काल में कभी भी नहीं है। इसलिए आत्मा को पर के कारण संसार अथवा मोक्ष नहीं होता। आत्मा स्वपने है, उसमें पर का अभाव है। उस अभाव के कारण उसको लाभ-हानि होती हो – ऐसा नहीं है। वर्तमान दशा में परमानन्द का अभाव है और विकार दशा प्रकट है, यही संसार है। शरीरादि का आत्मा में अभाव है, उस शरीर की क्रिया से आत्मा में कुछ होता हो – ऐसा नहीं है। अभाव में से सद्भाव कैसे हो सकता है ?

आत्मा स्वयं अनन्तधर्मात्मक है, फिर भी अपनी महिमा के भान बिना अपने स्वभाव की मैत्री छोड़कर परनिमित्त की मैत्री से संसार में रखड़ता है। आत्मा को पर के कारण संसार नहीं है; परन्तु परसंग के कारण संसार है। स्वभाव के संग (आश्रय) में परसंग (पराश्रय) की नास्ति है। अपने स्वभाव को पर से भिन्न जाने कि मेरे स्वचतुष्टय से मेरी अस्ति है और पर के स्वचतुष्टय से पर की अस्ति है। पर के चतुष्टय में मेरी नास्ति है और मेरे चतुष्टय में पर की नास्ति है।

चतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – यह चार; इनमें से द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो त्रिकाली हैं और काल एक–एक समय की वर्तमान पर्याय है। प्रत्येक वस्तु में स्वयं के एक–एक समय के स्वकाल की भी स्वयं अस्ति है और पर की नास्ति है अर्थात् पर्याय स्वतन्त्र है। उसमें किसी दूसरे का असर नहीं होता। एक परमाणु की दूसरे परमाणु में नास्ति है अर्थात् वास्तव में एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता है।

शरीर में छुरा लगने से दुःख होता है, वहाँ संयोग से देखनेवाले ऐसा कहते हैं कि 'शरीर में छुरा लगा इसलिए दुःख हुआ' परन्तु वास्तव में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तुस्वभाव ऐसा नहीं है। शरीर की अवस्था शरीर में है, छुरा की अवस्था छुरा में है और दु:खरूप आत्मा की अवस्था आत्मा में है। छुरा के कारण शरीर नहीं छेदा गया और शरीर छेदे जाने के कारण आत्मा की अवस्था दु:खरूप नहीं हुई। प्रत्येक अवस्था स्वयं, स्वयं के स्वकाल से स्वतन्त्रपने होती है। नास्तित्वधर्म को यथार्थ समझने पर यह सब न्याय स्पष्ट रीति से समझ में आ जाता है।

जिसप्रकार जो तीर स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है, वही तीर दूसरे तीर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है। उसीप्रकार आत्मा अपने चतुष्टय से अस्तिरूप है, और वही परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। दूसरे आत्मा की अपेक्षा दूसरा आत्मा है; परन्तु एक आत्मा की अपेक्षा दूसरे समस्त आत्मा अनात्मा हैं, तब एक आत्मा दूसरे आत्मा में क्या करे? नास्तित्व अर्थात् अभाव, एक में दूसरे का अभाव है। जिसमें जिसका अभाव होता है उसमें वह क्या करे ? 'अभाव' कुछ नहीं कर सकता है। जिसप्रकार जगत में खरगोश के सींग का अभाव है, फिर भी उसके लगने से चोट आ जावे – ऐसा कभी नहीं बनता, उसीप्रकार परवस्तु में आत्मा का अभाव है, तब आत्मा पर में क्या करे और परवस्तु आत्मा का क्या करे ? सिद्ध भगवान से निगोद तक के सभी जीव स्वयं स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हैं और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं।

– ऐसा वस्तुस्वरूप जाने बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्दर्शन का विषय तो बहुत सूक्ष्म है। पर से भेदज्ञान किये बिना अन्तर के सूक्ष्म रागादिभावों से भेदज्ञान कैसे हो सकता है ? क्षणिक रागादिभाव भी अपने स्वकाल से अस्तिरूप हैं, जड़कर्म के कारण उनका अस्तित्व है – ऐसा नहीं है, अर्थात् कर्म के कारण रागादि नहीं होते ; परन्तु स्वपर्याय की योग्यता के कारण होते हैं – ऐसा पक्का निर्णय करके स्वभाव की अन्तर्दृष्टि में ऐसा जानें कि इस राग का अस्तित्व तो मात्र एक समय का है और मेरे स्वभाव का अस्तित्व तो त्रिकाल है। मेरा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

त्रिकाली स्वभाव राग बराबर नहीं है, मेरे त्रिकाली स्वभाव में एक समय के राग का नास्तित्व है – इसप्रकार स्वभाव को दृष्टि में लेकर स्वभाव की प्रतीति करे, उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ कहलाए।

यदि पर्याय में एक समय की अशुद्धता का अस्तित्व न होता तो जीव को संसार ही सिद्ध नहीं होता और मोक्षपर्याय तो अभी हुई नहीं है अर्थात् स्वकाल का अभाव होते जीव का ही अभाव मानना होगा। यदि जीव का अस्तित्व माने तो जीव का स्वकाल मानना या नहीं ? स्वकाल में पूर्ण शुद्धता तो है नहीं अर्थात् संसार दशा है – इसप्रकार जीव के स्वकाल को माने बिना जीव का अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता है। पर से भिन्न अस्तित्व जानने के बाद स्वयं त्रिकाली स्वभाव का क्षणिक राग बराबर अस्तित्व नहीं है – ऐसा जानना चाहिए।

त्रिकाली स्वभाव तो रागरहित है – इसप्रकार जानकर उस स्वभाव की मैत्री करके पर की मैत्री छोड़े, उसका नाम धर्म है। मुझे पर से लाभ-हानि होती है – ऐसी पर के साथ एकत्वपने की मान्यता, वह पर के साथ मैत्री है और वह संसार का कारण है तथा स्वभाव के साथ मैत्री वह मुक्ति का कारण है। जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उसे अन्तर में स्वभाव और परभाव दोनों का भेदज्ञान कहाँ से हो और उसके बिना धर्म कहाँ से हो ? आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्मों को समझे तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

आत्मा द्रव्य, असंख्यप्रदेशी क्षेत्र और अनन्तगुणोंरूप भाव तो त्रिकाल है। पर्याय क्रम-क्रम से तीनों काल होती है ; परन्तु पर्याय का काल एक समय मात्र है। जो विकारी और अविकारी भाव होते हैं, वह उसका स्वकाल है; उस समय जगत में अन्य अनन्त पदार्थों का अस्तित्व है; लेकिन उनमें इस आत्मा के स्वकाल का नास्तित्व है अर्थात् आत्मा को परद्रव्य से कुछ लाभ-हानि नहीं है। आत्मा के स्वकाल का आधार तो स्वद्रव्य है; अतः स्वद्रव्य पर दृष्टि जाती है। मैं स्वपने हूँ, परपने नहीं – इसप्रकार पर के भेदज्ञानपूर्वक स्व में स्थित हुआ, पश्चात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वद्रव्य में भी मैं मात्र चिदानन्दतत्त्व हूँ, विकार नहीं – इसप्रकार भेदज्ञान करके शुद्धस्वभाव का आश्रय करने से धर्म प्रगट होता है। द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय क्षणिक है; जिसने ऐसा माना, उसकी रुचि का जोर द्रव्यस्वभाव ऊपर जाय बिना नहीं रहता।

जिसप्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव – इन चारों के अखण्डरूप एक अस्तित्वधर्म है, कोई भिन्न-भिन्न चार प्रकार का अस्तित्व नहीं है। उसीप्रकार परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव इन चारों के अभावरूप नास्तित्वधर्म है, भिन्न-भिन्न चार नास्तित्वधर्म नहीं हैं।

जहाँ अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से बताया, वहाँ तो मात्र अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा है। और जहाँ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वधर्म कहा है, वहाँ अपने द्रव्य के अलावा दूसरे अनन्तद्रव्यों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आ जाता है; उन सभी परपदार्थोंपने आत्मा का नास्तित्व है।

जो आत्मा अपने स्वद्रव्य से अस्तित्वरूप है, वही आत्मा परद्रव्य की अपेक्षा अद्रव्य है। पर से नास्तित्व है – ऐसा कहो अथवा पर की अपेक्षा अद्रव्य है – ऐसा कहो; दोनों एक ही है। इसीप्रकार आत्मा स्वक्षेत्र से है और परक्षेत्र की अपेक्षा 'अक्षेत्र' है, स्वकाल से है और परकाल की अपेक्षा 'अकाल' है, स्वभाव से है और परभाव की अपेक्षा 'अभाव' है।

जिसप्रकार तीर अपने द्रव्य की अपेक्षा लोहमय है और दूसरे तीर के लोहे की अपेक्षा वही तीर अलोहमय भी है। उसीप्रकार आत्मा स्वद्रव्यमय है और परद्रव्यमय नहीं है अर्थात् अद्रव्यमय भी है। अस्तित्वनय से देखने पर वह अपने द्रव्यमय है और नास्तित्वनय से देखने पर वह स्वयं ही अद्रव्यमय है अर्थात् परद्रव्यपने नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य का द्रव्य, परद्रव्य का क्षेत्र, परद्रव्य का काल और परद्रव्य का भाव इनसे आत्मा का नास्तित्व है।

स्वचतुष्टय से देखने पर आत्मा है और परचतुष्टय से देखने पर आत्मा स्वयं अभावरूप है – इसप्रकार दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साथ रहते हैं। यह धर्म परस्पर सापेक्ष हैं अर्थात् वस्तु के एक धर्म का जानते समय, अन्य धर्मों का अभाव नहीं होता, वह भी गौणपने वस्तु में मौजूद रहते हैं।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि जो तीर लोहमय है, वही अलोहमय कैसे हो सकता है ? जो आत्मा है, वही आत्मा नहीं है – यह कैसे हो सकता है ? पर भाई ! तू स्याद्वाद से समझ, स्याद्वाद की अपेक्षाऐं कैसे बदलती हैं – यह जाने बिना वस्तुस्वरूप समझ में नहीं आता। तीर को लोहमय कहा वहाँ 'स्व' की अपेक्षा है और उसी तीर को अलोहमय कहा, वहाँ पर की अपेक्षा है – इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से दोनों धर्म एक ही पदार्थ में सिद्ध होते है। इसीप्रकार जो आत्मा स्वचतुष्टय से है, वही आत्मा परचतुष्टय से नहीं है – इसप्रकार दोनों धर्म एक ही आत्मा में सिद्ध होते हैं – ऐसा अनेकान्तिक वस्तुस्वरूप है।

मैं मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपने हूँ और मेरे सिवाय अन्य समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपने अद्रव्यमय, अक्षेत्रमय, अकालमय और अभावमयपने हूँ। इसप्रकार जो जीव परमार्थतः नास्तित्व धर्म को जानता है, समझता है, वह जीव परपदार्थ से सुख नहीं मानता; परपदार्थ मुझे अनुकूल हो तो ठीक और प्रतिकूल हो तो अठीक – ऐसा मिथ्याभाव उसे नहीं होता।

'पर से मुझे सुख होता है' – ऐसा मिथ्याभाव स्वयं दुखरूप है। अज्ञानी भले ऐसा मानता हो कि पर से मुझे सुख होता है; परन्तु भाई ! पर में तो सुख का अभाव है, पर में सुखबुद्धि की मिथ्या मान्यता का अस्तित्व तेरी पर्याय में है और उस मिथ्यात्व से आत्मा को दुख होता है; लेकिन वह दुखरूप भाव आत्मा की क्षणिक पर्याय में है और त्रिकाली भाव में तो उसका भी अभाव है।

– इसप्रकार नास्तित्वनय से आत्मा को पर से अभावरूप जानता हुआ ज्ञान अपने स्वभाव में ढलता है। आत्मा पर से तो सर्वथा अभावरूप है अर्थात् उसे परपदार्थ से किञ्चित् भी लाभ या नुकसान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होता। जो जीव ऐसा निर्णय कर लेता है, उसे पर के प्रति तीव्र राग-द्वेष तो होता ही नहीं तथा जो अल्प राग-द्वेष होता है, वह भी पर के कारण नहीं होता। राग वह अपना स्वकाल है और स्वकाल में परकाल का अभाव है अर्थात् राग वह स्वयं का स्वकाल है; परन्तु वह स्व-पर्याय मात्र में विकार है, त्रिकाली द्रव्य में नहीं। जिसने इसप्रकार जाना, उसकी परणति ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना नहीं रहती – इसप्रकार स्वभाव का वास्तविक ज्ञान होना ही नय का तात्पर्य है।

भले ही नय से जिसे चाहे उसे मुख्य करके जाने, शुद्धता को जाने अथवा राग को जाने; परन्तु उसका वास्तविक तात्पर्य तो अन्त में शुद्ध चैतन्यद्रव्य के सन्मुख होना ही है।

पर की अपेक्षा आत्मा का अभाव है ओर आत्मा में पर का अभाव है – इसलिए पर के कारण आत्मा को ज्ञान होता है, अथवा पर आत्मा का ज्ञान बिगड़ता है – ऐसा नहीं है। निर्दोष सादा आहार करने से निर्दोष पवित्र भाव रहते हैं और सदोष रसवाला आहार करने से बुद्धि बिगड़ जाती है – ऐसा नहीं है; यह सभी नास्तित्वधर्म में आ जाता है।

अस्ति-नास्ति स्वभाव बराबर समझ में आ जाये, तो सभी शंकायें समाप्त हो जायें। सिद्ध भगवान का आत्मा अथवा निगोद में रहनेवाला आत्मा – कोई भी आत्मा पर से नहीं है। सिद्ध भगवान के आत्मा का स्वकाल ही ऐसा है कि वह आत्मा अलोकाकाश में नहीं जाता, लोक में ही रहने का उनके आत्मा का स्वकाल है; निमित्त नहीं है, इसलिए वे अलोकाकाश में नहीं जाते – ऐसा नहीं है। इसीप्रकार निगोद का जीव निगोददशा में रहता, वह भी उसके अस्तित्व का स्वकाल है। उसमें कर्म के कारण वह जीव निगोददशा में रहता है – ऐसा नहीं है। यदि कर्म के कारण आत्मा को निगोद में रहना पड़े – ऐसा माने तो कर्म के अस्तित्व के कारण आत्मा के स्वकाल का अस्तित्व मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में जीव का अस्तित्व भी पराधीन हो जायेगा; अर्थात् जीव के नास्तित्वधर्म का भी अभाव सिद्ध होगा, परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब जीव कर्म से भिन्न है, तब कर्म जीव का क्या करे ?

अहा ! परपने मेरा अभाव है अर्थात् पर में मेरी शान्ति का अभाव है; इसलिए मेरी शान्ति मुझे मेरे में खोजना चाहिए – ऐसा निर्णय करने वाला जीव स्व-सन्मुख होकर शान्ति का अनुभव करता है । अपनी आत्मा के अन्तरस्वभाव में ही शान्ति है और अशान्ति भी खुद की पर्याय में ही है। आत्मा की शान्ति अथवा अशान्ति पर के कारण नहीं है ।

शरीर और आत्मा दोनों के बीच में नास्तित्व होने से उनमें अनन्त योजन का अन्तर है । आकाश के क्षेत्र में अन्तर भले न हो, पर भाव से तो उनमें अनन्त योजन का अन्तर है ही । अत: इस देह के साथ आत्मा की शान्ति-अशान्ति का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । आत्मा तो स्वयं के नास्तित्व धर्म के कारण देहातीत, वचनातीत, कर्मातीत है और पर्याय में जो क्षणिक विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है । अर्थात् स्वभाव तो विकार से भी रहित है । आत्मा के आस्ति-नास्ति के स्वभाव को समझते ही इसप्रकार का भेदज्ञान हो जाता है – ऐसा यह लोकोत्तर वीतरागी-विज्ञान है । यह विज्ञान समझे तो पर के साथ एकत्वबुद्धि छूटकर अन्तर स्वभाव में एकत्वबुद्धि हो और शीघ्र ही इस संसार से मुक्ति मिले ।

– इस प्रकार नास्तित्वनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

५

अस्तित्व-नास्तित्वनय

अस्तित्व नास्तित्वनयेनायोमयानयोमय गुण कार्मुकान्तरालव-र्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्ति संहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखाल-क्ष्योन्मुख प्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्ति-त्वनास्तित्ववत् ।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व-नास्तित्ववाला है; लोहमय तथा अलोहमय डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख – ऐसे पहले के बाण की भाँति ।

जिसप्रकार पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है; उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है ।

आत्मा स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और परचतुष्टय से नास्तिरूप है; स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप – ऐसे अस्तित्व-नास्तित्वधर्म को जो नय जानता है, उसका नाम अस्तित्व-नास्तित्वनय है । स्व से अस्ति और पर से नास्ति – यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही हैं । वाणी द्वारा उन सभी धर्मों का कथन क्रम से किया जाता है, उनके वाच्यरूप एक अस्तित्व-नास्तित्वधर्म भी आत्मा में ही रहता है और उसे जाननेवाला अस्तित्व-नास्तित्वनय भी आत्मा में रहता है । वस्तु का धर्म, उसे कहने वाली वाणी और उसे जाननेवाला ज्ञान – ये तीनों स्वतन्त्र हैं, कोई किसी के कारण नहीं हैं ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु में अस्तिधर्म और नास्तिधर्म एकसाथ हैं और वाणी के द्वारा वे क्रमशः कहे जाते हैं। आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, आत्मा स्वयं वाणी नहीं बोल सकता; लेकिन वाणी द्वारा आत्मा के धर्म का वर्णन हो सकता है – ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है। यदि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य ही हो तो सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो वस्तुस्वरूप आया है, उसकी दूसरे जीवों को खबर ही नहीं पड़े। अतः आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य कहना भी सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि 'आत्मा अवक्तव्य है – जहाँ ऐसा कहा, वहाँ ही कंथचित् वक्तव्यपना हो गया।

यहाँ आत्मा को वक्तव्य कहा – इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि आत्मा वाणी बोल सकता है; आत्मा तो तीनों काल वाणी को कर ही नहीं सकता। उसीप्रकार वाणी से जानता भी नहीं है, क्योंकि वाणी तो जड़ है। आत्मा वाणी से वक्तव्य (कहने योग्य) है; परन्तु वाणी से जानने योग्य नहीं। जानने में तो अपने ज्ञान से ही आता है।

जिस समय आत्मा में स्व से अस्तिपना है उसी समय पर से नास्तिपना भी मौजूद है। छद्मस्थ की वाणी में वे दोनों धर्म भले एकसाथ नहीं कहे जायें; परन्तु क्रम-क्रम से वे दोनों धर्म कहे जा सकते हैं। वस्तु में तो धर्म सभी एक ही साथ हैं और ज्ञान एक ही साथ सभी को जानता है। जिसप्रकार स्व से होनेरूप अस्तित्वधर्म वस्तु का स्वयं का स्वभाव है, उसीप्रकार पर से न होनेरूप नास्तित्वधर्म भी वस्तु का स्वयं का स्वभाव है।

शंका – वस्तु में अकेला अस्तित्वधर्म ही कहो न ? नास्तित्वधर्म कहने में पर की अपेक्षा आती है, अतः उसका क्या काम ?

समाधान – जिसप्रकार स्वपने अस्तित्व वस्तु का स्वयं का धर्म है, उसीप्रकार परपने नास्तित्व भी वस्तु का स्वयं का ही धर्म है। उसमें पर की अपेक्षा भले हो, तो भी वह धर्म पर के कारण या पर के आश्रित नहीं है। 'पररूप नहीं होना' – ऐसा जो पर के अभावरूप भाव (नास्तित्वधर्म) है, वह भी स्वज्ञेय का अंश है; जो उसे न माने तो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नहीं होती तथा आत्मा में अकेला अस्तित्व ही माना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गया और नास्तित्व को नहीं माना गया, तो जिसप्रकार आत्मा चेतनस्वरूप है; उसीप्रकार आत्मा जड़स्वरूप भी हो जायेगा । तथा 'आत्मा जड़स्वरूप नहीं है' – ऐसा कहते ही आत्मा का नास्तित्वधर्म सिद्ध हो जाता है । जड़ तीनों काल जड़ रहता है और चेतन तीनों काल चेतन रहता है ; इसीप्रकार एक आत्मा दूसरे आत्मापने भी कभी नहीं होता ।

यहाँ तो आचार्यदेव अस्ति-नास्ति आदि सातों भंगों का सात प्रकार वर्णन करते हैं । पहला अस्तित्वधर्म और दूसरा नास्तित्वधर्म – इनके बाद यह तीसरा अस्तित्व–नास्तित्वधर्म भी आत्मा में है ।

आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व यह दो ही धर्म वास्तविक है; बाकी के पाँच भंग कहे, वह उपचरित है – ऐसा नहीं है । सप्तभंगी के जो सात भंग हैं; उन सातों के वाच्यरूप सात भिन्न-भिन्न धर्म आत्मा में हैं । जिसप्रकार वाचक में सात प्रकार हैं, उसीप्रकार वाच्य में भी सात धर्म हैं।

देखो ! यह कोई बाह्यपदार्थ की बात नहीं है; परन्तु स्वयं का आत्मा ही अनन्तधर्मों से परिपूर्ण चैतन्यपिण्ड है और इसी की बात यहाँ चलती है । इसलिए स्वयं के आत्मा की अर्थात् स्वयं की महिमा लाकर इस बात को समझना चाहिए । भाँति-भाँति से जानने में कंटाला नहीं आना चाहिए; क्योंकि भाँति-भाँति से जानना कोई उपाधि नहीं है, बल्कि वह ज्ञान की निर्मलता का कारण है । जिसे स्वयं का आत्महित करना हो, धर्म करना हो; उसे पहले इतना तो नक्की कर ही लेना चाहिए कि धर्म कहीं बाह्यपदार्थ में से नहीं होना है । धर्म तो अन्तर में आत्मस्वभाव को समझने से होता है, अतः सर्वप्रथम आत्मा की सच्ची परख करना, जानना; वही धर्म का उपाय है । जिसे इस बात की आवश्यकता भासित होती है और वह समझना चाहे तो समझ में आती है; आये बिना नहीं रहती ।

इस परिशिष्ट में शिष्य ने यह प्रश्न पूछा है कि हे प्रभो ! यह आत्मा कैसा है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसे धर्म करने की भावना जागी हो, उसे आत्मा का स्वरूप जानने के लिये पहले यह प्रश्न उठता है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप जाने बिना धर्म प्रगट नहीं होता; धर्म तो आत्मा में एकाग्रतारूप दशा का नाम है।

आत्मा कैसा है ? पहले यह जाने और इसकी महिमा जाने, तो इसमें ठहरे और ज्ञान एकाग्र हो। आत्मा कैसा है ? यह जाने बिना जीव ने अनादि से पर में और विकार में एकाग्रता की है। अनन्तधर्मात्मक आत्मा की महिमा जानकर उसमें लीन होना धर्म है। ऐसा धर्म प्रगट करने की भावनावाला शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! वह आत्मा कैसा है? जिसमें लीन होने से परमात्मदशा प्रगट होती है और संसार भ्रमण का अभाव होता है।

ऐसे शिष्य को समझाने के लिए आचार्यदेव उस आत्मा का वर्णन करते हैं –

आत्मा अनन्तगुणात्मक एकद्रव्य है, और वह स्वानुभव से जाना जाता है। स्वानुभव के अलावा बाह्य क्रियाकाण्ड आदि किसी भी उपाय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मद्रव्य का स्वरूप समझने के लिए यहाँ सैंतालीस नयों से आत्मा का वर्णन किया गया है। उनमें प्रथम द्रव्यनय से आत्मा सामान्य चिन्मात्र एकरूप है – ऐसा कहा। पश्चात् दूसरे पर्यायनय से आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि भेदरूप है – ऐसा कहा;- इसप्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध किये हैं। वस्तु में समस्त धर्म एकसाथ ही हैं। द्रव्यनय और पर्यायनय – इन दो नयों से वर्णन करके पश्चात् तीसरे बोल से (नय से) सप्तभंगी का वर्णन शुरू किया है। तीसरे बोल में ऐसा कहा है कि अस्तित्वनय से देखने पर आत्मद्रव्य स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है और चौथे बोल में कहा है कि नास्तित्वनय से देखने पर परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है। पाँचवे बोल में कहते हैं कि अस्तित्व-नास्तित्वनय से देखने पर वही आत्मद्रव्य क्रमशः स्वपरचतुष्टय से अस्तित्व-नास्तित्ववाला है।

कई लोगों को ऐसा ज्ञान करने में कंटाला आता है, अतः वे ध्यान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करने की मांग करते हैं; परन्तु भाई ! इसप्रकार अनन्तधर्मात्मक आत्मा को जाने बिना ध्यान किसका करेगा ? तुझे आत्मा की महिमा तो ज्ञान में भासित हुई नहीं, तो यथार्थध्यान प्रगट कैसे होगा ? स्थूल विकल्प कम होने पर और अंतरंग सातावेदनीय के कारण आनन्द जैसा लगता है, इसलिये मान लेता है कि मुझे बहुत एकाग्रता होती है। वास्तव में उसे एकाग्रता नहीं होती; परन्तु अज्ञानता बढ़ती जाती है; और अज्ञानता के कारण वह अपने परिणाम को नहीं पकड़ पाता। अभी तो तत्त्व के निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, तो एकाग्रता कैसी ? आनन्द कैसा ? जो अज्ञानता के कारण राग में एकाग्र होकर आनन्द मान रहा है, वह धर्मी नहीं, मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो आचार्यदेव स्पष्ट रीति से वस्तुस्वरूप समझाते हैं।

प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न अपने-अपने अनन्त धर्मोंवाला है। प्रत्येक आत्मा में पृथक्-पृथक् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वपना और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वपना दोनों एकसाथ हैं।

शंका–अकेला अस्तित्व ही कहो न ? एक अस्तित्व में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव – ये चार भेद क्यों करते हो ? चार प्रकार से जानने पर तो विकल्प होता है।

समाधान – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – ये चार भेद वस्तु में ही हैं। वस्तु के द्रव्य को, क्षेत्र को, काल को और भाव को यथार्थ समझे, तो ही वस्तु के अस्तित्व को यथार्थ माना कहलाये; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – इन चार भेदों से जानना ही तो वस्तु का यथार्थज्ञान है, वह कोई विकल्प नहीं है। 'आत्मा है'– ऐसा तो माने; परन्तु उसका क्षेत्र कितना है, पर्याय कैसी है, धर्म कितने हैं – यह न जाने तो आत्मा का अस्तित्व ही यथार्थपने ख्याल में नहीं आता। अस्तित्व कहने पर उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – ये चारों समा जाते हैं, इसलिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जानना चाहिए।

द्रव्य – आत्मा अनन्तगुण-पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है, वह दूसरे अनन्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा और जड़ द्रव्यों से भिन्न है।

क्षेत्र – आत्मा के असंख्यप्रदेश आत्मा का स्वक्षेत्र है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उसी क्षेत्र में दूसरे अनन्त जीव तथा पुद्गल आदि द्रव्य भी हैं; परन्तु प्रत्येक का स्वक्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

काल – प्रत्येक समय की पर्याय आत्मा का स्वकाल है। प्रत्येक पर्याय वह स्वयं की अपेक्षा से अस्तिरूप है और पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है।

भाव – आत्मा की अनन्त शक्तियाँ, वह आत्मा की स्वभाव है।

– इसप्रकार अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से आत्मा है तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नहीं है – ऐसा अस्तित्व- नास्तित्व नाम का आत्मा का एक धर्म है।

निगोद से लेकर सिद्ध तक की कोई भी पर्याय हो, प्रत्येक पर्याय स्व-अपेक्षा है और पर अपेक्षा नहीं है। निगोदपर्याय स्वयं से है और पर से नहीं, सिद्धपर्याय भी स्वयं से है पर से नहीं, साधकपर्याय भी स्वयं से है पर से नहीं। बस, प्रत्येक समय की पर्याय स्वतंत्र है। यदि पर्याय स्वतंत्र न मानी जाय, तो स्वकाल से अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

निगोदपर्याय स्वतंत्र है – ऐसा कहा, उसका अर्थ ऐसा न जानना कि वह पर्याय पूर्ण है। जिसप्रकार सिद्धपर्याय परिपूर्ण है, उसीप्रकार निगोदपर्याय परिपूर्ण नहीं है। निगोदपर्याय तो अनन्तवेंभाग हीन है। उस पर्याय में ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि का अनन्तवाँभाग प्रगट हैं; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि वह पर्याय अत्यन्त हीन होने पर भी स्वकाल से संपूर्ण द्रव्य के अस्तित्व को टिकाये रखती है अर्थात् उस एक पर्याय में संपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध करने की ताकत है। यदि एक अंश को निकाल दिया जाय तो द्रव्य ही सिद्ध नहीं होता। तब वर्तमान वर्तता स्वकाल आदि द्रव्य का अस्तित्व ही कहाँ से निश्चित हो ? अस्तित्व कहने पर उसमें स्वकाल गर्भित हो ही जाता है। निगोदपर्याय के समय भी आत्मा का अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से परिपूर्ण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अस्तित्व है; वहाँ पर्याय का परिणमन पूर्ण नहीं है, तो भी अस्तित्व तो प्रत्येक समय पूरा ही है। बाद की विशेषपर्याय की अपेक्षा से वर्तमान पर्याय में अधूरापन कहलाता है; परन्तु वर्तमान समय की अपेक्षा तो उस समय का अस्तित्व स्वचतुष्टय से पूर्ण है । प्रत्येक समय में आत्मा अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता है । आत्मा एक समय भी पर की अपेक्षा से नहीं रहता । प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में ही रहता है।

यहाँ अनन्तधर्मात्मक आत्मा का वर्णन चलता है । आत्मा अनन्तधर्मात्मक है और उसे जाननेवाला ज्ञान भी अनन्त नयात्मक है । अनन्तधर्मात्मक आत्मा को स्वीकार करने में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आता है । कोई इन्द्रिय से अथवा राग से अनन्तधर्मात्मक आत्मा को स्वीकार नहीं कर सकता । स्वसन्मुख हुए ज्ञान में ही अनन्तधर्मात्मक आत्मा का यथार्थ स्वीकार होता है। साधकजीव का श्रुतज्ञान प्रमाण है, वह अनन्तनयात्मक है और वह स्वानुभव से स्वयं अनन्तधर्मात्मक आत्मा को जानता है ।

ज्ञान के पाँच प्रकारों में श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं, अन्य किसी ज्ञान में नय नहीं होते ।

शंका – श्रुतज्ञान में ही नय क्यों होते हैं, अन्य ज्ञानों में क्यों नहीं ?

समाधान – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल – इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में अवधि, मन:पर्यय और केवल तो प्रत्यक्ष हैं और मति तथा श्रुतज्ञान परोक्ष हैं तथा नय परोक्षज्ञान है । प्रत्यक्षज्ञान का अंग तो प्रत्यक्ष ही होता है, अत: उनमें नय नहीं होते । केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान भी अपने-अपने विषय में प्रत्यक्ष हैं; इसलिए इन प्रत्यक्ष ज्ञानों में तो परोक्षरूप नय होते नहीं । मतिज्ञान जो कि परोक्ष है और उसका विषय भी अल्प है । वह मात्र वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है, वह सर्वक्षेत्र और सर्वकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण नहीं करता, इसलिए उसमें भी नय नहीं होते; क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नय का काम संपूर्ण पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसके अंश को जानना है, श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र- कालवर्ती पदार्थ को परोक्षरूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसमें ही नय होते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हुआ है, उतना तो प्रमाण ही है और जितना परोक्षपने रहा है, उसमें नय होते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नहीं है। स्वसंवेदन में तो कुछ अंशोंरूप प्रत्यक्ष भी है। इसप्रकार स्वसंवेदनपूर्वक ही यथार्थ नय होते हैं।

श्रुतज्ञान केवलज्ञान की तरह सकल पदार्थों को भले न जाने, परन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थ को सकल काल-क्षेत्रसहित पूर्ण जानता है और उसके एकदेशरूप नय होते हैं। इसप्रकार जो ज्ञान परोक्ष होता है और सर्वकाल-क्षेत्रवर्ती पदार्थों को ग्रहण करता है, उस ज्ञान में ही नय होते हैं और इसप्रकार का ज्ञान तो श्रुतज्ञान है, इसलिए श्रुतज्ञान में ही नय होते। तीन ज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं और मतिज्ञान का विषय अल्प है, इसलिए इन ज्ञानों में नय नहीं होते।

श्रुतज्ञान त्रिकालीतत्त्व को परोक्षपने जानता है, इसलिए उसमें ही नय होते हैं। इस बात से यह न्याय भी निकलता है कि द्रव्यार्थिकनय मुख्य है और पर्यायार्थिकनय गौण है। त्रिकाली पदार्थ का ज्ञान हो, तो ही उसके अंशरूप ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकालीद्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अंश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। त्रिकालीद्रव्यसन्मुख होकर जाननेवाली ज्ञानपर्याय को व्यवहारनय कहा जाता है। त्रिकाली के ज्ञान बिना अंश के ज्ञानरूप व्यवहारनय नहीं होता। अतः यह बात निश्चित हुई कि निश्चय बिना व्यवहार नहीं होता, द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान नहीं होता। व्यवहारनय तो अंश को जानता है और वह अंश त्रिकालीद्रव्य का होता है, इसलिए त्रिकालीद्रव्य के ज्ञान बिना उसके अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को जाने, तो ही उसमें नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अकेली पर्याय को अथवा भेद को जाना जाय, तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है, मिथ्यात्व हो जाता है; उसमें नय नहीं होते। आत्मा नित्य है, शुद्ध है – ऐसा जाननेवाला नय त्रिकालीद्रव्य के ज्ञान बिना नहीं होता और शुद्धता, नित्यता आदि के जाने बिना अकेली अशुद्धता अथवा अनित्यता को जाना जाय, तो एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है। अर्थात् वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता।

यहाँ साधक के नयों की बात है। साधक को केवलज्ञान नहीं होता। साधक को चार ज्ञानों में श्रुतज्ञान की सामर्थ्य अधिक होती है। अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, प्रत्यक्ष होते हुए भी उनका विषय अल्प है और श्रुतज्ञान परोक्ष होते हुए भी उसका विषय विशाल है। श्रुतज्ञान अपने विषयभूत पदार्थ के सर्व क्षेत्र-काल को जानता है। इसप्रकार श्रुतज्ञान में अनन्त नय होते है। यहाँ पर को जाननेवाले नयों की बात नहीं है, परन्तु अपने आत्मा को जाननेवाले नयों की बात है। साधक जीव स्वयं अपने आत्मा को नयों से कैसा जानता है, इस बात का यहाँ वर्णन चलता है।

अस्तित्व-नास्तित्व नाम के नय से देखने पर आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व है, वस्तु में स्व-अपेक्षा अस्तित्वपना और पर-अपेक्षा नास्तित्वपना एक साथ ही है। ज्ञान भी एक समय में ही उन्हें जानता है और वह वाणी के द्वारा कथंचित् कहा जाता है। इसप्रकार सप्तभंगी के तीसरे बोल में अस्ति-नास्ति धर्म कहा। वाणी के द्वारा अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए अवक्तव्य है – यह बात अगले (चौथे) बोल में आयेगी।

यह तो वक्तव्य का बोल है। अस्ति-नास्ति दोनों धर्म ज्ञान में एकसाथ आ जाते हैं और वाणी से क्रम-क्रम से कहे जाते हैं – ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नाम का आत्मा का धर्म है। वाणी से कहने में भले क्रम पड़ता हो, तो भी ज्ञान और वस्तु में तो सभी धर्म एकसाथ ही हैं। अस्ति-नास्ति – ऐसा कहने में क्रम पड़ता है, परन्तु उसी वस्तु में वे धर्म

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक साथ रहते हैं क्रम-क्रम से नहीं। जिसमें अनन्तधर्मों का भाव एक साथ रहता है, वही द्रव्य है।

ज्ञान में अनन्तधर्म एकसाथ जानने में आते हैं, परन्तु वाणी में अनन्त धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, बल्कि क्रम से कहे जाते हैं। इसलिए वाणी से वस्तु पकड़ने में नहीं आती; परन्तु ज्ञान को अन्तर्मुख करके वस्तुस्वभाव जाना जाता है।

यहाँ ४७ नयों से ४७ धर्मों का वर्णन किया गया है, परन्तु उन ४७ नयों का तात्पर्य एक-एक धर्म को भेद से देखना नहीं है; परन्तु ऐसे अनन्तधर्मों को धारण करनेवाले चैतन्यद्रव्य को लक्ष्य में लेना – अनुभव करना ही उनका तात्पर्य है।

इस देह में ही परमात्मा

णविएहि जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह॥

अर्थ : हे भव्य! लोक में नमन करने योग्य पुरुष भी जिनको नमस्कार करते हैं, ध्यान्रे योग्य पुरुष भी जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं तथा स्तुति करने योग्य पुरुष भी जिसकी स्तुति करते हैं - ऐसा परमात्मा इस देह में ही विराजता है। उसको जैसे भी बने वैसे जान।

- आचार्य कुन्दकुन्द, मोक्षपाहुड़, गाथा १०३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

६

अवक्तव्यनय

अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्ति संहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख प्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ।

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है । लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख – ऐसे पहले के बाण की भांति ।

जिसप्रकार पहले का बाण युगपत् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अवक्तव्यनय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है ।

स्वचतुष्टय से अस्तित्व और परचतुष्टय से नास्तित्व – ऐसे दोनों धर्म आत्मा में एक ही साथ रहते हैं, फिर भी वाणी द्वारा वे दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते; क्योंकि 'स्व से अस्ति है' – ऐसा कहते समय दूसरे नास्तिधर्म का कथन शेष रह जाता है; इसीप्रकार 'पर से नास्ति है'- ऐसा कहते समय अस्तिधर्म का कथन शेष रह जाता है – इसप्रकार वाणी द्वारा दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, अतः आत्मा अवक्तव्य है; सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते – इस अपेक्षा अवक्तव्य कहा है । वे दोनों धर्म एकसाथ नहीं, पर क्रम से तो कहे ही जाते हैं और क्रम से कहे जाने की अपेक्षा वक्तव्य है; तथा युगपत् नहीं कहे जाने की अपेक्षा अवक्तव्य है । वस्तु में जिस समय अवक्तव्य धर्म है, उसी समय वक्तव्य धर्म भी है और यदि वक्तव्य धर्म

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वीकार न किया जाय, तो अवक्तव्य धर्म भी मिथ्या हो जाय।

अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक धर्म का ज्ञान नय है।

'अवक्तव्य' शब्द वाचक है और उसका वाच्यरूप भाव वह आत्मा का अवक्तव्यधर्म है। 'अवक्तव्य'– ऐसे शब्द में अवक्तव्यधर्म नहीं रहता, अवक्तव्यधर्म तो आत्मा में रहता है।

यह आत्मा दूसरे की सहायता बिना अपने में एकसाथ अनन्तधर्मों को धारण करनेवाले अपने स्वभाव से ही अनन्तधर्मात्मक है – ऐसी अनन्त महिमावाले अपने आत्मा की प्रतीति करे, तो ही सम्यक् श्रद्धा कही जाय, उसकी स्वीकृति करे तो उसके आश्रय से धर्म का आरम्भ हो। प्रत्येक आत्मा अनन्तधर्मात्मक धर्मी है और उसे स्वीकार करनेवाली श्रद्धा भी ऐसी ही आत्मतत्त्व के समान उत्कृष्ट होती है। वह श्रद्धा किसी निमित्त अथवा राग के आश्रय से नहीं होती, परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही होती है।

ऐसे आत्मा की स्वीकृति बिना 'आत्मा अखण्ड है, शुद्ध है'– ऐसा ऊपर-ऊपर से तो सुने; परन्तु आत्मा की महिमा जैसी है, वैसी भासित नहीं हुई हो; तो उसकी श्रद्धा मिथ्या है।

जो अनन्तधर्मात्मक आत्मा केवलज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उन सभी धर्मोंवाला आत्मा सम्यक्श्रद्धा की प्रतीति में आ जाता है। श्रद्धा अनन्तधर्मों में भेद नहीं करती, परन्तु अभेद आत्मा की प्रतीति में वे सभी धर्म समा जाते हैं। ज्ञानी अनन्तधर्मों के स्वीकारपूर्वक अभेद आत्मा की श्रद्धा करता है। जो जीव अपने आत्मा को अनन्तधर्मात्मक स्वीकार करता है, वह अपने को क्षणिक रागादिभाववाला नहीं मानता। आत्मा को राग बराबर ही माननेवाले ने आत्मा को अनन्तधर्मात्मक स्वीकार नहीं किया, तथा अनन्तधर्मात्मक आत्मा की स्वीकृति में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आ जाता है।

जो आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वधर्मवाला है वही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वधर्मवाला है । एकसाथ अस्ति-नास्ति दोनों धर्मवाला होने से अस्तित्व-नास्तित्वधर्मवाला है, और वे अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते – इस अपेक्षा वही आत्मा अवक्तव्यधर्मवाला है – इसप्रकार सप्तभंगी के चार भंग कहे।

यह अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए अपने आत्मद्रव्य को देखने के लिए ट्रेडमार्क (रजिस्टर्ड चिन्ह) है । सप्तभंगी के द्वारा आत्मा को पर से भिन्न और अपने अनन्तधर्मों से अभिन्न जाना जाता है । यह सप्तभंगी तो प्रत्येक द्रव्य में लागू पड़ती है, पर यहाँ तो आत्मा के धर्मों का वर्णन चलता है । इसलिए यहाँ तो मात्र आत्मा के ऊपर ही घटाई है ।

सप्तभंगी के चार भंग कहे, अब पाँचवाँ भंग कहते हैं । सैंतालीस धर्मों के क्रम में यह सातवाँ धर्म है ।

द्रव्य व चरण की सापेक्षता

(वसंततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्यान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।

अर्थ : चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है - इसप्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षा सहित हैं; इसलिये या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो ।

आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार टीका श्लोक - ११६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

७

अस्तित्व-अवक्तव्यनय

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थल-क्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्ति संहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ।

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला अवक्तव्य है ।

ये अस्तित्व-नास्तित्व आदि सातों प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में हैं। वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व – ये दो धर्म ही है, शेष पाँच नहीं ; –ऐसा नहीं है । यदि वस्तु में सातों धर्म न हों तो उनका कथन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वाचक वाच्य को बताता है ।

'वस्तु स्वपने है' – ऐसा अस्तित्वनय कहता है । 'वस्तु परपने नहीं है' – ऐसा नास्तित्वनय कहता है । 'वस्तु स्वपने है और परपने नहीं है' – ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नय क्रम से कहता है ।

–इसप्रकार पहले तीन भंग वक्तव्य में आते है । 'वस्तु स्वपने है और परपने नहीं है'– ऐसे दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते; इसलिए अवक्तव्य है । 'वस्तु स्वपने है' – ऐसा अस्तित्वनय के कथन करते समय, 'वस्तु परपने नहीं है' – ऐसे नास्तित्वनय का कथन शेष रह जाता है । 'अस्तित्व' कहा गया, परन्तु दोनों एकसाथ नहीं कहे गए – इस

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपेक्षा अस्ति-अवक्तव्य है ।

जिसप्रकार अस्तित्व इत्यादि सात नय भिन्न-भिन्न हैं, उसीप्रकार उन सात नयों के विषयभूत सात धर्म भी वस्तु में भिन्न-भिन्न हैं ।

अस्तित्व कहने पर वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एकसाथ आ जाते हैं । 'मैं आत्मा हूँ और अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हूँ' – जिससमय ऐसा अस्तित्वनय ने जाना, उसीसमय 'मैं परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से नहीं हूँ' – ऐसा नास्तित्वधर्म का ज्ञान भी मौजूद रहता है । वस्तु में समस्त धर्म एकसाथ रहते हैं, प्रमाणज्ञान सभी धर्मों को एकसाथ जानता है; परन्तु वाणी द्वारा सभी धर्म एकसाथ कहे नहीं जा सकते – इस अपेक्षा आत्मा 'अस्तित्व-अवक्तव्य' धर्मवाला है। जो ज्ञान इस अपेक्षा आत्मा को लक्ष्य में लेता है, उस ज्ञान को अस्तित्व अवक्तव्यनय कहा जाता है।

प्रत्येक आत्मा एकसमय में अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता है । अनन्तधर्मात्मक आत्मा सभी जीवों के एक-सा देखा गया है । एक धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में अमुक प्रकार का और दूसरे धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में उससे भिन्न प्रकार का आत्मा आता हो – ऐसी विविधता नहीं होती ।

ऐसे आत्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान के बाद किसी को उसमें विशेष लीनता हो और किसी को कम लीनता हो – ऐसी चारित्र में तो विविधता होती है; परन्तु उसमें विरोध नहीं होता । हीनाधिकता की अपेक्षा विविधता होते हुए भी उनकी जाति तो एक ही प्रकार की है, इसलिए उसमें विरोध नही है । अनन्त ज्ञानियों का अभिप्राय एक-सा ही होता है। जैसा आत्मा केवली भगवान की श्रद्धा में आया है, वैसा ही आत्मा चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों की श्रद्धा में आया है । आत्मा को आत्मा के अनन्तधर्मों द्वारा देखना ही आत्मा की सच्ची श्रद्धा है । इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा के धर्मों का वर्णन किया है; उसमें सात भंगों में से 'अस्तित्व-अवक्तव्य' नाम का पाँचवा भंग कहा, अब छठवाँ भंग कहते हैं, जो सैंतालीस धर्मों में आठवाँ धर्म है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

नास्तित्व-अवक्तव्यनय

नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्य क्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चनास्तित्ववदवक्तव्यम् ।

अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधातदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला अवक्तव्य है ।

अस्तित्व-अवक्तव्य की तरह यह धर्म भी समझ लेना चाहिए । जिसप्रकार अस्तित्वधर्म का कथन करते समय नास्तित्व आदि का कथन शेष रह जाता है, इसलिए उसे अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा; उसीप्रकार 'आत्मा परपने नहीं है' – ऐसा नास्तित्वधर्म का कथन करते समय 'आत्मा स्वपने है' – ऐसा अस्तित्व का कथन शेष रह जाता है । नास्तित्वधर्म कहा जा सकता है; लेकिन दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए आत्मा नास्तित्व-अवक्तव्यवाला है ।

९

अस्तित्व-नास्तित्व अवक्तव्यनय

अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्ति-संहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तन-विशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्व-परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ।

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में नहीं रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-नास्तित्ववाला अवक्तव्य है ।

यह सप्तभंगी का अन्तिम भंग है–

आत्मा में स्वपने अस्तित्व है, परपने नास्तित्व है, यह दोनों धर्म (अस्तित्व और नास्तित्व) क्रमशः कहे जा सकते हैं, एकसाथ नहीं – इसप्रकार नहीं कहे जाने की अपेक्षा आत्मा 'अस्तित्व-नास्तित्व अवक्तव्य' है ।

इस धर्म में तीन शब्द होने के कारण तीनों के वाच्यरूप तीन भिन्न-भिन्न धर्म भी हों – ऐसा नहीं है; परन्तु तीनों शब्दों के वाच्यरूप एक 'अस्तित्व-नास्तित्व अवक्तव्य' नामका धर्म है – ऐसा जानना चाहिए ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार अस्ति, नास्ति आदि सात धर्मों का वर्णन पूर्ण हुआ।

यहाँ जो अस्ति-नास्ति आदि सात धर्म कहे, वे सभी पदार्थों में रहते हैं। प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म रजकण में भी यह सातों धर्म पाये जाते हैं।

मेरा अस्तित्व मेरे में है, पर में नहीं और पर का अस्तित्व पर में है, मेरे में नहीं। किसी भी परवस्तु से मुझे सुख–दुःख नहीं होता और मेरे द्वारा भी परपदार्थों में कोई फेर-बदल नहीं होता – इसप्रकार जानने पर ही सप्तभंगी को यथार्थ जाना कहलाता है। परवस्तु से सुख-दुःख होता है अथवा मैं परवस्तु का परिणमन आगे-पीछे कर सकता हूँ – ऐसा माननेवाले ने अस्ति-नास्ति आदि धर्मों को यथार्थ नहीं जाना।

देव-गुरु-शास्त्र से मुझे लाभ होता है और कर्मों से हानि होती है – ऐसा माननेवाले ने अस्ति-नास्ति आदि को यथार्थ नहीं जाना; क्योंकि जिसका अपने में अभाव है, वह अपने को लाभ-हानि कैसे पहुँचा सकता है ?

नारकी जीव को नरक की सर्दी-गर्मी का दुःख नहीं है, क्योंकि उनसे तो आत्मा नास्तिरूप है; इन्द्र के जीव को इन्द्राणी के संयोग का सुख नहीं है, क्योंकि उनसे तो आत्मा नास्तिरूप है। जिसे ऐसा समझ में आ जाता है, उसे अनुकूलता में सुखबुद्धि एवं प्रतिकूलता में दुखबुद्धि नहीं होती; अनन्तानुबंधी राग-द्वेष तो उन्हें होता ही नहीं है – इसप्रकार वस्तुस्वरूप समझते ही अनन्त राग-द्वेष का अभाव होता है, वस्तुस्वरूप समझे बिना अन्य चाहे जितने उपाय करे तो भी अनन्तानुबंधी राग-द्वेष नहीं मिटता। अस्ति-नास्ति धर्मों से वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने पर परपदार्थ से भिन्नता का भान होने पर स्वाश्रय पूर्वक सच्चा सुख प्रगट होता है।

जिसप्रकार आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपने वर्तता है, कर्मपने नहीं; उसीप्रकार कर्म भी कर्मपने वर्तते हैं, आत्मापने नहीं। इसलिए आत्मा को जड़कर्मों का भार है ही नहीं।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान को कर्म का भार नहीं है, वे कर्म के भार से रहित निर्भार हैं; उसीप्रकार किसी भी आत्मा में कर्म का भार नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा के ऊपर कर्म का भार है – यह तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है। वास्तव में तो आत्मा में कर्म की नास्ति ही है। लोकाग्र के अन्तिम भाग में जहाँ अनन्त सिद्धभगवान अपने पूर्णानंद में विराजमान हैं, वहीं अनन्त निगोदिया जीव भी अनन्तदुःख का वेदन कर रहे हैं। दोनों का क्षेत्र एक होते हुए भी दोनों का आत्मा (द्रव्य) भिन्न है, दोनों का क्षेत्र भिन्न है, दोनों का काल (पर्याय) भिन्न है और दोनों के भाव भिन्न हैं; क्योंकि सिद्धभगवान के चतुष्टय में निगोदिया जीव के चतुष्टय का अभाव है। आकाश के जिस क्षेत्र में अनन्त सिद्ध एवं अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, वहीं अनन्त कर्म भी रहते हैं। जिसप्रकार वहाँ सिद्धभगवान के कर्मों का भार नहीं है, उसीप्रकार निगोदिया जीव के कर्मों का भार नहीं है। सिद्धभगवान या निगोदिया जीव, सभी आत्मायें अपने स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और कर्म के चतुष्टय का उनमें अभाव है।

निगोद के जीव की अत्यन्त हीन पर्याय है, वह अपने स्वकाल के कारण हुई है, कर्म के कारण नहीं। जो ऐसा न माना जाये तो अस्ति-नास्ति धर्म ही सिद्ध नहीं होते। प्रत्येक जीव को सुख अथवा दुख अपने ही कारण होता है – ऐसा जानना निश्चय है, यथार्थ है और पर से मानना व्यवहार है, उपचार है; क्योंकि वह तो मात्र संयोगरूप निमित्त का ज्ञान कराया है। वास्तव में तो परपदार्थ की आत्मा में नास्ति है। इसलिए परपदार्थ से आत्मा को कभी भी सुख-दुःख नहीं होता।

आत्मा में अस्ति-नास्ति आदि अनन्तधर्म अनादि-अनन्त एकसमय में वर्त रहे हैं – ऐसे आत्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होने पर सम्यग्दर्शन होता है और इसके बिना धर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता। परपदार्थ की ओर देखने से आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता, क्योंकि आत्मा का कोई भी धर्म पर में नहीं है, आत्मा के अनन्तधर्म आत्मा में ही है। ऐसे अनन्तगुणात्मक आत्मा के सन्मुख होने पर पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी जैनदर्शन का मूल है। इससे जगत की प्रत्येक वस्तु का यथार्थ स्वरूप निश्चित किया जाता है। कोई ऐसा कहे कि शास्त्र से ज्ञान होता है तो कहते है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा में शास्त्र की नास्ति है। कोई कहे कि कर्म आत्मा के ज्ञान को रोकते हैं तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा में कर्म की नास्ति है।

सप्तभंगी से जीव सभी द्रव्यों से भिन्न ज्ञात होता है। जैसे – जीव स्वजीवपने है अन्य अनन्त जीवों के रूप में नहीं है अर्थात् एक जीव अन्य जीवों का कुछ नहीं कर सकता, दूसरे जीवों द्वारा भी इसका कुछ नहीं हो सकता। जीव स्वपने है, अनन्त पुद्गलोंपने नहीं अर्थात् जीव शरीरादि पुद्गलों का भी कुछ नहीं कर सकता और शरीर, कर्म इत्यादि पुद्गल भी जीव का कुछ नहीं कर सकते। जीव जीवपने है, धर्मास्तिकायपने नहीं ; अर्थात् जीव धर्मास्तिकाय के कारण गति नहीं करता। जीव जीवपने हैं, अधर्मास्तिकायपने नहीं; अर्थात् वह अधर्मास्तिकाय के कारण स्थिर नहीं रहता। जीव जीवपने है कालद्रव्यपने नहीं है; अर्थात वह कालद्रव्य के कारण परिणमन नहीं करता। जीव जीवपने है, आकाशद्रव्यपने नहीं है; अर्थात् जीव आकाश के क्षेत्र में नहीं रहता, बल्कि अपने स्वक्षेत्र में ही रहता है।

– इसप्रकार जो जीव अस्ति-नास्ति धर्म से अपने को समस्त परद्रव्यों से पृथक् जानता है, वह स्वभावसन्मुख हुए बिना नहीं रहता। आत्मा का नास्तित्वधर्म कहने से परद्रव्यों का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यदि परद्रव्य न हो तो उनके अभावरूप जीव का नास्तित्वधर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

इससे पूर्व सप्तभंगी द्वारा आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न बताया गया है, अब यहाँ अपने में अनन्त सप्तभंगी घटित करते हैं–

जगत में अनन्त द्रव्य हैं। उनमें प्रत्येक द्रव्य की स्वपने अस्ति एवं परपने नास्ति है – इसप्रकार द्रव्य में अनन्त सप्तभंगी समझना चाहिए।

आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्तगुण हैं। प्रत्येक गुण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वपने है, दूसरे अनन्त गुणोंपने नहीं– इसप्रकार गुणों में अनन्त सप्तभंगी समझना चाहिए।

प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, उनमें प्रत्येक पर्याय स्वपने है और आगे-पीछे की अनन्त पर्यायोंपने नहीं – इसप्रकार अनन्त पर्यायों में प्रत्येक की अनन्त सप्तभंगी समझना चाहिए।

प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभागीप्रतिच्छेद अंश हैं। उनमें प्रत्येक अंश स्वपने है और दूसरे अनन्त अंशोंपने नहीं – इसप्रकार प्रत्येक अविभागीप्रतिच्छेद अंश में भी अनन्त सप्तभंगी समझना चाहिए।

अब द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर अस्ति-नास्तिरूप सप्तभंगी घटित करते हैं–

द्रव्य द्रव्यपने है और एक गुणपने अथवा एक पर्यायपने नहीं है। एक गुण गुणपने है और सम्पूर्ण द्रव्यपने अथवा एक पर्यायपने नहीं है। एक पर्याय पर्यायपने है और सम्पूर्ण द्रव्यपने अथवा गुणपने नहीं है। यदि ऐसा नहीं हो तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों भिन्न-भिन्न ही सिद्ध नहीं होते।

सप्तभंगी बहुत विस्तृत है, इसमें चौदह ब्रह्माण्ड समा जाता है। यह तो सूक्ष्म वीतराग-विज्ञान है। संसारी जीव वस्तु को बाह्य संयोग की तरफ से देखता है। यह देखने की ही भूल है, संयोगदृष्टि ही संसार का मूल है, क्योंकि वस्तु में संयोग का अभाव है। अस्ति-नास्ति से वस्तु के निरपेक्ष स्वभाव को देखने से भूल का अभाव होता है।

जगत के अनन्त द्रव्यों में से एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य के अनन्तगुणों में एक गुण कभी दूसरे गुणरूप नहीं होता। प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायों में से एक पर्याय कभी दूसरी पर्यायरूप नहीं होती। द्रव्य द्रव्यपने सत्, गुण गुणपने सत् और पयार्यपने एक-एक समय की पर्याय भी सत्; क्योंकि कोई एक दूसरेपने नहीं होते।

अहो ! देखो तो सही ! यह निरपेक्ष वस्तु का स्वरूप;– ऐसा निरपेक्ष स्वरूप समझे तो ज्ञान में निरपेक्षता अर्थात् वीतरागता प्रगट होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टापने का अनुभव हो और इसी का नाम धर्म है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत् – सभी अपने-अपने में सत्स्वरूप ज्यों के त्यों शोभित हो रहे हैं। उन्हें ज्ञाता-दृष्टापने जानना ही एक मात्र काम है, आगे-पीछे या फेर-बदल करने का काम नहीं है; क्योंकि आगे-पीछे या फेर-बदल होना वस्तु का स्वभाव नहीं है। 'ऐसा क्यों ?' –ऐसा राग-द्वेष का विकल्प करना ज्ञान का स्वरूप नहीं है – इसप्रकार वस्तुस्वभाव की प्रतीति करते ही कर्त्तापने के मोह का अभाव होकर ज्ञातापना प्रगट होता है और यही धर्म है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्तधर्म हैं और उनको जाननेवाले श्रुतज्ञान में अनन्तनय हैं। एक-एक नय आत्मा के एक-एक धर्म को जानता है। यहाँ आत्मा के अंश को धर्म एवं श्रुतज्ञान के अंश को नय जानना। अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु को जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है, और उसके एक धर्म को मुख्य करके जानना नय का काम है। नय साधक के श्रुतज्ञान में ही होते है। केवली भगवान में अस्तित्वादि अनन्त धर्म तो हैं, परन्तु उनके ज्ञान में अस्तित्वादि कोई नय नहीं हैं। वे तो नयातीत हो गये हैं।

यहाँ तो जिसे नय द्वारा वस्तुस्वरूप साधना है – ऐसे साधक को ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप बताया गया है। सिद्ध परमात्मा अथवा एक परमाणु- प्रत्येक द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है; परन्तु यहाँ तो आत्मा को समझने का प्रयोजन होने से आत्मा के धर्मों को बताया गया है।

स्वचतुष्टय से आत्मा अस्तिरूप है और परचतुष्टय से आत्मा नास्तिरूप है। जो स्व-अपेक्षा से अस्तिरूप है, वही पर-अपेक्षा से नास्तिरूप है; परन्तु जिस अपेक्षा से अस्तिरूप है, उसी अपेक्षा से नास्तिरूप नहीं है। एक ही वस्तु में दो धर्म हैं, परन्तु दोनों धर्मों की अपेक्षाएँ जुदी-जुदी हैं, एक नहीं। जिस अपेक्षा से अस्तित्व है, उस अपेक्षा तो अस्तित्व ही है नास्तित्व नहीं।

जो स्वपने आत्मा है, वही परस्वरूप की अपेक्षा अनात्मा है। अनात्मा कहने पर लोगों को अटपटा लगता है कि आत्मा भी कभी अनात्मा हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकता है ? पर भाई ! 'आत्मा परपने नहीं है' – ऐसा कहो अथवा 'अनात्मा है' – ऐसा कहो, क्या अन्तर है ? एक ही बात है। अथवा तो आत्मा अपने आत्मा की अपेक्षा आत्मा है और दूसरे आत्मा की अपेक्षा यह आत्मा ही अनात्मा है।

जो क्षेत्ररूप है, वही अक्षेत्ररूप है; आत्मा स्वयं असंख्यप्रदेशों की अपेक्षा क्षेत्ररूप है और परक्षेत्र की अपेक्षा अक्षेत्ररूप है। क्षेत्रपना और अक्षेत्रपना – यह दोनों रूप आत्मा में ही हैं।

जो स्व-अपेक्षा कालरूप है, वही परकाल की अपेक्षा अकालरूप है। आत्मा स्वयं अपने स्वकाल से अस्तिरूप है और परकाल से नास्तिरूप है। अपनी एक-एक समय की पर्याय स्वकाल से अस्तिरूप है और वही पर्याय परकाल की अपेक्षा नास्तिरूप है।

इसीप्रकार जो भावरूप है, वही अभावरूप है। आत्मा का भाव स्वपने है और पर के भाव की अपेक्षा वह भाव नहीं है अर्थात् अभाव है। स्व-अपेक्षा आत्मा का भाव है और पर-अपेक्षा उसका अभाव है।

–इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों में अस्ति-नास्ति जानना चाहिए। आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का एक अंश भी पररूप नहीं होता और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का एक भी अंश आत्मा रूप नहीं होता – ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान पर से एकताबुद्धि छोड़कर स्वभाव का आश्रय करता है और मोक्षमार्ग शुरू हो जाता है।

'स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं' – ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप तो जाने नहीं और वस्तु को पराधीन माने, तो उसे यथार्थ समताभाव नहीं होता; क्योंकि वस्तुस्वरूप को पराधीन मानने में ही अनन्त विषमभाव है। भले बाहर से क्रोधी न दिखता हो, कषाय बहुत मंद हो; तो भी जबतक वस्तुस्वरूप का भान नहीं हुआ, तबतक समता का अंश भी प्रगट नहीं होता। ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनादर ही सबसे बड़ा विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। मेरा स्वभाव तो सम्पूर्ण पदार्थों को मात्र जानने का है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

–इसप्रकार वस्तु की स्वतन्त्रता को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समताभाव है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्तधर्मों को स्वतन्त्रपने धारण किये हुए है; क्योंकि वस्तु का कोई भी धर्म पर के कारण नहीं होता। अपने अनन्त-धर्मों का आधारभूत आत्मा स्वयं ही है।

द्रव्यनय, पर्यायनय और अस्तित्वादि सात नय–इसप्रकार कुल नौ नयों से आत्मा का वर्णन हुआ, अब आगे विकल्पनय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

साक्षात् अमृतपान

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्त-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति॥

अर्थ : जो नयपक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं वे ही जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शांत हो गया है ऐसे होते हुए अमृत का पान करते हैं।

- आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश - ६९

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१०

विकल्पनय

विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम् ।

आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक कुमार और वृद्ध – ऐसे पुरुष की भाँति सविकल्प है ।

यहाँ विकल्प का अर्थ भेद है । जिसप्रकार एक पुरुष में बालक, जवान, वृद्ध – ऐसा भेद है; उसीप्रकार भेदनय से आत्मा गुण-पर्यायों के भेदवाला है । वस्तु में अनन्तगुण हैं, उन अनन्तगुणों में कथंचित् भेद है ।

वस्तु में जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि भेद है, उस भेद को विकल्प कहते हैं । विकल्प अर्थात् राग नहीं, परन्तु विकल्प अर्थात् भेद । एक आत्मा ही एक समय में विकल्पनय से देखने पर अनन्तगुण-पर्यायों के भेदवाला दिखाई देता है, क्योंकि ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है ।

जिसप्रकार पुरुष एक होने पर भी वह बालक, जवान, वृद्ध आदि भिन्न-भिन्न अवस्था-रूप देखा जाता है, उसीप्रकार आत्मा वस्तुपने एक होते हुए भी गुण-पर्याय के भेदवाला है । उसमें गुण-पर्याय का भेद होना कोई उपाधि नहीं है, विकार नहीं है, दोष नहीं है; परन्तु वस्तु का स्वरुप ही है । पुरुष को बाल, जवान, वृद्ध अवस्था एकसाथ नहीं क्रम-क्रम से होती है; परन्तु आत्मा के अनन्तधर्म तो एक आत्मा में एकसाथ ही कथंचित् भेदरूप हैं, एक धर्म पहले होता हो और दूसरा धर्म बाद में – ऐसा भेद नहीं है, परन्तु दर्शनगुण ज्ञानगुण नहीं है और ज्ञानगुण दर्शनगुण नहीं है – ऐसे भेदपूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्तधर्म एकसाथ ही रहते हैं ।

एक समय में अनन्तगुण हैं, 'अनन्तगुण' – ऐसा कहने पर ही कंथचित् भेद सिद्ध हो जाता है । एक धर्म दूसरे धर्म से पृथक् न हो तो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्तधर्म ही न रहें।

आत्मद्रव्य एक होते हुये भी अनेक है और विद्यमान अनेकता को विकल्पनय जानता है।

द्रव्य एक है और गुण अनन्त है, उन गुणों में एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता – यह भेद है। द्रव्य एक है ओर प्रदेश असंख्य हैं, उनमें से एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप नहीं है – यह भेद है। द्रव्य एक है और पर्यायें अनन्त हैं। एक-एक गुण की एक-एक पर्याय– इसप्रकार अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें एक समय में हैं, उनमें एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्यायपने नहीं है – यह भेद है। तथा एक द्रव्य की तीनकाल की अनन्त पर्यायों में से एक समय की पर्याय दूसरे समय की पर्याय नहीं है – यह भेद है।

इसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में भी परस्पर कंथचित् भेद है। द्रव्य गुण नहीं है, गुण पर्याय नहीं है। 'द्रव्य' और 'गुण' – इसप्रकार दोनों के नाम भिन्न हैं, 'द्रव्य एक' और 'गुण अनन्त' – इसप्रकार दोनों की संख्या भिन्न है – इसप्रकार दोनों में भेद स्पष्ट है।

विकल्पनय से देखने पर अभेद आत्मा ही भेदरूप दिखाई देता है। भेदधर्म दिखाई देते समय ही अभेदधर्म भी वहीं विद्यमान है। अभेदपने को छोड़कर एकान्त भेदरूप ही मानने से भेदनय नहीं कहलाता, क्योंकि वह तो मिथ्या एकान्त है।

सभी आत्माओं को मिलाकर तो एक अद्वैत है ही नहीं; परन्तु अकेला एक आत्मा भी सर्वथा अद्वैत नहीं है, बल्कि उसमें भी कथंचित् भेद है। कथंचित् भेद अर्थात् कथंचित् पर से भेद और स्वयं से अभेद – ऐसा नहीं है, बल्कि यहाँ अपने में ही कथंचित् भेद-अभेदपने की बात है। यह भेद वस्तु का अशुद्धत्त्व या दोष नहीं है, परन्तु वस्तु का धर्म है।

शुद्धात्मा में भी ऐसा भेदधर्म है। सिद्ध परमात्मा में से दर्शन ज्ञान-चारित्र इत्यादि का भेद निकल जाता हो – ऐसा नहीं है, उसमें भी ऐसे भेद हैं और उन भेदों को यहाँ विकल्प कहा गया है। सिद्ध परमात्मा के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रागरूप विकल्प नहीं है, परन्तु ऊपर कहे अनुसार गुण भेदरूप भेद है – ऐसा विकल्पनयवाला साधक जानता है। सिद्ध परमात्मा के नय नहीं होते।

सिद्ध भगवान के सिद्धपर्याय सादि-अनन्त रहते हुए भी प्रतिसमय पलटती रहती है। प्रथम समय की पर्याय दूसरे समय नहीं रहती – यह भेद है। पर्याय का प्रतिसमय पलटना उपाधि नहीं, बल्कि स्वरूप है। सिद्ध भगवान के भी प्रतिसमय नवीन-नवीन आनन्दमग्न पर्याय होती रहती है।

आत्मा की अपूर्ण पर्याय का नाश होकर पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, परन्तु पूर्ण पर्याय का नाश होकर अपूर्ण पर्याय प्रगट हो – ऐसा कभी नहीं होता। और दशा प्रगट होने के बाद परिणमन रुक जाता हो – ऐसा भी कभी नहीं होता। पूर्ण दशा होने के बाद भी सदैव पूर्णदशारूप परिणमन हुआ ही करता है। वहाँ भी गुणभेद और पर्यायभेद रहता है – ऐसा आत्मा का भेदधर्म है। यह धर्म प्रत्येक पदार्थ में अनादि-अनन्त पाया जाता है।

– इस प्रकार विकल्पनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

वही पण्डित है

(अनुष्टुप)

परमाल्हादसम्पन्नं, राग-द्वेषविवर्जितम।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः॥

अर्थ : परम आल्हादयुक्त, राग-द्वेषरहित अरहंतदेव को जो ज्ञानी पुरुष अपने देहरूपी मन्दिर में विराजमान देखता व जानता है, वस्तुतः वही पुरुष पण्डित है।

आचार्य अकलंकदेव, परमानन्द स्तोत्र श्लोक - २०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

११

अविकल्पनय

अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ।

आत्मद्रव्य अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अभेद है ।

जिसप्रकार एक पुरुष बालक, जवान और वृद्ध – ऐसे भेदों से रहित एक पुरुष मात्र ही है, उसीप्रकार अभेदनय से आत्मा अभेद है । आत्मा में अनन्तगुण होते हुए भी आत्मा तो एक ही रहता है । जिसप्रकार बालक, जवान और वृद्ध - ऐसी तीन अवस्थाओं में रहनेवाला पुरुष तो एक ही है । जो बाल अवस्था में था, वही जवान अवस्था में है – इसप्रकार पुरुषपने उसमें भेद नहीं है, पुरुषपने तो वह एक ही है, उसीप्रकार गुण-पर्याय के भेद होते हुए भी द्रव्यपने तो आत्मा एक अभेद ही है । अभेदनय से देखने पर आत्मा में भेद दिखाई नहीं पड़ते, वहाँ तो अभेद ही है ।

यदि वस्तु में भेद न हो, तो अनन्तधर्म सिद्ध नहीं होते और यदि अभेद न हो तो वस्तु में एकता नहीं रह सकती और प्रत्येक गुण स्वतन्त्र वस्तु कहलायें; इसलिए अनन्तगुण होते हुए भी उन्हें धारण करनेवाला गुणी एक ही है । 'शक्तियाँ अनन्त और शक्तिमान एक' – इसप्रकार एक ही वस्तु में भेद-अभेद दो धर्म है ।

अभेदनय में तो निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त रहनेवाले सभी एक अभेद आत्मा ही भासित होते हैं, उसमें 'निगोद और सिद्ध' – ऐसी पर्यायों का भेद भासित नहीं होता । जिसप्रकार बाल, जवान और वृद्ध अवस्था में पुरुष तो पुरुष ही है, उसीप्रकार अशुभ, शुभ और शुद्ध सर्व अवस्थाओं में आत्मा तो वह का वही है । गुण-पर्याय के भेद किये बिना जो मात्र अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेता है, ज्ञान के उस अंश को अभेदनय अथवा अविकल्पनय कहते हैं ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु में भेद और अभेद दोनों धर्म एक ही समय में एकसाथ पाये जाते हैं। आत्मा त्रिकाल – ऐसे अनन्तधर्मोंवाला है और ऐसी अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होना अनेकान्त है – ऐसे ज्ञान बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जिसप्रकार राजा को जानने के लिए उसका स्वरूप जानना आवश्यक है, राजा के विशेषणों सहित राजा का सम्बोधन करने से राजा अपनी बात का उत्तर देता है; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा त्रिलोक का राजा है, त्रिलोक में श्रेष्ठ है, – ऐसे आत्मा को अनन्तधर्मों सहित जानने से उसका अनुभव होता है। अनन्तधर्मात्मक आत्मा को यथार्थ जाने बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता और सच्चे ज्ञान बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता तथा आत्मा का अनुभव किये बिना धर्म नहीं होता; इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे अनन्तधर्मों सहित निज आत्मा को जानना चाहिए।

यहाँ तक द्रव्यनय आदि ग्यारह नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन हुआ।

अब आगे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव – ऐसे चार नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन करेंगे।

शुद्ध जीव के नाम

(सवैया इकतीसा)

परम पुरुष परमेसुर परम ज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।
अनादि अनन्त अविगत अविनाशी अज,
निरदुंद मुकत मुकुन्द अमलान है॥
निरावाध निगम निरंजन निरविकार,
निराकार संसार सिरोमनि सुजान है।
सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है॥

पं. बनारसीदास, नाटक समयसार उत्थानिका छन्द - ३६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१२

नामनय

नामनयेनतदात्मवत्शब्दब्रह्मामर्शि ।

आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है । अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है। जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है।

जिसप्रकार नाम द्वारा कहा जानेवाला पदार्थ 'नाम' ऐसे शब्दब्रह्म से कहा जाता है, उसीप्रकार नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से कहा जाता है । जिसप्रकार 'शक्कर' ऐसे नाम से शक्कर पदार्थ कहा जाता है । उसीप्रकार 'आत्मा' ऐसे नाम से आत्म पदार्थ कहा जाता है ।

शब्द का आत्मा में अभाव है, परन्तु उसे शब्दब्रह्म द्वारा कहा जाता है – ऐसा नामनय से आत्मा का स्वभाव है । इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा शब्द बोल सकता है, परन्तु जो शब्द बोले जाते हैं, उन शब्दों से आत्मा कहा जा सकता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है । इस अपेक्षा आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करता है – ऐसा कहा जाता है ।

शब्दब्रह्म स्वयं जड़ है, जीव शब्दब्रह्म का कर्त्ता नहीं है; क्योंकि शब्दब्रह्म का कर्त्ता तो जड़ है । वाणी से शब्दों द्वारा आत्मा कहा जाता है; वाणी का और आत्मा का मात्र इतना ही सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्शता है – ऐसा नामनय से कहा जाता है ।

जो आत्मा को जानता है, उसे ज्ञान कहते हैं । वाणी आत्मा को नहीं जानती । 'आत्मा' ऐसा शब्द बोलते ही आत्मा नामक पदार्थ का ज्ञान होता है; इसलिए नामनय से आत्मा शब्द को स्पर्शता है, जानता है ।

'आत्मा' ऐसा शब्द कहने की योग्यता आत्मा में नहीं है । शब्द कहने की ताकत तो भाषावर्गणा में है । वाणी से कहा जाना – ऐसा धर्म आत्मा

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में अनादि-अनन्त है। यह धर्म सिद्धभगवान के आत्मा में भी है। सिद्ध परमात्मा में वाणी नहीं है, परन्तु 'सिद्ध', 'भगवान', 'परमात्मा' – ऐसे शब्दों से वे कहे जाते हैं, इसलिए नामनय से सिद्ध भगवान का आत्मा भी शब्दब्रह्म से कहा जाता है।

अरहन्त भगवान के वाणी है, अतः उनके तो यह धर्म (वाणी) होता है और सिद्ध भगवान के वाणी न होने से उनमें यह धर्म नहीं होना चाहिए, पर यह बात भी सत्य नहीं है; क्योंकि वास्तव में कोई भी आत्मा वाणीवाला है ही नहीं, परन्तु वाणी से कहा जाय – ऐसे धर्मवाला है। आत्मा में वाणी का अभाव है, परन्तु वाणी से कहा जाय ऐसे धर्म का सद्भाव है, क्योंकि यह तो आत्मा का निजी धर्म है, वाणी के कारण नहीं है।

'आत्मा' – ऐसा शब्द है, इसकारण आत्मा में वाणी द्वारा कहे जाने का धर्म है – ऐसा नहीं है; वाणी और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा स्वयं वाणी नहीं है, परन्तु आत्मा वाणी से कहा जाता है। यदि आत्मा शब्दब्रह्म को किंचित् भी स्पर्श नहीं करे अर्थात् शब्द से बिल्कुल नहीं कहा जाय, तो सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। आत्मा वाणी से सर्वथा अगोचर नहीं है। जो शब्द द्वारा आत्मा का स्वरूप समझ जाते हैं उन्हें कथंचित् वाणीगोचर कहा जाता है। चैतन्यभगवान आत्मा परमब्रह्म है और उसकी द्योतक वाणी शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म को आत्मा स्पर्शित करता है अर्थात् उस शब्दब्रह्म से आत्मा का वर्णन किया जाता है।

सिद्धभगवान अशरीरी चैतन्यमूर्ति परमसुखी हैं – ऐसा कहते ही सिद्ध का स्वरूप समझ में आ जाता है, इसलिए सिद्ध में भी कथंचित् वचनगोचर होने का धर्म है; क्योंकि यदि सर्वथा वचनातीत हों तो 'सिद्ध भगवान अशरीरी चैतन्यमूर्ति परमसुखी' हैं यह भी वचन में नहीं आ सकता। आत्मा सर्वथा वचनातीत नहीं है। आत्मा शब्द को जानता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और उस शब्द द्वारा कहे जाने योग्य पदार्थ को भी जानता है। तथा उस पदार्थ को जाननेरूप ज्ञान को भी जानता है। इसप्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान–इन तीनों को आत्मा जानता है।

आत्मा के अनेक धर्मों का विवेचन वाणी द्वारा क्रम से अनेक समयों में किया जाता है, परन्तु ज्ञान में अनेक धर्म एकसाथ एकसमय में जाने जाते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तु को समस्त धर्मों सहित अक्रमरूप से एकसमय में जानने की योग्यता ज्ञान में है, शब्द में नहीं; कारण कि एक शब्द का परिणमन होने में असंख्य समय लग जाते हैं क्योकि 'आत्मा' –ऐसा कहने में ही असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं।

वस्तु में अनन्त धर्म एकसाथ हैं और उन सभी अनन्त धर्मों को एक समय में ज्ञान जानता है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी ज्ञानशक्ति भरी है। उससमय स्वभाव की सामर्थ्य के विश्वासपूर्वक स्वरूप समझने पर समस्त वस्तुस्वरूप समझ में आ जाता है और उसका अविश्वास करके 'मेरी समझ में नहीं आता' – ऐसा मान ले तो ज्ञान का पुरुषार्थ प्रकट नहीं होता।

जगत में वाणी है और वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन हो सकता है– ऐसे आत्मा के धर्म को जाननेवाला 'नामनय' है। वहाँ ज्ञान के कारण वाणी नहीं है और वाणी के कारण ज्ञान नहीं है। वाणी है, इसलिए आत्मा में वाणी से कहे जाने योग्य धर्म है – ऐसा नहीं है। और आत्मा का धर्म वाणी द्वारा कहा जाता है, इसलिए वाणी है – ऐसा भी नहीं है।

आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, क्योंकि 'आत्मा अवक्तव्य है' – ऐसा कहनेवाले के द्वारा भी आत्मा के अवक्तव्य् धर्म का कथन हुआ या नहीं? इसलिए आत्मा कथंचित् वक्तव्य है। इसके बाद भी जो आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य कहता है, तो वह स्ववचनवाधित है। 'आत्मा का स्वभाव अवक्तव्य है'– ऐसा स्वयं कहते हुए भी आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य माने तो मेरे मुंह में जीभ नहीं है – ऐसा कहने जैसी झूठी बात

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है।

आत्मा का स्वभाव नामनय की अपेक्षा वाणी द्वारा वक्तव्य है और वाणी में उसे कहने की योग्यता है, धर्म है; क्योंकि कोई भी शब्द किसी न किसी पदार्थ का वाच्य होता ही है। यदि पदार्थ में कहे जाने योग्य स्वभाव नहीं है, तो वाणी किसे कहे ? जिस पदार्थ का अस्तित्व होता है, उसका ही कथन होता है। जो सर्वथा असत् होता है उसका कथन करनेवाला भी नहीं होता है। नाम है, तो उसका कहनेवाला भी है। नाम सर्वथा निरर्थक नहीं है।

'भगवान' – ऐसा शब्द, 'भगवान' – ऐसा पदार्थ एवं 'भगवान' – ऐसा ज्ञान ये तीनों सत्स्वरूप हैं।

'भगवान' – ऐसा शब्द, 'भगवान' पदार्थ को बताता है और ज्ञान उसे जानता है – इसप्रकार शब्दसमय, अर्थसमय और ज्ञानसमय – ये तीन सत् हैं।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु की यथार्थ स्वीकृति बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता और प्रमाणज्ञान के बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

शब्द द्वारा कहा जाय – ऐसा आत्मा का धर्म है। शब्द द्वारा कहे जाने योग्य आत्मा के धर्म की स्वीकृति के लिए शब्द की अपेक्षा नहीं है ; क्योंकि वह शब्द का नहीं, आत्मा का धर्म है। जहाँ लक्ष्मीचंद और पानाचंद ऐसे दो नाम के दो मनुष्य बैठे हो, वहाँ 'लक्ष्मीचंद' – ऐसा कहने से लक्ष्मीचंद नाम का मनुष्य ही आता है। लक्ष्मीचंद कहने से पानाचंद नहीं आता; क्योंकि लक्ष्मीचंद नाम से ज्ञात होनेवाला धर्म लक्ष्मीचंद में है, पानाचंद में नहीं तथा पानाचंद नाम से ज्ञात होनेवाला धर्म पानाचंद में है लक्ष्मीचंद में नहीं। उसीप्रकार 'आत्मा' – ऐसा शब्द कहने पर चैतन्यस्वरूप वस्तु जानने में आती है, अन्य लकड़ी आदि जड़वस्तु नहीं। – इसप्रकार नामनय से आत्मद्रव्य शब्दब्रह्म को स्पर्शित करनेवाला है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यदि आत्मा में नाम से वाच्य होने योग्य धर्म नहीं होता तो उसका उपेदश वाणी द्वारा नहीं हो सकता । जबकि 'आत्मा देह से भिन्न ज्ञानमूर्ति है, आत्मा पर का अकर्त्ता है' – इसप्रकार आत्मा का कथन वाणी द्वारा होता है । जड़ वाणी में आत्मा का धर्म नहीं है, परन्तु जड़वाणी से कहा जाय – ऐसा आत्मा का धर्म आत्मा में है । वाणी जड़ है और आत्मा चेतन है, इसलिए आत्मा वाणी से किसी भी प्रकार वाच्य नहीं हो सकता – ऐसा नहीं है; क्योंकि यदि वाणी से आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, तो संतों की वाणी निरर्थक माननी पड़ेगी और ऐसी अवस्था में आत्मा का जैसा स्वयं को अनुभव हुआ है, वैसा दूसरे को नहीं बताया जा सकता । वाणी तो मात्र निमित्त है, आत्मा में ही अपनी योग्यता से ऐसा धर्म है कि वह वाणी द्वारा कहा जाय ।

देखो, यहाँ नामनय से आत्मा वाणी द्वारा वाच्य है – ऐसा कहा और 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद्जी कहते हैं कि –

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठू ज्ञान मॉ,
कही सक्या नहीं ते पण श्री भगवान जो ।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी तो शुँ कहे,
अनुभवगोचर मात्र रह्यु ते ज्ञान जो ।।

वहाँ (अपूर्व अवसर में) तो वाणी में अटकने से आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिए वाणी का अबलम्बन छुड़ाकर आत्मस्वभाव का अनुभव करने के लिए यह कथन किया है कि सर्वज्ञ की वाणी में भी आत्मा का सम्पूर्णपने कथन नहीं हुआ, इसलिए वाणी का लक्ष्य छोड़कर आत्मसन्मुख होना ही उस कथन का तात्पर्य है ।

यहाँ भी इस धर्म को जानकर आत्मसन्मुख होना – यही तात्पर्य है । वाणी द्वारा कहा जाता है – ऐसा सुनकर वाणी की ओर लक्ष्य नहीं रखना, परन्तु वाणी द्वारा कहे जानेरूप धर्म को अपने आत्मा में शोध, अपने आत्मसन्मुख होकर इस धर्म की प्रतीति कर । शब्द के ऊपर लक्ष्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रखने से इस धर्म की प्रतीति नहीं होती।

जो जीव आचार्य के कथन का आशय नहीं समझता, वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं करता, मात्र शब्दों में ही उलझा रहता है, शब्दों को ही पकड़कर लड़ता रहता है, उसे शास्त्र में शब्दम्लेच्छ कहा है। चैतन्यब्रह्म आत्मा को जाने तो शब्दब्रह्म कहा जाये। वाणी में चैतन्य-स्वरूप आत्मा को कहने की योग्यता है। इसलिए वह शब्दब्रह्म है, परन्तु किसको ? जो जाने उसको।

जो वाणी का अभिप्राय नहीं जानता, उसे तो वाणी निमित्तरूप में भी आत्मा का ज्ञान करानेवाली नहीं है। जो आत्मा को जानता है, उसके लिए शब्दब्रह्म निमित्त है। जो आत्मा को तो समझता नहीं और शब्दों में अटकता है, वह तो 'शब्दम्लेच्छ' है। स्वयं की योग्यता न हो तो वाणी क्या कर सकती है ? जो स्वयं आत्मसन्मुख होकर समझे, उसको वाणी शब्दब्रह्म कहलाती है और जो वाणी में ही अटका रहे, आत्मा को न जाने उसे शब्दम्लेच्छ कहा गया है।

यह नयों सम्बन्धी कथन है। जो नय सापेक्ष होते है अर्थात् दूसरे अनन्तधर्मों का निषेध नहीं करते, वे नय सम्यक् होते है और जो दूसरे अनन्तधर्मों का सर्वथा निषेध करके एक धर्म को मानते हैं, वे नय मिथ्या कहलाते है।

नामनय से आत्मा वाणी से कहे जाने योग्य है – ऐसा कहने पर जो मात्र वाणी को ही मुख्य मानता है, वह अनन्तधर्मात्मक आत्मा को नहीं जानता और उसे एक धर्म का भी ज्ञान सच्चा नहीं है। नामनय का तात्पर्य वाणी का आश्रय करवाना नहीं है, बल्कि अनन्तधर्मात्मक आत्मा को जानकर उसका आश्रय लेना है।

जैनशासन के अलावा अन्य दर्शनों में आत्मा को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध माना है। उनके मत में नय नहीं है। एक-एक नय की अपेक्षा भी वह सत्य नहीं है, क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनके मत में दूसरे धर्म का सर्वथा निषेध किया है अर्थात् उन्होंने तो सम्पूर्ण वस्तु को ही नहीं जाना। इसलिए उनका एक अंश को जानना भी सच्चा नहीं है।

जैनशासन में तो अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति पूर्वक उसके एक-एक अंश को धर्म को जाना जाता है, इसलिए सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक एक अंश को जाननेवाला नय सम्यक्नय है। सम्पूर्ण वस्तु के भान बिना अंश को अंशरूप में भी सही नहीं जाना जाता है। मिथ्यादृष्टि के एकान्त मत में तो सर्वांग वस्तु को जाने बिना मात्र उसके एक-एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है, इसलिए उनके एक अंश का ज्ञान भी सच्चा नहीं है और उन्हें वस्तु का ज्ञान भी सच्चा नहीं है।

जैनशासन में अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति पूर्वक उसके एक-एक अंश को धर्म को जाना जाता है, इसलिए सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक एक अंश को जानने वाला नय सम्यक्नय है। सम्पूर्ण वस्तु के भान बिना अंश को अंशरूप में भी सही नहीं जाना जाता है। मिथ्यादृष्टि के एकान्त मत में तो सर्वांग वस्तु को जाने बिना मात्र उसके एक-एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है, इसलिए उनके एक अंश का ज्ञान भी सच्चा नहीं है और वस्तु का ज्ञान भी सच्चा नहीं है।

हे भाई ! शब्द से कहे जाने योग्य धर्म आत्मा में है और इसके अलावा दूसरे अनन्तधर्म भी आत्मा में रहते है। इसलिए तू शब्द की ओर मत देख धर्म के भेद को भी मत देख, परन्तु अनन्तधर्मों के पिण्डस्वरूप आत्मा को देख। वाणी के ऊपर से दृष्टि उठाकर तू अपने आत्मा के निजी धर्म को आत्मा में शोध, वाणी को न देखकर वाणी द्वारा वाच्य आत्मा को देख। वाणी द्वारा कहे जाने योग्य धर्म तेरे में ही है, वाणी में नहीं।

शब्द है, इसलिए आत्मा कहा जाता है – ऐसा नहीं है और आत्मा में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहे जाने योग्य धर्म है, इसलिए वाणी द्वारा कहा जाता है – ऐसा भी नहीं है। आत्मा के धर्म का और वाणी का कारण-कार्यपना नहीं है, वाच्य होनेरूप धर्म आत्मा का है और वाचक होनेरूप धर्म वाणी का है। दोनों स्वतन्त्र है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव–ये जो चार नय हैं, वे ज्ञान है; उनके विषयभूत जो चार धर्म हैं, वे निक्षेप हैं और शब्द जड़ हैं। नय ज्ञान है, निक्षेप वस्तु का धर्म है और वाणी जड़ है – इसप्रकार ज्ञान, पदार्थ और वाणी – यह तीन प्रकार जानना।

नय प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान ले, तो उसके अंश को भी अंश के रूप में नहीं जाना, इसलिए उसका अंशज्ञान भी सच्चा नहीं है। जिसप्रकार कोई बालक एक पाई को ही रुपया मानले तो उसको पाई का ज्ञान भी सच्चा नहीं है।

प्रश्न– पाई रुपये का १९२वां भाग है, इसलिए उतना अंश तो सच्चा है ?

उत्तर– नहीं ! क्योंकि उसने तो पाई को ही रुपया माना है, इसलिए उसका अंश भी सही नहीं है। पाई, रुपया नहीं हैं, परन्तु रुपये का एक अंश है – ऐसा जाने तो उसका अंशज्ञान सच्चा कहा जाय। इसीप्रकार कोई वस्तु को एकान्त नित्य माने तो उसका माना हुआ नित्यांश भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि उसने तो नित्यांश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है, इसलिए उसका माना हुआ अंश अंशपने नहीं रहा और वस्तु भी नहीं रही। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और नित्यपना भी उसका एक धर्म है – जो ऐसा जानता है उसके नित्य अंश का ज्ञान यथार्थ कहा जाता है और उसे ही नय होते हैं।

प्रश्न– नयज्ञान स्व-परप्रकाशक है या नहीं ?

उत्तर– नय स्व-परप्रकाशक है, क्योंकि नय प्रमाण का अंश है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए जिसप्रकार प्रमाण स्व-परप्रकाशक है, उसीप्रकार नय भी स्व-परप्रकाशक है।

नय आत्मा के धर्म को भी जानता है और स्वयं अपने (नय) को भी जानता है। अपने विषयरूप धर्म को जानता है और मुझे इस धर्म का ज्ञान हुआ – ऐसे अपने ज्ञान को भी जानता है – इसप्रकार नय स्व-परप्रकाशक है। यहाँ नयज्ञान स्वयं 'स्व' है और उसके द्वारा जो धर्म जाना जाता है वहाँ 'पर' – इसप्रकार नयज्ञान स्व-परप्रकाशक उपयोगस्वरूप है। प्रत्येक नय स्व-परप्रकाशक है – ऐसी नय की सामर्थ्य है। स्व-पर को जानने की सामर्थ्य वाणी में नहीं है। वाणी द्वारा कहे जानेवाले धर्म को आत्मसन्मुख होकर आत्मा में देखना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक नय का उपयोग स्वसन्मुख होता है।

यह नय उलझन उत्पन्न करनेवाले नहीं है, परन्तु वस्तु के अनन्तधर्मों का ज्ञान करानेवाले हैं। नयों में ज्ञान की सूक्ष्मता और विशालता है; उसकी विवक्षा समझना चाहिए। जो इनकी विवक्षा को नहीं जानता, उसे यह नय क्लिष्ट लगते है; इसलिए इनको समझने का उत्साह पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

जिसप्रकार एक बहुत बड़े धागे में से यदि थोड़ा भी धागा अलग कर दिया जाता है तो फिर वह धागा अखण्ड नहीं कहलाता, खण्डित हो जाता है, उसीप्रकार आत्मा अनन्तधर्मों का पिण्ड है, अखण्ड है उन धर्मों में से यदि कोई एक भी धर्म को न माने तो आत्मद्रव्य अखण्डित नहीं रहता, खण्डित हो जाता है। उसकी श्रद्धा में सम्पूर्ण आत्मद्रव्य नहीं आया, इसलिए उसकी श्रद्धा ही मिथ्या हो गई।

छद्मस्थ के ज्ञान में सभी धर्म भिन्न-भिन्न जानने में नहीं आते। साधक जीव अपने ज्ञानप्रमाण प्रयोजनभूत धर्मों को तो जानता है और शेष अनन्तधर्म को सर्वज्ञ के कहे अनुसार ही हैं – ऐसी प्रतीति करता है। यदि अनन्तधर्मों में प्रतीति न भी करे और प्रयोजनभूत धर्मों को जाने भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं तो श्रद्धान-ज्ञान यथार्थ न हों।

यहाँ आचार्यदेव ने प्रथम तो आत्मा को अनन्तधर्म वाला बताया है और बाद में ४७ धर्मों का ४७ नयों द्वारा वर्णन किया है। उनमें बारह धर्मों का विवेचन पूर्ण हुआ। अब तेरहवां धर्म कहेंगे।

समस्त उपदेशों का रहस्य

शार्दूलविक्रीडीतम्

आत्मा स्वं परमीक्षते यदि समं तेनैव संचेष्टते
तस्यायेवहितस्ततोऽपिच सुखी तस्यैव संबन्धभाक्।
तस्मिन्नेव गतो भवत्याविग्रतानन्दामृताम्भोनिधिः
किंचान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम्॥

अर्थ : यदि आत्मा अपने आपको उत्कृष्ट देखता है, उसके साथ क्रीडा करता है, उसके लिए हितस्वरूप है, उसी से वह सुखी होता है, उसके ही सम्बन्ध को प्राप्त होनेवाला और उसमें ही वह स्थित होता है तो वह आनन्दरूप अमृत का समुद्र बन जाता है। अधिक क्या कहना? समस्त उपदेशों का केवल यही रहस्य है।

- आचार्य पद्मनन्दि, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक - १५२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१३

स्थापनानय

स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गला लम्बि ।

आत्मा स्थापनानय से प्रतिमापने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है ।

जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना होती है, उसीप्रकार पुद्गलों में आत्मद्रव्य की स्थापना की जाती है । जिसप्रकार सीमंधर भगवान की प्रतिमा पुद्गल की है, उसमें सीमंधर भगवान का आत्मा नहीं है । सीमंधर भगवान का आत्मा तो अभी महाविदेह क्षेत्र में अरहंतपद में समवशरण में विराजमान है । वह आत्मा यहाँ स्थापित प्रतिमा में नहीं आता, फिर भी प्रतिमा में 'यह सीमंधर भगवान हैं' – ऐसी स्थापना करने पर सीमंधर भगवान का आत्मा ख्याल में आता है । सीमंधर भगवान के आत्मा में ऐसा धर्म है । उसे स्थापनानय जानता है, क्योंकि यदि भगवान के आत्मा में ऐसा धर्म न हो तो मूर्ति में स्थापना द्वारा उनका आत्मा ख्याल में नहीं आ सकता और ख्याल में आता है । इसलिये आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है – ऐसा स्थापनानय से जानना चाहिये ।

मूर्ति, चित्र इत्यादि पुद्गलों में आत्मा की स्थापना करके आत्मा जानने में आता है – ऐसा आत्मा का एक धर्म है । 'आत्मा पुद्गल का अवलम्बन करनेवाला है' इसका अर्थ है कि आत्मा का पुद्गल के साथ इतना निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि पुद्गल में उसकी स्थापना की जा सकती है । पुद्गल मूर्तिक होते हुए भी उसमें स्थापना करने पर अमूर्तिक आत्मा का लक्ष्य होता है – ऐसा आत्मा का एक धर्म है । यह धर्म सिद्ध भगवान में भी है, सिद्ध भगवान की स्थापना भी मूर्ति, चित्र इत्यादि में हो सकती है, होती है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिनमंदिर में सिद्धभगवान की प्रतिमा है। उस प्रतिमा की आकृति में सिद्ध भगवान की स्थापना है। 'यह सिद्ध भगवान हैं' – इसप्रकार स्थापनानय से आत्मा पुद्गल का अवलम्बन करता है – ऐसा कहा जाता है तथा पौद्गलिक चित्र में 'यह जीव है' – ऐसा बताया जाता है। इसप्रकार पुद्गल में जीव की स्थापना होती है; क्योंकि जीव में इसप्रकार का धर्म है।

यहाँ तो यह कहा है कि आत्मद्रव्य समस्त पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् मात्र मूर्ति में ही स्थापना हो सकती हो– ऐसा नहीं है; परन्तु फूल, लवंग इत्यादि किसी भी पुद्गल में स्थापना करके आत्मा समझा जा सकता है। शतरंज की गोटियों में यह राजा, यह वजीर, यह हाथी, यह सिपाही – इत्यादि प्रकार से स्थापना की जाती है, इसीप्रकार किसी भी पुद्गल में 'यह आत्मा है' – ऐसी स्थापना हो सकती है।

जड़ पुद्गल में आत्मा की स्थापना की जाती है – इसका अर्थ यह नहीं जानना चाहिये कि जड़-पुद्गल के कारण आत्मा समझा जा सकता है। समझ में तो समझनेवाले के स्वयं के ज्ञान की सामर्थ्य से समझ में आता है, परन्तु उसमें निमित्तरूप से जिनवाणी के शब्द होते हैं अथवा स्थापना होती है। ज्ञानी को स्थापनानय से आत्मा इसप्रकार के धर्मवाला दिखाई देता है।

देखो, यह आत्मा की महिमा ! प्रत्येक आत्मा अनन्तधर्मों का धनी है। जिसे स्वयं की सामर्थ्य का भान नहीं है, वह बाहर में खोजता है। कई जीवों ने तो यह बात सुनी भी नहीं है कि मेरे आत्मा में ही अनन्तधर्म भरे हुए हैं। आत्मा की पुद्गल में स्थापना होने से अज्ञानी को पुद्गल की महिमा आती है, क्योंकि वह ऐसा जानता है कि आत्मा का धर्म पुद्गल में से आता है, पर भाई ! पुद्गल में जिसकी स्थापना हुई है, उसके धर्म को तो देख; यदि पुद्गल में स्थापना होने लायक धर्म आत्मा में नहीं हो तो उसकी स्थापना ही कैसे हो ? इसलिए आत्मा के उस धर्म को देख और ऐसे-ऐसे अनन्तधर्म जिसमें एकसाथ रहते हैं – ऐसे निजात्मा की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महिमा प्रगट कर।

अनन्तधर्मात्मक आत्मा को जानने पर ज्ञान में उसका महत्त्व आने से ज्ञान सम्यक् होता है – ऐसे सम्यग्ज्ञान बिना कभी भी सच्ची शान्ति नहीं मिलती।

अनादिकाल से आजतक आत्मा को जैसा स्वभाव है, वैसा कभी नहीं जाना और जब आत्मा का ज्ञान ही सच्चा नहीं हुआ, तब उसकी महिमा और उसमें एकाग्रता कैसे हो ? और आत्मा में एकाग्रता हुए बिना भव का अभाव नहीं होता। जिसे चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व का भान नहीं हुआ, वह पर की महिमा जानकर पर में ही एकाग्र रहते हैं, इसलिये संसार में ही रखड़ते रहते हैं।

चैतन्यवस्तु जैसी है, उसे वैसी ही स्वीकार करके, उसमें एकाग्र होने से कल्याणस्वरूप पर्याय प्रगट होती है।

निजकल्याण की भावना से शिष्य को जिज्ञासा होने पर शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! आत्मा का स्वरूप क्या है ? ऐसे जिज्ञासु शिष्य को समझाने के लिए आचार्यदेव यहाँ आत्मा के धर्मों का विशेष वर्णन करते हैं।

भगवान आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उसके स्वरूप को पहिचानकर उसकी महिमा आना चाहिए। आत्मा के सिवाय जगत के अन्य किसी भी पदार्थ की महिमा या रुचि होने पर भगवान आत्मा प्रसन्न नहीं होता, अर्थात् भगवान आत्मा का अनुभव नहीं होता। जिसप्रकार किसी राजा को अर्जी देना हो तो उसमें महाराजाधिराज इत्यादि राजा के सन्मानवाचक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यराजा है, उससे अर्जी करने के लिये अर्थात् उसका अनुभव करने के लिए उसे अनन्तधर्मोंरूपी विशेषणों से जानकर उसकी रुचि करे, तब ही आत्मा का अनुभव होता है। यदि एक भी धर्म को न मानें तो अनुभव नहीं होता; क्योंकि अपूर्ण वस्तु की स्वीकृति में पूर्णता का अनुभव नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसप्रकार आत्मा अपने अनन्तधर्मों का स्वामी है, अन्य द्रव्य के धर्मों का नहीं; इसीप्रकार अन्यद्रव्य भी आत्मा के धर्मों का स्वामी नहीं है। आत्मा की पूँजी (मिल्कत) उसके अनन्तधर्म हैं, वह अपने अनन्तधर्मों में व्याप्त रहता है, पर में नही और पर भी उसमें नहीं रहता। इसप्रकार आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न जानकर श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है और आत्मा में एकाग्रता होने पर सम्यक्चारित्र होता है। इसलिए आत्मा को जानने के लिए यहाँ उसके धर्मों का वर्णन चलता है।

इससे पहले बारहवें धर्म में ऐसा कहा है कि नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से वाच्य है। परमब्रह्म का पूर्णस्वरूप कहनेवाली दिव्यवाणी शब्दब्रह्म है। आत्मा में एक ऐसा धर्म भी पाया जाता है कि आत्मा शब्दब्रह्म से कहा जाता है। सम्पूर्ण आत्मा का कथन करनेवाली तीर्थंकर देवाधिदेव की 'ॐ ध्वनि' शब्दब्रह्म है। नामनय से आत्मा दिव्यध्वनि के द्वारा कहा जाए – ऐसा आत्मा में एक धर्म है।

यहाँ स्थापनानय से कहा है कि आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् जिन-जिन पुद्गलों में आत्मा की स्थापना की जाती है, उन-उन पुद्गलों से आत्मा जाना जाता है।

नाम से जानने में आनेवाला धर्म पृथक् है, स्थापना से जानने में आनेवाला धर्म पृथक् है। इसीप्रकार उन दोनों धर्मों को जाननेवाले नामनय और स्थापनानय भी भिन्न-भिन्न हैं।

– इसप्रकार यहाँ तक तेरह नयों से आत्मा का वर्णन किया, अब चौदहवें द्रव्यनय से आत्मा का वर्णन करेंगे, उसमें बहुत सरल बात आवेगी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

द्रव्यनय

द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीपर्यायोद्भासि ।

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ और श्रमण राजा की भाँति अनागत और अतीत पयार्यरूप से प्रतिभासित होता है । अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है; जैसे – बालक सेठपनेरूप भावीपर्यायरूप से और मुनि राजापनेरूप भूतपर्यायरूप से ख्याल में आता है ।

जिसप्रकार – भविष्य में सेठ होनेवाले बालक को 'यह सेठ है' – ऐसा भावीपर्याय की अपेक्षा कहा जाता है तथा कोई जीव भूतकाल में राजा था और बाद में मुनि हो गया हो तो उसे 'यह राजा है' – ऐसा भूतकाल की अपेक्षा कहा जाता है । उसीप्रकार जीवद्रव्य भी अपनी भूतकाल एवं भविष्यकाल संबंधी पर्यायोंपने वर्तमान में कहा जाता है – ऐसा आत्मा का धर्म है ।

आत्मा वर्तमानपर्यायपने ही जाना जाता हो और भूत-भविष्य की पर्यायोंपने नहीं जाना जाता हो – ऐसा नहीं है । द्रव्य अपनी भूत-भविष्य की पर्यायपने भी वर्तमान में जाना जाता है – ऐसा द्रव्य का एक धर्म है। और ज्ञान का स्वभाव भी तीन काल के पदार्थों को एक साथ जानने का है; जब भविष्य की पर्याय होगी तब जानेगा, अभी नहीं जानता; जो ऐसा मानता है, उसे सर्वज्ञ भगवान की तथा वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है । जिस आत्मा को भविष्य में सिद्धपर्याय प्रगट होती है, उसे वर्तमान में ही 'यह सिद्ध है'– ऐसा भावी पर्याय-अपेक्षा वर्तमान में कहा जाता है, जाना जाता है ।

भूत-भविष्य की पर्यायपने वर्तमान में जाना जाय – ऐसा द्रव्य का धर्म है और उस धर्म को जाननेवाले श्रुतज्ञान को द्रव्यनय कहते हैं ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसी ग्रन्थ में जो सबसे पहले, पहले नम्बर का द्रव्यनय कहा था और अब यहाँ चौदह नम्बर का द्रव्यनय कहा है – इन दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। पहले कहे हुए द्रव्यनय का विषय तो सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है और इस द्रव्यनय का विषय भूतभविष्य की पर्यायोंवाला द्रव्य है अर्थात् यहाँ पर्याय की बात है।

द्रव्य की जो-जो पर्यायें भूतकाल में हुई हैं, भविष्य में होंगी, उन-उन पर्यायोंसहित द्रव्य वर्तमान में जाना जाय – ऐसा द्रव्य का स्वभाव है। जिस द्रव्य में जिस-जिस जाति की पर्याय भविष्य में होनी होती है, उस-उस जाति का धर्म उस द्रव्य में त्रिकाल पाया जाता है। भविष्य की पर्याय तो भविष्य में अपने नियत समय पर ही होगी, लेकिन वस्तु में उस पर्याय के होने योग्य धर्म त्रिकाल अनादि-अनन्त पाया जाता है। समस्त द्रव्यों में अपनी-अपनी पर्याय के होने योग्य धर्म विद्यमान है। भविष्य में सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेवाला आत्मा अभी वर्तमान में निगोद अवस्था में है, लेकिन निगोद अवस्था के काल में ही उस आत्मा में भविष्य में सिद्धदशारूप होने का धर्म वर्तमान में है, जबकि अभी सिद्धदशा प्रगट नहीं हुई है।

श्री आदिनाथ, महावीर आदि भगवन्तों के आत्मा के तो वर्तमान में सिद्धदशा प्रगट है। इनके पूर्व में तीर्थंकरत्व पर्याय थी। द्रव्यनय से उनका आत्मा अभी भी भूतकाल की तीर्थंकर पर्यायपने जाना जाता है। जबकि ऋषभादि चौंबीस तीर्थंकर भगवान अभी तीर्थंकर पर्यायपने विहार नहीं करते, वे तो सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सिद्धालय में विराजमान हैं, तथापि वर्तमान में उन्हें तीर्थंकरपने लक्ष्य में लेकर उनकी स्तुति पूजा करना द्रव्यनय है। इसीप्रकार भविष्यकाल की पर्यायपने भी लक्ष्य में आना–ऐसा द्रव्य का धर्म है। जैसे – श्रेणिक राजा की आत्मा अभी वर्तमान में तो नरक में है और भविष्य में तीर्थंकर होना है, इसलिए 'यह तीर्थंकर है' –इसप्रकार उन्हें भविष्य की तीर्थंकर पर्यायपने वर्तमान में जाननेवाला द्रव्यनय है। उनके वर्तमान में नरकपर्याय होने पर भी भूत-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

काल की श्रेणिक राजा की पर्याय के समान भविष्यकाल की तीर्थंकर-पर्याय के रूप में ज्ञात होने का धर्म है, जिसे द्रव्यनय जानता है।

परमपूज्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य आज से दो हजार वर्ष पूर्व मुनिदशा में थे और अभी उनका आत्मा स्वर्ग में है। पूर्व की मुनिदशा का आत्मा वर्तमान में द्रव्यनय से मुनिदशारूप जाना जाता है – यह भूतकाल की अवस्था की बात की। इसीप्रकार भविष्य की पर्याय के सन्दर्भ में भी जानना चाहिए। द्रव्य में तीनों काल की पर्यायें निश्चित हैं – ऐसा निर्णय करने पर पुरुषार्थ का लोप नहीं होता, परन्तु द्रव्यसन्मुख होने से मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ जागृत होता है; क्योंकि भविष्य की पर्याय होने का धर्म तो द्रव्य का है,इसलिये भविष्य की पर्याय का निर्णय करने से द्रव्यसन्मुख होने से द्रव्य का ही निर्णय हो जाता है अर्थात् उसमें द्रव्यदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। द्रव्यसन्मुख होने पर द्रव्य-पर्याय की एकता ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है, इससे भिन्न कोई अन्य पुरुषार्थ नहीं है।

जीवद्रव्य में जो चक्रवर्ती, तीर्थंकर और सिद्ध इत्यादि पर्यायें होती हैं, वे स्वभाव से ही होती हैं। द्रव्य में इसप्रकार का स्वभाव अनादि से ही है। जब तीर्थंकर पर्याय प्रगट हो, तब तो वह भावनय का विषय है और प्रगट होने से पूर्व अथवा प्रगट होने के बाद भी उसे उस पर्यायवाला जानना द्रव्यनय का काम है।

जो जीव भूतकाल में तीर्थंकर हो गये हैं अथवा भविष्य काल में होंगे, वे वर्तमान में ही 'यह जीव तीर्थंकर है'– ऐसे भूत-भावी पर्यायपने लक्ष्य में आते हैं और आत्मद्रव्य में भी एक ऐसा धर्म है और उस धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष में लेनेवाले ज्ञान को द्रव्यनय कहते हैं।

समस्त जीवों की पर्याय समान नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है। द्रव्य का पर्यायरूप परिणमित होने का स्वभाव अनादि से निश्चित है। द्रव्य की पर्याय का अनादि संततिप्रवाह निश्चित है अर्थात् जिस समय, जिस द्रव्य के जो पर्याय होना होगी वही होगी, अन्य नहीं, उसमें कुछ भी फेर-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

फार नहीं होता । कोई जीव कामदेव होता है, कोई चक्रवर्ती, कोई तीर्थंकर और कोई एक ही भव में कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर तीनों पदों को प्राप्त करता है, कोई केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धदशा प्रकट करता है । इसप्रकार समस्त पर्यायों की योग्यता तत्संबधी उस-उस द्रव्य के स्वभाव में तो अनादि से ही है । पर्याय – अपेक्षा तो पर्याय नवीन प्रगट होती है, परन्तु द्रव्य के स्वभाव में तो अनादि से वही पर्याय होनी निश्चित है । जो द्रव्य का स्वरूप इसप्रकार निश्चित करता है, उसके पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्यदृष्टि होती है और द्रव्य के आश्रय से उसके अल्पकाल में सिद्धदशा प्रकट हो जाती है ।

द्रव्यनय से तो वर्तमान में ही सिद्ध है । इसप्रकार साधक जीव इन नयों के माध्यम से स्वयं अपने आत्मा को देखता है, यहाँ यह बात कही है । अज्ञानियों को तो नय ही नहीं होते । कोई जीव भविष्य में भगवान होगा, परन्तु वर्तमान में अज्ञानी है, लेकिन उस अज्ञानभाव के समय में भी भविष्य में सिद्ध होने का उस द्रव्य का स्वभाव है । उसे इस बात की भले खबर न हो, पर दूसरा ज्ञानी तो अपने ज्ञान की निर्मलता से उसे जान लेता है ।

वर्तमान में अज्ञानदशा होने पर भी उसी समय (वर्तमान में ही अज्ञान अवस्था के काल में ही) सिद्धदशारूप पर्याय प्रगट होने का धर्म द्रव्य में मौजूद है । जो ऐसा जानता है, उसे पर्यायबुद्धि से राग-द्वेष नहीं होते । और अज्ञानदशा भी नहीं रहती ।

वर्तमानपर्याय में अज्ञानी को उसी अज्ञान अवस्था के काल में भविष्य में सिद्धपर्याय होने का धर्म है – इसका निर्णय किसके आधार पर किया जायेगा ? वर्तमान में वर्तती अज्ञानपर्याय की तरफ देखने से भविष्य की सिद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता, सिद्धपर्यायरूप होने की सामर्थ्य तो द्रव्य में है अर्थात् अपने द्रव्यस्वभाव का निर्णय हुए बिना इस जीव को भविष्य में सिद्ध होना है – इसप्रकार अन्य जीव के धर्म का निर्णय नहीं हो सकता । इसप्रकार भविष्य की पर्यायपने जानने में आता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है– ऐसा जीव का स्वभाव है । जो जीव ऐसे स्वभाववाले द्रव्य को जानता है, वह वर्तमान में साधक हो जाता है ।

वस्तु में पर्याय होने का स्वभाव अनादि से है अर्थात् जो होता है, उसी की पर्याय होती है तथा द्रव्य का स्वभाव अनादि-अनन्त पर्यायों से व्यवस्थित है ।

भूतकाल में जो पर्यायें हुई हैं, भविष्यकाल में जो पर्यायें होंगी, उन सभी पर्यायों का धारण करनेवाला आत्मा स्वयं है । द्रव्यनय से जीवद्रव्य भूत-भविष्य को पर्यायोंपने जाना जाता है – ऐसा जीवद्रव्य का स्वयं का स्वभाव है । जो पर्याय अभीतक न कभी हुई और न कभी भविष्य में होगी – ऐसी पर्याय को उत्पन्न करने का स्वभाव उस द्रव्य में अनादि-अनन्त नहीं है । और जो पर्याय उत्पन्न होती है, उस पर्याय के उत्पन्न होने का स्वभाव उस द्रव्य में अनादि-अनन्त पाया जाता है । जिस द्रव्य में जो पर्याय होनी होती है, उसे द्रव्यनय पलटता नहीं है, और जो नहीं होनी होती है, उसे लाता नहीं है – इसप्रकार इसमें क्रमबद्धपर्याय का महासिद्धान्त भी पाया जाता है ।

अहो ! अनादि-अनन्त काल के प्रत्येक समय में द्रव्य में जो-जो पर्यायें प्रगट होती हैं, उन-उन पर्यायों के प्रगट होनेरूप द्रव्य का अनादि-अनन्त स्वभाव ही है, इसलिए में इस पर्याय को बदलूँ या इस पर्यायरूप हो जाऊँ – इसप्रकार की भावना करना ठीक नहीं है, परन्तु इसप्रकार की पर्याय होने का स्वभाव द्रव्य में है – ऐसे द्रव्य को लक्ष्य में लेकर द्रव्यस्वभाव की भावना में एकाग्र होने से ज्ञान निर्विकल्प होता है और निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है ।

ज्ञानी की दृष्टि में सदैव द्रव्य की ही भावना रहती है, पर्यायबुद्धि नहीं होती; इसलिये यह पर्याय अच्छी है, इसे रखूं और यह पर्याय बुरी है, इसे टालूँ – ऐसा पर्यायबुद्धि का विषम भाव ज्ञानी के नहीं होता है । ज्ञानी को मोक्ष की भावना होती है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है । वास्तव में तो ज्ञानी की दृष्टि में अखण्डद्रव्य की ही भावना रहती है । भविष्य की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षपर्याय होने का धर्म तो द्रव्य में पड़ा हुआ है, इसलिए द्रव्य कीभावना में मोक्षपर्याय सहज ही प्रगट हो जाती है।

'ज्ञानी को बंध मोक्ष के प्रति समभाव है' इसका आशय यह है कि ज्ञानी को अखण्डद्रव्य की भावना में 'बंध का अभाव करूँ और मोक्ष प्रगट करूँ'– ऐसी पर्यायबुद्धि का विकल्प नहीं होता है। इसप्रकार द्रव्य की भावना में ही मोक्षप्राप्ति का वीतरागी पुरुषार्थ आता है, परन्तु पर्याय की भावना में तो राग की ही उत्पत्ति होती है।

जिसने वर्तमान काल में तीनकाल की समस्त पर्यायों को वर्तमान द्रव्य में जाना है – अर्थात् जिसे वर्तमान में भूतकाल और भविष्य की पर्यायों का निर्णय हुआ है, उसे पर्याय की भावना नहीं होती है, बल्कि उसका परिणमन स्वभाव-सन्मुख होता है, जिससे उसकी आगामी पर्याय भी निर्मल उत्पन्न होती है। ज्ञानी के, अमुक पर्याय को बदलूं या अमुक पर्याय को करूँ– ऐसी पर्यायबुद्धि नहीं रहती। पर्यायें तो द्रव्य के स्वभावप्रमाण होती हैं। जिसने द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध स्वीकार किया है, जाना है; उसका ज्ञान, स्वभाव के आश्रय में निर्मल हो गया है और उसके मोक्षमार्ग आरंभ हो गया है। इसलिये अब वह पर्यायसन्मुख न होकर, द्रव्यसन्मुख होता हुआ, द्रव्य की भावना भाकर अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है।

जब ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य का निर्णय करके उसमें ज्ञान एकाग्र होता है, तब जो तीर्थंकर चक्रवर्ती इत्यादि उत्कृष्ट पद प्राप्त होते हैं, उन पदों के ऊपर ज्ञानी का लक्ष्य नहीं होता है, भले ही उन पर्यायों का संयोग हो, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव पर ही रहती है, उन संयोगों पर नहीं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का निर्णय करनेवाले ज्ञानी को, उस द्रव्यस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान और सिद्धपद तो अल्पकाल में प्रगट होते ही है; तीर्थंकरादि पद किसी को होते हैं किसी को नहीं होते।

जिस द्रव्य में जो पर्याय होने का अर्थ है, उस द्रव्य में वह पर्याय हुए बिना नहीं रहती। – ऐसा द्रव्य का अनादि-निधन स्वभाव है। प्राप्य की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही प्राप्ति होती है। द्रव्य में जो पर्याय होने का स्वभाव है, वही पर्याय व्यक्त होती है, – ऐसा वस्तु का अनादि-अनन्त स्वभाव है। – ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करते ही त्रिकाली द्रव्य का सम्यग्ज्ञान होता है। वह सम्यग्ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वभाववाला है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुस्वभाव का निर्णय करके साधक जीव स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टापने स्व-पर प्रकाशक रहता है। उससमय उसके जितने अंशों में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की सामर्थ्य का विकास होता है, उसी के अनुसार ज्ञेय ज्ञान में आते हैं तथा तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि जिस पर्याय के व्यक्त होने का धर्म होता है, वह पर्याय व्यक्त होती है।

कोई आत्मा चक्रवर्ती पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है, कोई तीर्थंकर पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है, कोई जीव तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती दोनों पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है, कोई गणधर पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है, कोई बलदेव पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है, कोई अनुक्रम से बलदेव और चक्रवर्ती दोनों पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है। – इसप्रकार द्रव्य का उस-उस प्रकार का अनादि स्वभाव है। कोई जीव तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा बलदेव ये सभी पद प्राप्त किये बिना सामान्य केवलीपने मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसा भी उसका अनादि ही स्वभाव है। कोई जीव एक ही भव में चक्रवर्ती और तीर्थंकर – ये दोनों पद प्राप्त कर मोक्ष पाता है; लेकिन बलदेव या वासुदेव पद वाले उसी भव से तीर्थंकर पद प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

जिस जीव में जैसी पर्याय व्यक्त होने की योग्यता होती है, वह उसी पर्याय को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है, वह पर्याय बदल कर दूसरी पर्यायरूप नहीं होती। जैसे जो जीव तीर्थंकर होनेवाला है, वह तीर्थंकर पद (पर्याय) प्राप्त करके ही मोक्ष जायेगा, बलदेव की पर्याय प्राप्त करके नहीं, इसीप्रकार जो जीव बलदेव होनेवाला है वह बलदेव ही होगा, तीर्थंकर नहीं।

– इसप्रकार जिसद्रव्य में जो पर्याय होने का स्वभाव होता है, वही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय व्यक्त होती है, अन्य नहीं।

यहाँ कोई कहता है कि एक जीव तीर्थंकर पर्याय प्राप्त करके मोक्ष जाता है और एक सामान्यपने मोक्ष जाता है। जब दोनों के गुण समान हैं, तब फिर ऐसा भेद क्यों ? तो कहते हैं कि उसप्रकार की पर्याय का होना उन द्रव्यों का अनादिस्वभाव है। स्वभाव में ऐसा क्यों ? इसप्रकार का प्रश्न खड़ा नहीं होता है। द्रव्य का ऐसा अनादि-निधन स्वभाव जानकर अपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञाता-दृष्टा होना –इसका फल है।

पर के कारण मेरी पर्याय हो अथवा मैं पर की पर्याय में फेर-फार करूँ – ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है ही, पर मैं अपनी पर्याय में फेर-फार करूँ – ऐसी जो पर्याय बदलने की बुद्धि है, वह भी पर्यायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि है।

धर्मी जीव तो ऐसा जानता है कि पर्याय होगी, वह मेरे द्रव्य में से ही होगी और द्रव्य के स्वभावानुसार ही होगी। – ऐसा निर्णय करनेवाले ज्ञानी के द्रव्यस्वभाव के आश्रय से पर्यायबुद्धि का विषमभाव नहीं रहता। साधकजीव अपनी प्रत्येक पर्याय को पृथक्-पृथक् भले न जाने, पर सामान्यपने तो यह निःसन्देह निर्णय हो गया है कि मेरी समस्त पर्यायें मेरे द्रव्यस्वभाव में से ही होंगी, इसलिए साधकजीव के अभिप्राय में सदैव स्वद्रव्य का ही आश्रय वर्तता है और यही मोक्षमार्ग है।

देखो, धर्म की रीति तो ऐसी है कि इसमें कहीं कुछ करना नहीं है। द्रव्यशक्ति अनादि – अनन्त है, उसे बदलना नहीं है। जो पर्याय हो रही है उसे भी नहीं बदलना है, शुभाशुभ विकल्प को नहीं बदलना है, निमित्त को नहीं बदलना है, संयोग को नहीं बदलना है। यह तो जैसे हैं, वैसे ही हैं। जब ऐसा निर्णय करने पर स्वयं अपने स्वभाव के सन्मुख होकर वीतरागी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव रह जाता है, तब अपनी पर्याय स्वयं ही मोक्षमार्ग और मोक्षरूप परिणम जाती है।

वस्तुस्वभाव का ज्यों का त्यों श्रद्धान करने से पर में संयोगदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हो जाती है और मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तुस्वभाव में अनादि से ही अनादि-अनन्त की समस्त पर्यायें निहित हैं; समाहित हैं, उन पर्यायों को करनेवाला कोई ईश्वर या अन्य पदार्थ नहीं है। जीवपर्याय को अन्य तो बदल ही नहीं सकता, पर स्वयं भी अपनी पर्याय के क्रम को तोड़कर आगे-पीछे नहीं कर सकता।

यहाँ कोई कहता है कि यदि द्रव्य स्वयं भी अपनी पर्याय में फेर-फार नहीं कर सकता है तो पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

इसका समाधान है कि अपनी तीनकाल की पर्याय अपने द्रव्य में से ही आती है – ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि परद्रव्य से हटकर स्वद्रव्य पर जाती है और स्वसन्मुख होते ही मोक्ष प्राप्ति का परम पुरुषार्थ प्रगट होता है और मोक्षमार्ग आरंभ हो जाता है। मेरी पर्याय पर में से नहीं आती है, मेरे द्रव्य में से ही आवेगी और उसमें कोई फेर-फार भी नहीं होगा –ऐसा निर्णय, जिसमें समस्त पर्यायें समाहित हैं–ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होने से होता है। पर्याय या निमित्त के सन्मुख लक्ष्य होने से नहीं होता। – इसप्रकार इसमें द्रव्यस्वभाव के आश्रय का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है और यही मोक्ष का पुरुषार्थ है।

द्रव्यनय से देखने पर द्रव्य भूत, भविष्य की पर्यायरूप जाना जाता है। – ऐसा द्रव्य का एक धर्म है। आचार्यदेव ने वस्तु के जिन धर्मों का वर्णन किया है, उनमें बहुत गहराई है।

साधकजीव ऐसा जानता है कि मेरे द्रव्य में वर्तमान में ही भविष्य की पर्याय होने का स्वभाव पड़ा है; इसका अर्थ है सत् का ही उत्पाद होता है। मेरी पर्याय को प्रकट होने के लिए किसी दूसरे की आधीनता नहीं है, वह तो अपने सत् द्रव्य के आधार से ही उत्पन्न होती है।

द्रव्य में जिस समय जिस पर्याय के होने का स्वभाव है, उस समय वही पर्याय होती है, उस समय वैसा ही विकल्प आता है, और वैसा ही संयोग मिलता है। – ऐसा निर्णय करनेवाले को क्या करना शेष रह जाता है ? उसे तो मात्र अपना त्रिकाली सत् स्वभाव का ही ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना है – इसके अलावा पर में या अपनी पर्याय में भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

फेर-फार नहीं करना है।

प्रश्न – आत्मा पर में तो कोई फेर-फार नहीं कर सकता, पर अपनी पर्याय में भी कोई फेर-फार नहीं कर सकता है क्या ?

उत्तर – अरे भाई ! जब द्रव्यस्वभाव का निर्णय किया, तब वर्तमान पर्याय स्वयं द्रव्यसन्मुख हो जाती है। तब फिर तुझे किसको बदलना है ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है – ऐसा निर्णय करते ही पर्याय द्रव्य में अर्न्तमुख हो जाती है, द्रव्य में समा जाती है। इसके बाद प्रत्येक पर्याय अपने क्रम में निर्मल ही आती है और शान्ति बढ़ती जाती है। इसप्रकार जब पर्याय स्वयं द्रव्य में समा गई है, तब उसे बदलने का क्या काम रहा ? वह पर्याय स्वयं द्रव्य की सीमा में आ गई।

पर्याय कहाँ से आती है ? द्रव्य में से – इसप्रकार जब सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव को ही अपने अन्दर समाहित कर लिया अर्थात् स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित कर लिया, तब पर्यायें तो अपने आप मर्यादा में आ गईं अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें निर्मल ही उत्पन्न होती हैं। जब स्वभाव का निर्णय किया, तब मिथ्याश्रद्धा पलटकर सम्यग्दर्शन हुआ और मिथ्याज्ञान पलटकर सम्यग्ज्ञान हुआ – इसप्रकार निर्मलपर्यायों का होना वस्तु का स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव पलटता नहीं है और पर्याय का क्रम टूटता नहीं है – इसप्रकार वस्तुस्वभाव को स्वीकार करते ही पर्याय की निर्मलधारा शुरू हो जाती है तथा उसमें ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ शामिल होता है।

जिसे स्वद्रव्य को, गुण को, पर्याय को बदलने की बुद्धि नहीं है और जिसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो गया है अर्थात् मात्र वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया है, उसे अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त होता है, ज्ञानी का अपने ज्ञानस्वभाव में ज्ञातापने रहना ही वास्तविक स्वरूप है, यही समस्त शास्त्रों का सार है। जिसे अन्तर की बात ख्याल में नहीं, उसे पर में या पर्याय में फेर-फार करने का मन होता है; ज्ञाताभाव को छोड़कर किसी में भी फेर-फार करने की बुद्धि मिथ्याबुद्धि है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानी धर्मात्मा को चक्रवर्ती पद होने पर भी ऐसा नहीं लगता कि इसका कर्त्ता मैं हूँ। यदि यह नहीं होता और मैं निर्धन होता तो क्या होता? ऐसा विकल्प भी नहीं आता। वह जानता है कि भूमिकानुसार पर्याय में राग तथा संयोग आये बिना नहीं रहते। यह भी वस्तु का स्वभाव है।

द्रव्य में जिन-जिन पर्यायों के होने का स्वभाव है, वे ही पर्यायें होती हैं, उन्हें कोई पलट नहीं सकता – ऐसा जानता हुआ ज्ञानी अपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर पर्याय का ज्ञाता ही रहता है। चक्रवर्ती पद में जो राग और संयोग होता है, वास्तव में तो वह उसका ज्ञाता ही रहता है। –यह पर्याय और यह संयोग क्यों हुआ – ऐसा विषमभाव उसके ज्ञान में नहीं रहता। संयोग की तथा राग की भावना नहीं होते हुए भी इनके प्रति राग क्यों होता है? –ऐसी शंका भी ज्ञानी के नहीं होती। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि संयोग तो मेरे से भिन्न पर हैं। रागपर्याय भी मेरा त्रिकालीस्वभाव नहीं है – इसप्रकार धर्मी के द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में वीतरागभाव ही वृद्धिंगत होता है और इसी का नाम सच्चा धर्म है।

दो केवलियों में एक के तीर्थंकर पद हो और एक के न हो, दो मुनियों में एक के आचार्य पद हो और एक के न हो, दो साधक जीवों में एक के विशेष पुण्य का योग हो और एक के न हो; वहाँ धर्मीजीव को दोनों की अन्तरंग पवित्रता पर शंका नहीं होती। वह तो ऐसा जानता है कि इस-इसप्रकार की विशेष पर्याय होना द्रव्य का ही स्वभाव है।

अपने द्रव्यस्वभाव की स्वीकृति में अर्थात् द्रव्यस्वभाव में पर्याय का एकत्व होते ही मोक्षदशा का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। बाद में तीर्थंकर पदवी हो या न हो, ज्ञानी तो उसे मात्र जानता है, उससे मोक्षमार्ग का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मोक्षमार्ग तो अन्तरंग अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही होता है।

जो पर्यायें भविष्य में होनी हैं; द्रव्यनय से उस पर्यायपने द्रव्य वर्तमान में जाना जाता है। – ऐसा द्रव्य का स्वभाव है। जिसप्रकार भविष्य में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने वाले कार्य को ज्योतिषी मात्र जानता है, उसे आगे-पीछे नहीं करता; उसीप्रकार द्रव्यनय भविष्य में होनेवाली पर्याय को मात्र जानता है, उसे आगे-पीछे नहीं करता। – ऐसा द्रव्य का स्वभाव है।

ज्योतिषी जो भविष्य में होना है, वह जानता है; परन्तु उसे पलट नहीं सकता। उसीप्रकार त्रिकाली द्रव्य में अनादि-अनन्त पर्यायों के प्रगट होने का स्वभाव है और ज्ञान का स्वभाव उसे जानने का है, ज्ञान उसे जानता है, निषेध नहीं करता और बदलता भी नहीं है।

द्रव्य में जो-जो पर्यायें भविष्य में होनेवाली हैं, उन्हें भविष्य में होने से पहले वर्तमान में भी उन-उन पर्यायों के होने का स्वभाव (धर्म) द्रव्य में विद्यमान है। तथा उन भावीपर्यायोंपने द्रव्य को वर्तमान में जाननेवाला श्रुतज्ञान भी उसी समय है, जिसे द्रव्यनय कहते है। द्रव्य की अनन्तपर्यायों में से श्रुतज्ञान प्रत्येक को भिन्न-भिन्न भले न जानता हो, पर सामान्यपने तो सम्पूर्ण द्रव्य की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें द्रव्य में से ही होती हैं – ऐसे द्रव्यस्वभाव को जानता है। – ऐसा निर्णय होने पर किसी भी पर्याय के समय धर्मीजीव द्रव्यस्वभाव से च्युत नहीं होता। –ऐसा द्रव्यस्वभाव समझने के बाद उसका घोलन तथा एकाग्रता का होना चारित्र है।

जहाँ स्वभावसन्मुख अवस्था प्रगट हुई, वहाँ 'मुझे अल्पकाल में सिद्ध होना है' साधकजीव को ऐसा निर्णय हो जाता है। भविष्य में अल्पकाल में सिद्धदशा होना है, वहाँ 'मैं सिद्ध हूँ'– इसप्रकार भावीपर्यायपने वर्तमान में निज आत्मा दिखाई देता है। – ऐसा आत्मा का एक धर्म है और श्रुतज्ञान का स्वभाव उसे जानना है।

देखो, यहाँ तो जिसे भविष्य में सिद्धपर्याय होनी है – ऐसे आत्मा की बात ली है अर्थात् भव्यजीव की बात की है, जिसके भविष्य में सिद्धपर्याय प्रगट होना है, वह द्रव्यनय से वर्तमान में अपने को सिद्धपने जानता है। यह नय सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के ही होते हैं। यहाँ तो जो स्वयं अपने स्वभाव को ज्ञान का ज्ञेय बनाता है – ऐसे मोक्षगामी जीव की ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बात है। ज्ञानी की और वस्तुस्वभाव की एकता की बात है।

नयों के द्वारा वस्तुस्वभाव को साधकर अर्थात् समझकर उसमें ज्ञान की एकता करने के लिए यहाँ नयों से आत्मा का वर्णन किया है। यह बात आचार्य अमृतचंद्र देव ने आगे १९वें कलश में इसप्रकार कही है "इसप्रकार स्यात्कारश्री के निवास के वशीभूत वर्तते नय-समूहों से देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनंतधर्मों वाले निज आत्मद्रव्य को हम भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही है। अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को देखना ही समस्त नयों का तात्पर्य है।

वस्तु अनादि-अनन्त है, उसमें वर्तमान एक पर्याय प्रगट है, इसके अलावा भूत-भविष्य की पर्यायें अप्रगट हैं, वे भूत-भविष्य की अप्रगट पर्यायें वर्तमानवत् जानने में आये – ऐसा द्रव्य का धर्म है। द्रव्य वर्तमान पर्यायमात्र ही नहीं है, परन्तु वह तो तीन काल की पर्यायों का पिण्ड है अर्थात् तीनकाल की पर्यायें जिसमें से प्रगट होती रहे, उसका नाम द्रव्य है। वर्तमान पर्याय ही जानने में आती हो – भूत-भविष्य की पर्यायें ज्ञान में न जानी जाती हों – ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्याय की तरह भूत-भविष्य की पर्यायें भी ज्ञान में जानी जाती हैं, जानने में आती हैं।

श्रुतज्ञान से सामान्यतया यह ख्याल में आता है कि इस जीव ने पूर्व में अनन्तभव धारण किये हैं और यदि ज्ञान में विशेष निर्मलता हो तो श्रुतज्ञानी को पूर्व के असंख्य वर्षों के अनेक भव ख्याल में आ जाते हैं।

जीवद्रव्य अनादि का है और उसकी पर्यायें भी अनादि से हैं। पूर्व में अकेला द्रव्य ही था, पर्यायें नहीं थी – ऐसा नहीं है; क्योंकि द्रव्य कभी पर्याय से रहित नहीं होता है। पूर्व में कभी भी इस जीव को मोक्षपर्याय प्रगट नहीं हुई; क्योंकि जिसे मोक्षपर्याय होती है, उसे फिर संसार नहीं होता। इसलिए अनादिकाल से जीव ने अभी तक भिन्न-भिन्न अनन्तें भव धारण किए हैं। – इसप्रकार श्रुतज्ञान द्वारा द्रव्य की भूत-भावी पर्यायें भी जानी जाती हैं। – ऐसा आत्मा में एक धर्म है। द्रव्यनय में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इतना सामर्थ्य है कि द्रव्य की भूत-भविष्य की समस्त पर्यायों को वर्तमान में जाने, द्रव्य में ऐसा ज्ञेय धर्म है और ज्ञान समस्त त्रिकालीवर्ती पर्यायों सहित उसे जाने – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। एक धर्म को भी यथार्थ जानने से त्रिकाली द्रव्य का स्वरूप प्रतीति में आये बिना नहीं रहता।

प्रत्येक आत्मा में प्रत्येक समय अनन्तधर्मों की रिद्धि है, उसे किसी दूसरे के आग्रह की जरूरत नहीं है। – अनादि से अज्ञानी ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि किये बिना भवभ्रमण कर रहा है। जबतक आत्मा का यथार्थस्वरूप ज्ञान तथा श्रद्धान में नहीं आवेगा, तबतक भवभ्रमण मिटनेवाला नहीं है। आत्मज्ञान बिना अनन्तबार बाह्यत्यागी, पण्डित होकर भी संसार में ही भटकता रहा। शास्त्र भी अनन्तबार पढ़े, परन्तु आत्मा को न जाना। अपने आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे वैसा जाने बिना परसन्मुख रहकर ही सब किया है, कभी भी अर्न्तमुख होकर अपने आत्मस्वभाव की रुचि प्रतीति नहीं की; यदि आत्मस्वभाव की प्रतीति करे तो भवभ्रमण का सर्वथा नाश हो।

जिसे भवभ्रमण का दुख भासित हुआ है और जो आत्मा का स्वरूप समझकर भवभ्रमण से छूटना चाहता है – ऐसे जीव के लिए यह उपेदश है।

यहाँ आत्मा के स्वरूप की विभिन्न अपेक्षाओं से बात चलती है। इनमें से यहाँ चौदहवें बोल में आत्मा का स्वरूप द्रव्यनय से बताया जा रहा है।

आत्मा त्रिकाली द्रव्य है, इसकी जो पर्यायें भूतकाल में हुई हैं और भविष्य में होंगी, उन सभी पर्यायोंपने आत्मा वर्तमान में जाना जाता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। भूत-भविष्य की पर्यायों को जान लेने की सामर्थ्य ज्ञान में ही है, इन्द्रियों में या राग में नहीं।

देखो, ज्ञान में कितनी सामर्थ्य है कि ज्ञान आत्मा को भविष्य की सिद्धपर्यायपने वर्तमान में जानता है। आत्मा में अनन्त गुण-पर्यायें हैं,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान उन सभी को जानता है। तीनकाल की पर्यायें मेरे द्रव्य में से होती हैं – ऐसा जानने पर ज्ञान द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर, विकल्पों का शमन करके वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। दृष्टि द्रव्यसन्मुख होते ही वर्तमान पर्याय में कुछ अंशों में शुद्धतारूप भाव होता है अर्थात् भूत-भविष्य की पर्यायपने द्रव्य को जाननेवाले जीव को वर्तमान पर्याय में निर्मलता प्रगट हो जाती है। वर्तमान पर्याय में अल्प निर्मलता सहित भूत-भविष्य की पर्यायोंपने द्रव्य को जाननेवाला द्रव्यनय है।

जिस जीव को केवलज्ञान प्रगट करना है, उस जीव में केवलज्ञान प्रगट करने का धर्म तो सदैव है। 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट करने का धर्म' दोनों में काफी अन्तर है। केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्य में भी है, परन्तु उसमें केवलज्ञान प्रगट करने का धर्म नहीं है। अभव्यजीव में ऐसा स्वभाव तो है, परन्तु केवलज्ञान पर्याय कभी प्रगट नहीं होगी – ऐसा भी उसका स्वभाव है।

जो जीव अपने द्रव्यस्वभाव का निर्णय करता है, उस जीव को अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होता ही है, नहीं हो – ऐसा नहीं होता। वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं होने पर भी भविष्य में केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होगी। 'जिस द्रव्य में त्रिकाल केवलज्ञान प्रगट करने का स्वभाव भरा है' – ऐसे द्रव्य के आधार पर ज्ञानी यह निर्णय करता है कि वर्तमान में नहीं होते हुए भी भविष्य में केवलज्ञान पर्याय प्रगट होगी। तथा वह जीव वर्तमान में तो साधक हो गया है और उसे अल्पकाल में केवलज्ञान दशा प्रगट होगी।

यहाँ बालक का दृष्टान्त दिया है, जो बालक आयुष्यवंत है और भविष्य में सेठ होनेवाला है। उसे लोग भावी पर्यायपने लक्ष्य में लेकर कहते हैं कि 'यह सेठ है' वहाँ भविष्य में सेठ होनेवाला बालक वर्तमान में सेठ जैसा प्रतिभासित होता है। – ऐसा उसका धर्म है। इसीप्रकार सिद्धान्त में ऐसा जीव लिया है कि जो भविष्य में सिद्ध होनेवाला है, वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वर्तमान में सिद्धपने प्रतिभासित होता है। ऐसा उसका धर्म है।

इसीप्रकार धर्मीजीव स्वयं अपनी आत्मा को भविष्य की सिद्धपर्यायपने वर्तमान में देखता है, अनुभव करता है। इस द्रव्य में भविष्य में यह पर्याय होना है, जिसके ज्ञान में ऐसा प्रतिभासित होता है, उसे ही यह द्रव्यनय लागू पड़ता है।

श्रीमज्जिनेन्द्रपरमात्मा की दिव्यध्वनि में आया कि 'यह जीव भविष्य में सिद्ध होगा' – यह बात दूसरे श्रुतज्ञानी ने जान ली और 'यह आत्मा सिद्ध है' – ऐसा भावीपर्यायपने उस आत्मा को वर्तमान में जान लिया तो उस ज्ञान में द्रव्यनय है। यहाँ द्रव्यनय से देखने पर भविष्य की सिद्धपर्यायपने जानने में आये – यह धर्म तो उस आत्मा में है। भगवान ने कहा या श्रुतज्ञानी ने जाना, इसलिए नहीं है; बल्कि ऐसा आत्मा का ही स्वभाव है।

दूसरा उदाहरण राजा का दिया है, जो जीव पहले राजा था, बाद में वैराग्य को प्राप्त होकर मुनि हो गया हो – ऐसा जीव वर्तमान में मुनि होने पर भी पूर्व की राजा पर्याय के समान वर्तमान में भासित होता है। – ऐसा उसका धर्म है। सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि अवस्था में रोग होने पर भी 'सनतकुमार चक्रवर्ती को रोग हुआ' – द्रव्यनय से ऐसा कहा जाता है। – इसप्रकार द्रव्य पूर्व की पर्यायरूप जानने में आये – ऐसा वस्तु का एक धर्म है और उसे जाननेवाले नय का नाम द्रव्यनय है।

द्रव्य को भूतकाल की पर्यायपने जानना या भविष्यकाल की पर्यायपने जानना – दोनों द्रव्यनय में समा जाते हैं। भूतकाल की पर्यायपने दिखाई देनेवाला धर्म भिन्न हो और भविष्यकाल की पर्यायपने दिखाई देनेवाला धर्म भिन्न हो – ऐसे भिन्न-भिन्न दो धर्म नहीं हैं। एक धर्म में ही यह दोनों पहलू पाये जाते है।

जिसप्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव –ये चार निक्षेप होते हैं; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में चार धर्म होते हैं। वस्तु में चार धर्म भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वस्तु तो अनंतधर्मात्मक अखण्ड-पिण्डस्वरूप है और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन अनंतधर्मों को प्रथक्-प्रथक् जाननेवाले प्रथक्-प्रथक् अनंत नय हैं। तथा अनंतधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण की विषय है। श्रुतज्ञान जाननेवाला है और धर्म उसका विषय है। एक नय का विषय एक धर्म है।

वस्तु में अनंतधर्म हैं, यदि उनमें से एक भी धर्म को कम माना जाय तो वस्तु ही सिद्ध न हो। इसमें आत्मा को क्षणिक धर्मवाला माननेवाले बौद्ध की या सर्वथा कूटस्थ धर्मवाला माननेवाले वेदान्त इत्यादि की कोई बात नहीं रहती है ; क्योंकि वे सभी तो एकान्त एक पक्ष को ही सम्पूर्ण वस्तु माननेवाले हैं, इसलिए उनका एक पक्ष भी सच्चा नही रहता। एक अंश अंशपने भी तब कहलाता है कि जब वह अंशी की तथा अन्य अंशों की भी सत्ता स्वीकार करता है ; परन्तु जो एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु का स्वरूप मान लेता है, उसके तो अंश तथा अंशी एक भी नहीं होता।

यदि कोई आत्मा को सर्वथा शुद्ध ही मानता है और वर्तमान पर्याय में विद्यमान क्षणिक अशुद्धतारूप धर्म को नहीं मानता, तो एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मानने से अंश अंशपने ही नहीं कहलाता और इसीप्रकार अन्य अंश भी नहीं माने गये; इसलिए अंशी भी नहीं रहा अर्थात् उसकी श्रद्धा में वस्तु ही नहीं आई और उसकी श्रद्धा मिथ्या ही रही। वस्तु तो अनंतधर्मात्मक जैसी है, वैसी ही रहेगी।

इसीप्रकार जो आत्मा मात्र क्षणिक अशुद्धता को ही मानता है और सामान्य शुद्ध पहलू को नहीं मानता, तो उसके अंश-अंशी एक भी यथार्थ नहीं कहलाता और उसकी श्रद्धा भी मिथ्या रहती है। अनंतधर्मात्मक वस्तु में कोई भी फेर-बदल सम्भव नहीं है।

जो सम्पूर्ण द्रव्य को मानता है, उसका अंश को मानना भी सत्य है; क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति बिना अंश किसका माना जाये ? इसलिए सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक उसके अंश को जाने तो अंश और अंशी दोनों का ज्ञान यथार्थ कहलाता है। इसप्रकार अंशी और अंश इन दोनों का यथार्थ ज्ञान एक साथ ही होता है। अखण्ड अंशी को माने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बिना उसके अंश का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तथा अंशी के सम्पूर्ण अंशों को माने बिना अंशी का यथार्थज्ञान नहीं होता।

इसप्रकार अनेकांतमत में तो किञ्चित् भी अधूरापन (असत्यता) नहीं रहता और एकान्तमत में किञ्चित् भी सत्यता नहीं रहती। एक सम्पूर्णतः सत्य है और दूसरा सम्पूर्णतः असत्य।

द्रव्यनय ऐसा जानता है कि सिद्ध, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव इत्यादि जो-जो पर्याय भविष्य में होना है, उस-उस पर्याय के होने का धर्म द्रव्य में वर्तमान में है; आत्मा में उस पर्याय के प्रगट होने से पूर्व उस पर्याय के होने का धर्म त्रिकाल पाया जाता है। अर्थात् कोई पर्याय किसी संयोग के कारण होती हो या रुकती हो – यह बात ही नहीं रहती। जो ऐसा समझ लेता है, उसकी संयोगदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हुए बिना नहीं रहती। – इसप्रकार स्वभावदृष्टि होना ही नय का तात्पर्य है।

मेरा उपास्य

यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

अर्थ : स्वभाव से जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं।

- पूज्यपाद आचार्य, समाधितंत्र श्लोक - ३१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भावनय

भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि ।

आत्मद्रव्य भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तती स्त्री की तरह वर्तमान वर्तती पर्यायरूप में उल्लसित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतिभासित होता है । जिसप्रकार पुरुष के समान प्रवर्तती हुई स्त्री पुरुषत्व पर्यायरूप में प्रतिभासित होती है, उसीप्रकार आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से जाना जाता है ।

त्रिकालीद्रव्य उल्लसित होता हुआ वर्तमान पर्यायरूप प्रतिभासित होता है, –इसप्रकार का उसका धर्म है । पर्याय तो द्रव्य में समाहित रहती है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान पर्याय में उल्लसित होता है अर्थात् भावनय से द्रव्य वर्तमान पर्यायरूप परिणमित होता हुआ दिखाई देता है । जैसे वर्तमान में सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप दिखाई देता है । आत्मा सम्यग्दृष्टि है, आत्मा मुनि है, आत्मा केवलज्ञानी है – इसप्रकार वर्तमान पर्यायरूप द्रव्य को देखना भावनय का काम है । द्रव्य में ऐसा एक धर्म है कि उस धर्म के कारण वह वर्तमान पर्यायरूप जानने में आवे ।

यहाँ आचार्यदेव ने स्त्री का दृष्टान्त देकर समझाया है । शास्त्रकार आचार्य-भगवान तो वीतरागी संत है । वस्तुस्वरूप समझाने के लिए जो दृष्टान्त ख्याल में आया, वही दृष्टान्त निशंकतापूर्वक दे दिया । जैसे – जिससमय कोई स्त्री पुरुष जैसी चेष्टारूप प्रवर्तित होती है, तब वह स्त्री पुरुष रूप प्रतिभासित होती है; उसीप्रकार वर्तमान पर्यायरूप प्रवर्तित होता हुआ द्रव्य भी भावनय से उस पर्यायरूप प्रतिभासित होता है । पर्याय तो द्रव्य में तन्मय होकर परिणमित होती है, पर यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य स्वयं उल्लसित होकर उस-उस काल की पर्याय में तन्मय हो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाता है । इसलिये उस समय सम्पूर्ण द्रव्य उस वर्तती पर्यायरूप जानने में आता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई, उस पर्याय में द्रव्य तन्मय होकर प्रतिभासित होता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है । सम्यग्दर्शनादि पर्यायें हुई, उसमें आत्मा ही तन्मयता से प्रतिभासित है अर्थात् आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, ऐसा भावनय बताता है ।

सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान पर्यायरूप जानने में आता है । ऐसा उसका अनादि-अनन्त स्वभाव है । जहाँ ऐसा स्वभाव निश्चित किया, वहाँ निर्मलपर्याय में उल्लसित होता हुआ द्रव्य प्रतिभासित हुआ । जिसने द्रव्य को प्रतीति में लिया है, उसे वर्तमान पर्याय में उल्लसित होता हुआ सम्पूर्ण द्रव्य दिखाई देता है ।

– इसप्रकार यहाँ साधक जीव की सम्यक् पर्यायों की बात है । केवली भगवान तो नय से अतिक्रान्त हैं । उनको नय से कुछ भी साधने योग्य नहीं रहा । अज्ञानी जीव को द्रव्य का भान नहीं होने से उसको पर्याय में द्रव्य उल्लसित होता हुआ दिखाई नहीं देता । उसने तो विकल्प और राग को ही आत्मा माना है, अतः उसको तो पर्याय में राग ही उल्लसित होता हुआ दिखाई देता है । साधक जीव को अखण्ड द्रव्य का भान होने से उसको अपनी पर्याय में ही द्रव्य उल्लसित होता हुआ प्रतिभासित होता है। वह अपने को वर्तमान पर्याय मात्र नहीं मानता, वर्तमान पर्याय में ही त्रिकाली द्रव्य को द्रव्य के रूप में देखता है । भावनय से देखने पर सम्पूर्ण आत्मा सम्यग्दर्शनादि वर्तमान पर्यायरूप भासित होता है । इसप्रकार वर्तमान पर्यायरूप उल्लसित होता हुआ दिखाई देवे – ऐसा द्रव्य का धर्म है । अज्ञानी के आत्मा में भी ऐसा धर्म तो है, परन्तु उसको अपने द्रव्य का ज्ञान नहीं है, अतः वर्तमान पर्याय में द्रव्य उल्लसित होता है – ऐसा उसे प्रतिभास नहीं होता । अतः उसको भावनय नहीं होता और अज्ञानी को तो कोई भी नय नहीं होते । जो ऐसा जानता है कि द्रव्य अपनी पर्यायरूप ही उल्लसित होता है, वह बाहर के आश्रय से पर्याय की निर्मलता नहीं मानता, वरन् मेरी वर्तमान पर्याय में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मेरा ही द्रव्य उल्लसित है, समाया हुआ है – ऐसा जिसने जाना, उसकी दृष्टि द्रव्यसन्मुख होती है और उसे ही सम्यग्ज्ञान होता है और उसको ही भावनय लागू होता है, इसके अलावा अन्य प्रकार से भावनय नहीं होता; क्योंकि भावनय सम्यग्ज्ञान का अंश है।

सर्वज्ञ भगवान ने अनन्तधर्मात्मक आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है, वैसा ही अनन्तधर्मात्मक आत्मा साधक को श्रुतज्ञान प्रमाण से परोक्ष ख्याल में आता है। उसमें आंशिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी है। श्रुतज्ञान में अनन्तनय समाहित हैं, – श्रुतज्ञान से स्वसन्मुखतापूर्वक सर्वज्ञ के द्वारा देखा हुआ आत्मा अपने ज्ञान में आये बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता, अतः आचार्यदेव ने यहाँ आत्मा की यथार्थप्रतीति कराई है।

यहाँ ४७ नयों से आत्मस्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। उनमें से १५वें भावनय का व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब आचार्यदेव सामान्य और विशेष नयों का वर्णन करेंगे।

साधक का स्वरूप

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्र निजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीत मोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा,
मूढास्त्वभूमनुपलभ्य परिभ्रमंति॥

अर्थ : जो पुरुष किसी भी प्रकार से जिसका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ ज्ञानमात्र निज भावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस - मय निश्चल भूमिका का) आश्रय लेते हैं वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो मूढ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं वे उस भूमिका को प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं।

- आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश - २६६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सामान्यनय

सामान्यनयेनहारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।

आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार, माला-कंठी के धागे की तरह व्यापक है । जिसप्रकार मोती की माला का धागा सर्व मोतियों में व्याप्त होता है, उसीप्रकार आत्मा सामान्यनय से सब पर्यायों में व्याप्त होता है ।

भावनय से तो आत्मा वर्तमान पर्यायरूप प्रतिभासित होता है अर्थात् वर्तमान में एक पर्याय में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है – ऐसा कहा । यहाँ कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा सम्पूर्ण पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यरूप दिखाई देता है । सामान्यनय यह बतलाता है कि हे जीव ! तेरी पर्याय में तूँ ही सदा व्यापक है, तेरी पर्याय में किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है अर्थात् तेरी पर्याय प्रगट करने के लिये तुझे किसी की तरफ देखने की आवश्यकता नहीं, बल्कि तुझे अपने द्रव्य की तरफ ही देखना है ।

जो स्वयं की पर्याय में कभी व्यापक नहीं – ऐसे परद्रव्य के ऊपर दृष्टि रखते हुए निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती; पर जो अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक है, ऐसे स्वद्रव्य के ऊपर दृष्टिपूर्वक स्वद्रव्य के आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह धर्म है । इसके अलावा निर्दोष आहारादि के कारण धर्म होता है, ऐसा जिसने माना है, उसने अपनी धर्मपर्याय में आत्मा को व्यापक नहीं माना और अचेतन आहार को अपनी पर्याय में व्यापक माना; परन्तु आहार तो परद्रव्य है, वह मेरी पर्याय में व्याप्त नहीं होता तो उससे धर्म कैसे हो ? अपनी पर्याय में अपना आत्मा ही व्यापक है, वही धर्म का कारण है ।

देव-शास्त्र-गुरु भी इस आत्मा की पर्याय में व्यापते नहीं, इसतरह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का भाव अथवा दुःखी जीवों की सेवा वगैरह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का भाव पुण्यभाव है, धर्म की क्रिया नहीं है। तो धर्म की क्रिया क्या है ? अनंतधर्मों को धारण करनेवाले निज आत्मा को प्रथम श्रद्धा-ज्ञान में निश्चित करना, पश्चात् उसी में लीन होना ही धर्म की क्रिया है। अनंतधर्मात्मक धर्मी (आत्मा) के आधार से धर्म की क्रिया होती है। आत्मा के अलावा पर के आधार से धर्म की क्रिया नहीं होती।

पहले द्रव्यनय से आत्मा को चैतन्यमात्र कहकर अभेदपना बताया और यहाँ सामान्यनय से आत्मा का समस्त पर्यायों में व्यापकपना कहकर सामान्यपना बताते हैं। आत्मा में अनंतधर्म हैं और प्रत्येक धर्म को जाननेवाले अनंतनय हैं। आत्मद्रव्य समस्त गुण-पर्यायों में एकरूप से व्यापक है, अतः वह सामान्य है – इसप्रकार सामान्यधर्म से द्रव्य को जानना सामान्यनय का काम है।

प्रत्येक द्रव्य के वर्णन में आचार्यदेव ने दृष्टान्त देकर समझाया है। यहाँ मोती की माला का दृष्टान्त दिया है। जैसे – माला का धागा सम्पूर्ण मोतियों में व्याप्त है; अमुक मोती में होवे, अमुक में न होवे– ऐसा नहीं है। सभी मोतियों में माला का धागा संलग्न है। अतः उस माला का प्रत्येक मोती क्रमसर लगा हुआ है। वह आगे-पीछे नहीं होता, वैसे ही आत्मद्रव्य अपनी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों में व्याप्त है। कोई भी पर्याय आत्मद्रव्य बिना नहीं होती। उसकी समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हैं। कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। इसप्रकार द्रव्य का ऐसा व्यापक धर्म है कि वह अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त होता है।

भावनय से देखने पर वर्तमान पर्यायरूप ही द्रव्य प्रतिभासित होता है। द्रव्यनय से देखने पर भूत-भावीपर्यायरूप द्रव्य प्रतिभासित होता है और सामान्य से देखने पर तीनकाल की पर्यायों में व्यापकपने द्रव्य प्रतिभासित होता है। इसका अर्थ हुआ कि वर्तमान की पर्याय वर्तमान में है, भूतकाल की पर्याय भूतकाल में है और भविष्य की पर्याय भविष्य में है। कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। अगर भविष्य की पर्याय का क्रम द्रव्य में निश्चित न हो तो भावी पर्यायपने द्रव्य प्रतिभासित हो ही नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकता।

जिसप्रकार मोती की माला में मोती का क्रम आगे-पीछे नहीं होता, उसीप्रकार तीनकाल की पर्यायमाला में व्यापक ऐसे द्रव्य में कोई पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता तथा पर को लेकर कोई पर्याय नहीं होती, – यह बात भी इसमें आ गई। द्रव्य की पर्याय अपने स्वसमय में ही होती है, आगे-पीछे नहीं होती।

यहाँ अध्यात्मनय है, इसमें नय और नय के विषयरूप धर्म को एकरूप बतलाते हैं। वस्तु के अनन्तधर्मों में अनंतनय व्याप्त हैं। ऐसा कहकर नयों की स्वसन्मुखता बताई है। ये नय पर में व्याप्त नहीं होते, परन्तु वस्तु के निजधर्मों में ही व्याप्त होते हैं, इसलिये पर की तरफ देखना नहीं रहा, वस्तु की तरफ ही देखना रहा।

यहाँ कहते हैं कि आत्मद्रव्य में एक ऐसा धर्म है कि अपनी समस्त पर्यायों में वह व्याप्त होता है। कोई परपदार्थ आत्मा में व्याप्त नहीं होता, और रागादिभावों में तथा पर्यायों में भी ऐसी ताकत नहीं होती कि वे सर्व पर्यायों में व्याप्त हों। इससे इस व्यापकधर्म को स्वीकार करते हुए द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि जाती है। आत्मद्रव्य में ही ऐसा धर्म है कि वह समस्त पर्यायों में व्याप्त होता है। पर्याय उस-उस समय में द्रव्य में तन्मय होकर व्याप्त होती है। तथा द्रव्य अपनी सभी पर्यायों में व्याप्त होता है; इसलिये कोई निमित्त, विकल्प अथवा पर्याय को मुख्यपने देखना नहीं रहा; परन्तु द्रव्य को ही मुख्यपने देखना रहा। अनादिकाल से जीव की दृष्टि अपने द्रव्य ऊपर पड़ी ही नहीं, वरन् संयोग एवं विकार में ही रही है।

जो सामान्यनय से सर्वपर्यायों में व्यापक ऐसे आत्मद्रव्य को जानता है उसके निर्मलपर्याय प्रगट हुए बिना नहीं रहती। प्रत्येक द्रव्य ऐसा है कि उनका यथार्थरूप से निश्चय करने पर सारा द्रव्य ही निश्चित हो जाता है। समस्त धर्मों का आधार तो आत्मद्रव्य ही है। इससे उन समस्त धर्मों का अखण्ड पिण्ड धर्मी आत्मद्रव्य प्रतीति में आ जाता है और उसके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म होते हैं।

प्रश्न – आत्मद्रव्य समस्त पर्यायों में व्यापक है – ऐसा कहा, तो क्या विकार में भी आत्मा व्यापक है ?

उत्तर – हाँ, विकार में भी उस समय की अपेक्षा आत्मा व्यापक है, पर ऐसा जिसने निश्चय किया, उसको अपनी पर्याय में विकारभाव नहीं होता, वरन् साधकभाव होता है; क्योंकि विकार कर्म को लेकर नहीं होता, उसमें कर्म व्यापक भी नहीं रहता, उस विकारीपर्याय में भी आत्मद्रव्य ही व्यापक है। ऐसा जिसने निश्चय किया, उसके विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति नहीं हटती है। 'पर्याय में द्रव्य व्यापक है' – ऐसा निश्चय करनेवाले के केवल विकार में ही व्यापकपना नहीं रहता, बल्कि सम्यक्त्वादि निर्मलपर्याय में व्यापकपना होता है और उसके ही ऐसा सामान्यनय होता है।

– इसप्रकार सामान्यनय से आत्मा का वर्णन किया, अब आगे विशेषनय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

भावना

भावयामि भवावर्ते भावना प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना॥

अर्थ : मैं इस संसाररूपी भँवर में भवभ्रमण के अभाव के लिए पूर्व में जो न भाई गयी - ऐसी सम्यग्दर्शनादि भावना भाता हूँ।

- श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन श्लोक - २३८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

विशेषनय

विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि ।

जिसप्रकार माला का एक मोती सम्पूर्ण माला में व्याप्त नहीं होता, इसलिए वह अव्यापक है; उसीप्रकार आत्मा की एक पर्याय सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्याप्त नहीं रहती, इसलिए विशेषनय की अपेक्षा आत्मा अव्यापक है ।

अनन्तधर्मात्मक धर्मी आत्मा सम्पूर्ण अनंतधर्मों को अपने में धारण किये रहता है, इसलिए अनंतधर्मात्मक अखण्ड आत्मा की प्रतीति में सम्पूर्ण अनन्तधर्मों की प्रतीति हो जाती है । आत्मा के सम्पूर्ण धर्मों में से एक धर्म का निषेध करनेवाले को धर्मी अर्थात् अखण्ड आत्मा प्रतीति में नहीं आता और अखण्ड आत्मा की प्रतीति बिना किसी भी प्रकार कल्याण का मार्ग प्रगट नहीं होता ।

द्रव्य अपेक्षा आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक है – ऐसे व्यापक स्वभाव को सामान्यनय जानता है; और पर्याय अपेक्षा आत्मा की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने में व्याप्त रहती है, सम्पूर्ण में नही; अतः पर्याय अपेक्षा आत्मा अव्यापक है, जिसे विशेषनय जानता है ।

स्व-परप्रकाशक प्रमाणज्ञान का अंश नय है । प्रमाणज्ञान से जानते हुए अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को मुख्य करके जाननेवाला नय है। नयज्ञान वस्तु में वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके जानता है, परन्तु उसीसमय वस्तु में रहे हुए दूसरे अनंतधर्मों का निषेध नहीं करता । यदि दूसरे धर्मों का सर्वथा निषेध करे और एक धर्म को ही जाने तो उसे वस्तु का भी प्रमाणज्ञान नहीं होता और इस अवस्था में तो उसके नय भी नहीं है, नयाभास है ।

पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि एक पर्याय दूसरी

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय में व्याप्त नहीं होती तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती। इसलिए पर्याय प्रगट करने के लिए किसी अन्य पर्याय का आश्रय नहीं करना पड़ता, बल्कि सामान्य व्यापक ऐसे अखण्ड द्रव्य का ही आश्रय करना पड़ता है।

मिथ्यात्वपर्याय का अभाव हुआ और सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई – इन दोनों पर्यायों में द्रव्य ही व्यापक है, परन्तु सम्यक्त्वपर्याय में मिथ्यात्वपर्याय व्यापक नहीं है – इसप्रकार द्रव्यपने आत्मा व्यापक है और पर्यायपने अव्यापक है। पर्याय अपेक्षा भी जो आत्मा अपनी सर्वपर्यायों में व्यापक हो तो मिथ्यात्वपर्याय भी सभी पर्यायों में व्यापक मानी जावेगी अर्थात् पर्याय में से मिथ्यात्व कभी टलेगा ही नहीं। इसलिए पर्याय-अपेक्षा आत्मा व्यापक नहीं है।

मिथ्यात्वपर्याय के अभाव होने पर और सम्यक्त्वपर्याय के प्रगट होने पर सम्पूर्ण आत्मा ही पलट गया है – ऐसा पर्याय अपेक्षा कहा जाता है।

साधकजीव की सम्यग्ज्ञानपर्याय बढ़कर केवलज्ञानरूप नहीं होती, परन्तु अधूरी पर्याय का अभाव होकर द्रव्य में से केवलज्ञानपर्याय प्रगट होती है। पूर्व की सम्यग्ज्ञानपर्याय का केवलज्ञानपर्याय में अभाव है। साधकजीव की सम्यग्ज्ञानपर्याय केवलज्ञानपर्याय में अव्यापक है; और द्रव्य स्वयं केवलज्ञानपर्याय में व्यापक है। इसलिए केवलज्ञानपर्याय प्रगट करके के लिए समस्त पर्यायों में व्यापक ऐसे त्रिकाली का आश्रय करने पर जब साधक की निर्मल सम्यग्ज्ञानपर्याय भी केवलज्ञानपर्याय में व्यापक नहीं होती, तब आत्मा की निर्मलपर्याय में रागादिभाव कैसे व्याप्त हो सकते हैं ?

पर्याय के आश्रय से पर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्यापक नहीं है। मोक्षमार्ग की पर्याय में से मोक्ष की पर्याय प्रगट नहीं होती है ; क्योंकि मोक्षपर्याय में मोक्षमार्ग की पर्याय अव्यापक है। जब एक निर्मलपर्याय भी दूसरी निर्मलपर्याय की सहायता नहीं करती तो शुभरागरूप विकारीपर्याय या शरीरादि जड़ की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय आत्मा कीधर्मपर्याय में मदद करती है – यह बात ही कहाँ रहती है? एक पर्याय में दूसरी पर्याय अव्यापकने है, इसलिए पर्याय का आश्रय छोड़ और सर्वपर्यायों में व्यापक – ऐसे द्रव्य का आश्रय कर।

आत्मा अव्यापक है अर्थात् उस काल में वर्तती पर्याय को ही वह प्राप्त करता है। वह एक के बाद एक पर्याय को प्राप्त करता है। एकसाथ सभी पर्यायों को प्राप्त नहीं करता – ऐसा अव्यापकपना भी आत्मा का एक धर्म है और वह त्रिकाल विद्यमान है। पर्याय अपेक्षा अव्यापकपना होते हुए भी वह धर्म तो आत्मद्रव्य का ही है अर्थात् पर्याय का व्यय होने पर भी आत्मा के अव्यापक धर्म का नाश नहीं होता। दूसरे समय दूसरे क्षण की पर्याय में आत्मा व्याप्त होता है। इसप्रकार उसका अव्यापक धर्म मौजूद ही रहता है। विशेषपने देखने पर उस-उस समय की पर्याय में आत्मा व्याप्त रहता है और सामान्यपने देखने पर आत्मा अपनी त्रिकालीवर्ती समस्त पर्यायों में व्याप्त रहता है।

अज्ञानी जीव ईश्वर को सर्व पदार्थों में व्यापक मानता है, परन्तु वह तो भ्रमणा है। यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्य परमेश्वर आत्मा ही तेरी समस्त पर्यायों में व्यापक है – इसके अलावा आत्मा में कोई दूसरा व्याप्त नहीं होता है और किसी दूसरे में आत्मा व्याप्त नहीं होता। ऐसे स्वयं के आत्मा का भरोसा करे तो उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट हो। द्रव्यपने व्यापक और पर्यायपने अव्यापक – ऐसे दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं। ऐसे समस्त धर्मों से आत्मवस्तु का निर्णय करते ही समस्त विरोधाभास का अभाव होकर ज्ञान की निर्मलता प्रगट होती है।

जैसे माला समस्त मोतियों में रहती है; परन्तु माला का एक मोती दूसरे मोती में नहीं रहता, उसीप्रकार आत्मद्रव्य समस्त गुण-पर्यायों में व्यापक है, परन्तु वही प्रथम पर्याय दूसरी पर्याय में व्यापक नहीं है; और आत्मा किसी अन्य में व्यापक नहीं है। द्रव्य और गुण तो त्रिकाल एकरूप ही रहते हैं और पर्याय नवीन-नवीन होती है। प्रथम क्षण में अज्ञानदशा और द्वितीय क्षण में ज्ञानदशा प्रगट हुई, लेकिन यँहाँ प्रथम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञानपर्याय द्वितीय ज्ञानपर्याय में अव्यापक है, परन्तु द्रव्य तो दोनों पर्यायों में ही व्यापक है।

केवलज्ञानपर्याय आदि से अन्त तक एक-सी रहती है, परन्तु उसमें भी प्रथम समय की केवलज्ञानपर्याय द्वितीय समय की पर्याय में व्याप्त नही होती। दूसरे समय भी प्रथम समय के समान केवलज्ञानपर्याय होते हुए भी वही पर्याय नहीं है ; अत: एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्याप्त नहीं होती। एकसमय की केवलज्ञानपर्याय में तीनकाल के समस्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य होते हुए भी वह स्वयं तो एक समय ही टिकती है।

क्षायिकभाव को सादि-अनंत तो प्रवाह अपेक्षा कहा है, परन्तु प्रथम क्षण का क्षायिकभाव दूसरे समय नहीं रहता। दूसरे समय तो दूसरा नया क्षायिकभाव प्रगट होता है।

– इसप्रकार पर्यायों में परस्पर अव्यापकपना है। ऐसा यथार्थनिर्णय करते ही पर्याय के आश्रय की बुद्धि छूटकर द्रव्यसन्मुख बुद्धि होनेपर साधकभाव प्रगट होता है।

जिस जीव को अपना हित करना है, उसे अपने आत्मस्वभाव की यथार्थ पहिचान करना चाहिए; क्योंकि यथार्थ आत्मस्वभाव को जाने बिना उसकी महिमा नहीं आती और महिमा आये बिना आत्मस्वभाव में स्थिर नहीं हुआ जाता है तथा स्वभाव में स्थिर हुए बिना सुख कहाँ से हो; अत: सुखी होने के लिए आत्मस्वभाव की यथार्थ पहिचान करनी चाहिए।

आत्मा को जानने पर आत्मा की महिमा आती है और महिमा आने पर ज्ञान उसमें स्थिर होता है, जमता है, रमता है और आत्मस्वभाव में जमने-रमने से सुख प्रगट होता है। इसलिए जो जीव आत्महित के इच्छुक हों, उन्हें सत्समागम अथवा जिनवाणी के अभ्यास से आत्मा को पहिचानना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा में अनंतधर्म होते हुए भी आत्मा का प्रत्येक धर्म स्वतंत्र है – ऐसी वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता की बात जैनदर्शन के अलावा अन्यत्र कहीं सुनने में भी नहीं मिलती। सर्वज्ञ परमात्मा के सिवाय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्यवादियों ने तो वस्तुस्वरूप को यथार्थपने जाना ही नहीं है, उन्होनें तो वस्तुस्वरूप को अपनी कल्पना से कल्पित कर लिया है।

जगत की अनंत आत्माएँ तथा अनन्त परमाणु स्वतंत्र स्वयंसिद्ध है। वे प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में उत्पादव्यय ध्रुवता सहित हैं, प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी अनंतधर्मों से परिपूर्ण है – ऐसी अपूर्व बात सर्वज्ञ के शासन सिवाय कहाँ है ?

परमपूज्य आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है कि हे सर्वज्ञ परमात्मा ! 'सम्पूर्ण जगत प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है' तुम्हारा यह कथन ही तुम्हारी सर्वज्ञता को प्रगट करता है। ध्रुव अपेक्षा वस्तु नित्य है और उत्पाद-व्यय अपेक्षा वस्तु अनित्य है – इसप्रकार एक ही वस्तु में नित्य-अनित्यपना दोनों एकसाथ ही रहते हैं।

यह बात अज्ञानियों को विरोधी प्रतीत होती है, वे कहते हैं कि जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य कैसे हो सकती है और जो अनित्य है, वही नित्य कैसे हो सकती है ? परन्तु अज्ञानी जीव को यह बात समझ में नहीं आती कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है; जो द्रव्य अपेक्षा नित्य है, वही पर्याय अपेक्षा अनित्य है। जबकि ज्ञानी जीव ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानकर आनंदित होते है, वे सोचते हैं कि अहो ! ऐसी अपूर्व बात मैंने पूर्व में कभी नहीं सुनी।

जब सम्पूर्ण जगत में मिथ्याज्ञान का विषय ही नहीं है, तब मिथ्याज्ञान की सत्ता किसरूप में हो; क्योंकि यदि मिथ्याज्ञान का विषय हो, तो वह ज्ञान मिथ्या ही क्यों कहलाये ?

प्रत्येक वस्तु का एकसाथ अनंतधर्मात्मक है, जो जीव ऐसी अनंतधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना वस्तु को एकान्त क्षणिक या एकान्त नित्य मानता है, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है; क्योंकि उस मिथ्याज्ञान की विषयभूत कोई भी वस्तु जगत में नहीं है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा न जानता हुआ जो ज्ञान असत् कल्पना करता है, वह ज्ञान असत् है, मिथ्या है; उस मिथ्याज्ञान का विषय अर्थात् अज्ञानी जीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की कल्पनानुसार विषय इस जगत में है ही नहीं, जगत में मिथ्याज्ञान है, परन्तु उस ज्ञान का ज्ञेय नहीं है।

अहो ! सम्पूर्ण जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है ; यदि ज्ञान वस्तु के अनुसार होता है तो फिर मिथ्याज्ञान नहीं कहलाता ; क्योंकि उस ज्ञान का ज्ञेय जगत है। जगत में मिथ्याज्ञान का विषय नहीं है – इस सन्दर्भ में कतिपय उदाहरण इसप्रकार हैं –

कोई कहे कि मैं आकाश का फूल तोड़ता हूँ, तो उसकी यह बात मिथ्या है; क्योंकि जगत में आकाश का फूल ही नहीं है। इसीप्रकार कोई जीव ऐसा माने कि मैं परद्रव्य की क्रिया करता हूँ तो उसकी मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि जगत में ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है, जो परद्रव्य की क्रिया कर सकता हो। जिसप्रकार आकाश का फूल जगत में कोई वस्तु नहीं है, उसीप्रकार जगत में परद्रव्य की क्रिया करनेवाला कोई नहीं है; इसलिए में परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ – ऐसी मिथ्या मान्यता का विषय इस जगत में है ही नहीं।

यह मिथ्या मान्यता परद्रव्य के लिए निरर्थक है और आत्मा के लिए अनर्थकारी है।

जगत के अज्ञानी जीवों का पदार्थ के विषय में मिथ्या अभिप्राय है, पर अज्ञानी के अभिप्रायानुसार जगत में ज्ञेयपदार्थ नहीं हैं।

कोई ऐसा कहे कि जगत में एक सर्वव्यापक आत्मा ही है और सब तो भ्रम है; परन्तु आचार्य कहते हैं कि उसका ज्ञान मिथ्या है; क्योंकि उसके ज्ञानानुसार वस्तु का स्वरूप नहीं है।

आत्मा को सर्वथा कूठस्थ एवं नित्य माननेवाले का ज्ञान भी मिथ्या है; क्योंकि आत्मा सर्वथा कूठस्थ नहीं है। कोई कहे कि उसने आत्मा को माना इसलिए 'आत्मा है' – इतना मानना तो सही है ? आचार्य कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि उसने आत्मा के यथार्थस्वरूप को नहीं जाना। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा तो उसने माना नहीं और जैसा उसने माना है, वैसा आत्मा का स्वरूप है नहीं; अतः उसका जानना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्या ही कहलाया – इसप्रकार मिथ्याज्ञान का विषय ही जगत में नहीं है।

इसीप्रकार पुण्य से धर्म होता है, निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है – कोई ऐसा माने तो आचार्य कहते हैं कि उसका यह ज्ञान मिथ्या है; क्योंकि पुण्य से धर्म नहीं होता है, निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता हो – ऐसी जगत में कोई वस्तु ही नहीं है ; – इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है ।

जिसप्रकार बांझ स्त्री के पुत्र नहीं होता, उसीप्रकार मिथ्याज्ञान की विषयभूत जगत में कोई वस्तु नहीं है । अत: मिथ्याज्ञान निरर्थक है ।

आत्मा अनंतधर्मात्मक अखण्ड पिण्ड स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान का विषय है । – ऐसे अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को जाने बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता । अत: ऐसे अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को समझने के लिए यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नय कहे हैं, जिनमें से यहाँ तक १७ नयों की चर्चा पूर्ण हुई ।

आत्म महिमा

(वसंततिलका)

चितिपिंडचंडमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥

अर्थ : चैतन्यपिंड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्य पुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है, आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है और जिसकी ज्योति अचल है- ऐसा यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश - २६८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१८

नित्यनय

नित्यनयेन नटवदस्थायि ।

आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भांति अवस्थायी है ।

यहाँ आत्मा को अवस्थाई कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि उसकी पर्याय बदलती ही नहीं है । यहाँ तो नित्यनय की अपेक्षा आत्मा का स्वभाव कैसा है – यह बताना उद्देश्य है; इसलिए यहाँ आत्मा को अवस्थित कहा है ।

स्वर्ग, नरक, मनुष्य आदि पर्यायें बदलने पर भी आत्मा नहीं बदलता – आत्मा का ऐसा नित्यधर्म है. तथा उसीसमय अर्थात् नित्यधर्म के समय अनित्यधर्म भी साथ में ही रहता है; क्योंकि यदि आत्मा के अनित्यधर्म को नहीं माना जाय अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय पलटती है – ऐसा नहीं माने, सर्वथा अवस्थित ही माने, तो उसका श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता अर्थात् उसका नित्यनय भी सत्यार्थ नहीं रहता । वस्तु के अनित्यधर्म को माने बिना बंध-मोक्ष आदि कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होते।

जिसप्रकार नाटक में वेष धारण करनेवाला कभी राम होता है, कभी रावण होता है, कभी भरत का वेष धारण करता है, – इसप्रकार अनेक वेष धारण करता हुआ भी नट तो नट ही रहता है ।

उसीप्रकार इस संसाररूपी नाटक में जीव कभी राजा, कभी रंक, कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पुरुष, कभी स्त्री – इसप्रकार भिन्न-भिन्न क्षणिक पर्यायों को धारण करते हुए भी स्वयं जीवपने नित्य अवस्थित रहता है – आत्मा में इसप्रकार का एक धर्म है ।

जिसप्रकार नाटक में राम-रावणादि भिन्न-भिन्न क्षणिक स्वांग धारण करते हुए भी नट अपने नटपने को नहीं छोड़ता तथा अन्यरूप नहीं होता। उसीप्रकार आत्मा स्वर्ग-नरक, राजा और मुनि इत्यादि नवीन-

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नवीन क्षणिक पर्याय धारण करता हुआ भी आत्मा अपने स्वरूप को छोड़कर अन्यरूप नहीं होता। आत्मा तो आत्मपने नित्य स्थाई रहने वाला है। आत्मा में एकसाथ अनंतधर्म हैं, उनमें से नित्यनय से देखने पर आत्मा नित्यधर्मस्वरूप प्रतिभासित होता है।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित ही है। आत्मा भी एकसमय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव – ऐसे तीनों अंशों को धारण करता है; उसमें उत्पाद-व्यय अपेक्षा क्षणिकत्व है और ध्रुव अपेक्षा नित्यपना है। अहो ! ऐसा वस्तुस्वभाव सर्वज्ञ भगवान के शासन सिवाय अन्यत्र सुनने नहीं मिलता। सर्वज्ञ के मार्ग बिना अन्यत्र, ऐसा अनेकान्त का स्वरूप जानने में नहीं आता और अनेकान्तस्वरूप जाननेवाला सर्वज्ञ हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ परमात्मा सिवाय, अन्य सभी मतवाले सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप जाने बिना वस्तु के एक-एक अंश को पकड़कर उन्हें ही वस्तुरूप मानकर सन्तुष्ट हो रहे हैं।

जैसे जन्मांध मनुष्य के द्वारा मात्र हाथ से स्पर्श करके हाथी को यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि नेत्रहीन मनुष्य हाथ से हाथी के जिस अंग को जानता है, उसे ही सम्पूर्ण हाथी मान लेता है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसे ही सम्पूर्ण वस्तु मान लेता है। वेदान्तमतानुसारी वस्तु के नित्यधर्म को ग्रहण करके आत्मा को एकान्त नित्य ही मानता है, बौद्धमतानुसारी अनित्य धर्म को ग्रहण करके सम्पूर्ण आत्मा को क्षणिक ही मानता है – इसप्रकार जो एकान्तरूप से वस्तु के एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मानता है, उसका ज्ञान न तो वस्तु के सन्दर्भ में ही सही है और न अंश के सन्दर्भ में ही।

'आत्मा में नित्य-अनित्य दोनों धर्म एकसाथ ही रहते हैं' – इसप्रकार सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति पूर्वक वस्तु को किसी अपेक्षा नित्य और किसी अपेक्षा अनित्य कहा जाये, तो उसका नित्य अंश तथा अनित्य अंश दोनों सही हैं। वेदांतमत में सर्वथा नित्य अंश ही माना गया है, वे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनित्य अंश को स्वीकार ही नहीं करते; इसलिए उनका नित्य अंश को मानना भी यथार्थ नहीं है और बौद्धमत में सर्वथा अनित्य अंश ही माना गया है, वे नित्य अंश को स्वीकार ही नहीं करते; इसलिए उनका अनित्य अंश को मानना भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जो अंशी को ही यथार्थ नहीं जानता, वह अंश को यथार्थ कैसे जानेगा।

सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप को यथार्थ जाने बिना उसके एक धर्म का भी ज्ञान यथार्थ नहीं होता। जिससमय वस्तु का एक धर्म की अपेक्षा कथन किया जा रहा है, उसीसमय वस्तु में दूसरे अनंतधर्म भी विद्यमान रहते हैं; उस अनंतधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति बिना एक धर्म की स्वीकृति भी सच्ची नहीं होती। इसलिए सभी धर्मों को यथार्थ जानकर वस्तुस्वरूप नक्की करना चाहिए।

यहाँ तक नित्यनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ, अब अनित्यनय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

जगत की अनित्यता

(शार्दूलविक्रीडित)

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यदस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि॥

अर्थ : हे भाई ! तू भ्रम छोड़, क्या आँखों से प्रत्यक्ष देखता नहीं है कि यह जगत कालरूपी अग्नि द्वारा निर्मूल किया जाता है; यहाँ किसी की नाममात्र भी स्थिरता नहीं है। जिस दिन का प्रभात होता है, उसका अस्त अवश्य होता ही है। अतः तू इस जगत में आशा बाँधकर क्यों बारम्बार भ्रमण करता है।

- श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन श्लोक - १५२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१९

अनित्यनय

अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि ।

आत्मद्रव्य अनित्यनय से राम-रावण की तरह अनवस्थाई है ।

जिसप्रकार नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावण इत्यादि के स्वांग क्षणिक है, उसीप्रकार अनित्यधर्म की अपेक्षा देखने पर आत्मा क्षणिक है। ज्ञानी जीव को अनित्यनय से अनित्यधर्म देखते समय भी नित्यधर्म का भान रहता है ।

आत्मा के नित्यधर्म को माने बिना सुख-दुख आदि पर्यायें जीवद्रव्य की हैं, सुख-दुख दोनों अवस्थाओं में संलग्न रहनेवाला जीव सुख-दुख दोनों का वेदन करता है – यह सिद्ध नहीं होता तथा अनित्यधर्म को नहीं मानने पर दुख का अभाव करके सुख प्रगट करने का, सुनने-पढ़ने का, चिंतन-मनन करने का कोई भी कार्य नहीं बनता ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जाय तो नित्यता तथा अनित्यता बिना द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, नित्य-अनित्य दोनों धर्म आत्मा में त्रिकाल रहते हैं ।

यहाँ कोई कहता है कि आत्मा के संसार में तो अनित्यधर्म है, पर सिद्ध होने के बाद वह अनित्यधर्म नहीं रहता । – ऐसा प्रश्न करनेवाले को उत्तर देते है कि भाई ! ऐसा नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान तथा सिद्धदशा प्रगट होने के बाद अनंतकाल तक ज्यों की त्यों रहती है, फिर भी उसमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है; परन्तु उसका परिणमन होता सदृश है ।

दुख और सुख दोनों अवस्थाओं में आत्मा की सलंगता न हो तो जो दुख का अभाव होकर सुख प्रगट हुआ है, उसे भोगे कौन ? और यदि आत्मा में क्षणिकता न हो तो दुख का नाश होकर सुख प्रगट कैसे हो ?

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए आत्मा ध्रुवपने नित्य स्थाई टिकनेवाला होने पर भी उत्पाद-व्ययपने क्षणिक है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से स्थिर रहकर प्रतिक्षण नई-नई पर्यायरूप से उपजती है तथा पुरानी पर्यायरूप से नाश को प्राप्त होती है।

जिसप्रकार राम के स्वांग समय रावण का स्वांग नहीं होता और रावण के स्वांग समय राम का स्वांग नहीं होता अर्थात् स्वांग अपेक्षा क्षणिकता है; परन्तु नट तो सर्व स्वांगों में सलंगपने नट ही रहता है। उसीप्रकार आत्मा में संसारपर्याय के समय सिद्धदशा नहीं होती और सिद्धपर्याय के समय संसारपर्याय नहीं होती। – इस अपेक्षा आत्मा अनित्य है। तथा जीव दोनों अवस्थाओं में रहता है। – इस अपेक्षा आत्मा नित्य है।

जिनवाणी में कई स्थानों पर केवलज्ञान और सिद्धदशा को कूठस्थ भी कहा गया है, वहां क्या अपेक्षा है ?

कूटस्थ कहकर वहां परिणमन का अभाव बताना उद्देश्य नहीं है, वहां तो प्रतिसमय सदृश परिणमन ही होता है, अन्यथा परिणमन नहीं होता। – इस अपेक्षा कूटस्थ कहा है।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् जो सत् होता है, वह हमेशा उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित ही होता है, उत्पाद-व्यय–ध्रुवता कहो अथवा नित्य-अनित्य धर्म कहो - दोनों वस्तु को अनंतधर्मात्मक बताते हैं, इनके बिना कोई वस्तु ही नहीं हो सकती।

एकबार हमारा प्रवचन सुनने एक वेदांत मतानुयायी भाई आये, परन्तु अनित्यपर्याय की बात सुनकर भड़क उठे, उठकर भागने लगे, बोले – मुझे नहीं सुननी तुम्हारी बात; हमने कहा भाई ! जरा विचार तो करो ! पहले तुम यहाँ कोई नई बात सुनने की जिज्ञासा से आये, 'फिर मुझे नहीं सुनना' – ऐसा कहने लगे, तो भाई तुम्हारा विचार बदला या नहीं ? विचार बदल गया, कूटस्थ नहीं रहा – इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा अनित्य है; क्योंकि यदि आत्मा सर्वथा नित्य हो तो विचार नहीं बदल सकता, जबकि विचार बदल ही गया है। अतः इससे यह निश्चित

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुआ कि आत्मा कथंचित् अनित्य भी है।

आत्मा में अनित्यता न हो तो 'आत्मा नित्य है' – ऐसा उपदेश भी नहीं बन सकता; क्योंकि जिसे उपदेश देकर यह बात समझानी है कि 'आत्मा नित्य ही है' – उसे नित्य मानने को कहना – यह कथन ही अनित्यपने को सिद्ध करता है।

– इसप्रकार आत्मा में नित्यधर्म और अनित्यधर्म दोनों एकसाथ ही रहते हैं, नय उन्हें मुख्य-गौण करके जानता है, वस्तु में तो सब धर्म सामान्यरूप से एकसाथ ही रहते हैं।

– इसप्रकार अनित्यनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

जगत की अनित्यता

(पृथ्वी)

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने
प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः॥

अर्थ : यह विश्व द्रव्य अपेक्षा से स्थिर होते हुये भी पर्याय अपेक्षा से प्रतिक्षण मेघपटल के समान नई-नई अवस्थायें उत्पन्न भी होती हैं ओर नष्ट भी होती हैं। अहो ! ऐसे इस विश्व में किसी प्रियजन के जन्म अथवा मृत्यु होने पर हर्ष अथवा शोक ज्ञानी जीवों को क्यों होना चाहिए? अर्थात् नहीं होना चाहिए।

- आचार्य पद्मनन्दि पद्मनन्दि पंचविंशति,

(अनित्य पंचाशत् श्लोक - २१)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सर्वगतनय

सर्वगतनयेनविस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ।

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुए आंख की भाँति सबमें व्याप्त होनेवाला है ।

साधकजीव अपने श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके अनन्तधर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभव से जानता है । सर्वगतनय से देखने पर आत्मा खुले नेत्र की भाँति सर्ववर्ती है । जिसप्रकार खुली हुई आँख समस्त पदार्थों को जान लेती है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान जगत के समस्त पदार्थों में पहुँच जाता है अर्थात् सर्व पदार्थों को जान लेता है । यथार्थदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा अपना स्वक्षेत्र छोड़कर किसी परद्रव्य में नहीं जाता, लेकिन वह अपने ज्ञान की सामर्थ्य से जगत के समस्त पदार्थों को जान लेता है। इस अपेक्षा यहाँ आत्मा को सर्वगत कहा – ऐसा जानना चाहिये। – ऐसा आत्मा का एक धर्म है और इसी समय इसके साथ रहनेवाले अन्य अनंतधर्म भी आत्मा में रहते हैं । जो दूसरे अनंतधर्मों का सर्वथा अभाव मानकर एकान्त एक धर्म को ही मानता है, वह नय नहीं कहलाता, वह तो मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते हैं ।

जिसप्रकार खुली हुई आँख सभी को देखती है अर्थात् आँख का सर्वत्र प्रवेश है – ऐसा कहा जाता है । उसीप्रकार आत्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को जानता है – इस अपेक्षा आत्मा में सर्वगतधर्म है । आत्मा का ज्ञान समस्त पदार्थों को जानता है – ऐसा सर्वगतधर्म कहकर आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य बताई है ।

आत्मा स्वयं फैलकर सर्व पदार्थों में व्याप्त नहीं होता, परन्तु सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होकर सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है – इस अपेक्षा आत्मा को सर्वगत कहा है । अपने आत्मा में ऐसा सर्वगतस्वभाव सदा है । ऐसे

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मस्वरूप की प्रतीति करते ही ज्ञान की पर्याय विकासरूप होकर ऐसी खिलती है कि एकसमय में जगत के समस्त गुण-पर्यायों सहित एकसाथ जान लेती है। केवलज्ञान होने से पूर्व भी आत्मा में सर्वगतधर्म विद्यमान है, जो जीव उसकी प्रतीति करता है, उसे सर्वगतधर्म प्रगट होता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। आत्मा के सर्वगतत्व धर्म की प्रतीति करें और सर्वज्ञता प्रगट न हो – ऐसा नहीं होता।

प्रश्न – केवलज्ञान में लोकालोक का जैसा परिणमन केवली भगवान ने जाना है वैसा ही होगा, उसमें कोई फेर-फार नहीं होता, तब फिर जीवों को कौन-सा पुरुषार्थ शेष रह जाता है ?

उत्तर – केवली भगवान के ज्ञान में जैसा जानने में आया वैसा ही होता है, उसमें कोई फेर-फार नहीं होता – यह बात सत्य है; फिर भी इसमें पुरुषार्थ नष्ट नहीं होता, बल्कि यथार्थ पुरुषार्थ प्रगट होता है।

अहो ! सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान की अचिन्त्य सामर्थ्य जिसको स्वयं की प्रतीति में आई है, उसे अपने ज्ञानस्वभाव का अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है।

भगवान को केवलज्ञान कहाँ से प्रगट हुआ है। ज्ञानस्वभाव में से; अर्थात् केवलज्ञान का निर्णय करते ही दृष्टि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हो जाती है और मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है। केवली भगवान ने अपने ज्ञान में समस्त पदार्थों को देखा है, उसमें पुरुषार्थ को नहीं देखा क्या ? पुरुषार्थ को भी देखा है।

जो केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वह आत्मा की शक्ति में से ही प्रगट हुआ है; बाह्यपदार्थों में से, राग में से प्रगट नहीं हुआ है। अहो ! मेरे आत्मा में सर्वगतपना प्रगट हो – ऐसी सामर्थ्य है। जिसने अपनी पर्याय में सर्वगत शक्ति का निर्णय किया है, उसका यह निर्णय भी द्रव्यसन्मुख एकाग्र होने से ही हुआ है। अतः वह जीव मोक्षमार्ग में तो आ ही गया है और अब उसके अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट होनेवाली है। केवली भगवान के सर्वगतज्ञान में भी ऐसा ही ज्ञात हुआ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो, यह आत्मा के सर्वगतधर्म की प्रतीति का फल ! यह बात एक धर्म को भिन्नपने प्रतीति में लेने की नहीं है, परन्तु एक धर्म का यथार्थ निर्णय करते समय दृष्टि अखण्ड द्रव्य पर केन्द्रित हो जाती है।

आत्मा के सर्वगतधर्म की प्रतीति परसन्मुख होने से नहीं होती, परन्तु सर्वगतधर्म आत्मा का है, इसलिए आत्मसन्मुख होने से सर्वगतधर्म की प्रतीति होती है। सर्वगतधर्म की प्रतीति करने के लिए पर की तरफ देखने की तो आवश्यकता है ही नहीं, पर राग-द्वेष तथा अल्पज्ञता को देखने की भी जरूरत नहीं है; क्षणिक पर्याय या एक-एक धर्म के भेद ऊपर दृष्टि एकाग्र करने की जरूरत नहीं है। बल्कि अनंतधर्मों को धारण करनेवाले अभेदद्रव्य पर दृष्टि एकाग्र करने की आवश्यकता है। अभेद द्रव्य की दृष्टि किये बिना एक-एक धर्म का भी ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

इसप्रकार सर्वगतधर्म को स्वीकार करनेवाले जीव की दृष्टि में परपदार्थ, विकार, अल्पज्ञता या भेद का आश्रय नहीं रहता; परन्तु एक अखण्ड परिपूर्ण शुद्ध स्वद्रव्य का ही आश्रय रहता है और स्वभाव का आश्रय करनेवाले को अल्पकाल में सर्वज्ञदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

अहो ! 'समस्त पदार्थों को जाने' – ऐसी मेरे ज्ञान की सामर्थ्य है, इसलिए मेरा आत्मा सर्वगत है। साधकजीव ने अपने सम्यग्ज्ञान में ऐसे आत्मा का स्वभाव देखा है, इसलिए उसे ही सर्वगत नय होता है। अभव्यजीव को तीन काल में कभी भी सर्वगतपना व्यक्त हो – ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है, इसलिए ऐसा सर्वगतधर्म उसकी प्रतीति में भी नहीं आता और जिन्हें यह धर्म प्रतीति में आता है, उन्हें सर्वगतपना अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

अभव्यजीव को केवलज्ञानावरणी कर्म है अर्थात् उसे भी केवलज्ञान की शक्ति तो है, पर वह केवलज्ञान प्रगट होकर सर्वगतपना हो, उसमें ऐसा धर्म नहीं है। जीव को सर्वज्ञदशा प्रगट होने से पहले भी भावश्रुतज्ञान में अपने सर्वगतधर्म का निर्णय हो जाता है, पश्चात् अल्पकाल में सर्वगतपना प्रगट होता है – ऐसा आत्मा का धर्म है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'सर्वजीव हैं सिद्धसम' इस उक्ति के अनुसार 'निश्चय से सभी जीव सिद्धसमान हैं' अतः इसमें तो अभव्यजीव भी आ गये, लेकिन यहाँ जिस सर्वगतधर्म की चर्चा चल रही है – ऐसा सर्वगतपना प्रगट होने का धर्म अभव्यजीवों में नहीं है। यहाँ परपदार्थ की बात भी नहीं है, यहाँ तो अपने आत्मा को जानने की बात है। जो जीव सर्वगतधर्म की प्रतीति करता है, उसमें सर्वगतधर्मपना प्रगट होने का धर्म न हो ऐसा नहीं होता। जिन्होनें अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति की है, उनको पर्याय में भी प्रतिक्षण निर्मलता प्रगट होती रहती है और अल्पकाल में सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है।

जिन्होनें सर्वगतधर्म की प्रतीति की है, उनकी पर्याय में अल्पज्ञता और राग होते हुए भी उन्हें ऐसी शंका नहीं होती कि मैं अल्पज्ञपने या रागपने सदा रहूँगा। वे तो अपने स्वभाव के आश्रय से राग तथा अल्पज्ञता का अभाव करके अल्पकाल में सर्वज्ञता प्रगट कर लेते हैं। अविरतिसम्यग्दृष्टि को भी इसप्रकार की निशंकता रहती है और जो भी सर्वगतधर्म को जानते हैं, उनके भी इसीप्रकार की निशंकता होती है। जिन्हें ऐसी निशंकता नहीं होती, उन्होनें सर्वगत धर्म को जाना ही नहीं है – ऐसा जानना चाहिए।

"आत्मा तो सदा अल्पज्ञ ही रहता है, उसे कभी भी तीनकाल व तीनलोक का परिपूर्ण ज्ञान होता ही नहीं है" – ऐसा माननेवाले ने आत्मा को अभव्य के समान माना है। यदि अभव्य की मुक्ति हो तो ऐसी मान्यतावाले भी मुक्त हों; क्योंकि अभव्यजीवों को त्रिकाल, त्रिलोक में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती। तथा उसने अभव्य में और अपने में कोई अन्तर – विशेषता नहीं मानी। यहाँ ऐसे जीवों की बात नहीं है। यहाँ तो जिन्हें अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति हो जाती है और अल्पकाल में ही सर्वज्ञदशा प्रगट होने की निशंकता हो जाती है – ऐसे साधकजीव की बात है।

जब अपने सर्वगतधर्म को स्वीकार किया, तब पूर्णस्वभाव की प्रतीति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुई और दृष्टि में अल्पज्ञता, विकार और निमित्त का आदरभाव छूट गया है। तथा इसमें ही सम्यक्त्व का महान पुरुषार्थ आ गया है। जिन्हें आत्मा के सर्वगतस्वभाव की प्रतीति हो जाती है, वे ऐसा नहीं मानते कि सम्यग्दर्शन में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है और चरित्र में आत्मा का पुरुषार्थ है।

सम्यक्त्व में आत्मा का कोई पुरुषार्थ नहीं है – यह मान्यता महाविपरीत है। सम्यग्दर्शन हुए बिना चरित्र या मुनिपना माननेवाले को तो धर्म के स्वरूप की ही खबर नहीं है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना किसी प्रकार का धर्म नहीं होता।

यहाँ पर आत्मा को सर्वगत कहने में यह समझना चाहिए कि एक आत्मा सर्व पदार्थों में व्याप्त रहता है, क्योंकि यहाँ तो सबको जाननेरूप सामर्थ्य की अपेक्षा आत्मा को सर्वगत कहा है। आत्मा सर्व पदार्थों को अपने निर्मलज्ञान से जानता है। जिसप्रकार चंचल मनुष्य की आँख चारों और फिरती है – ऐसा कहा जाता है, पर कहीं आँख अपने में से निकलकर बाहर पर में नही जाती। इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान पर को जानते समय आत्मा में से निकल कर पर में नहीं चला जाता, फिर भी सबको जानने की उसमें सामर्थ्य है। – इस अपेक्षा उसे सर्वगत कहा है – ऐसा सर्वगतपना आत्मा का एक धर्म है।

सर्वगतधर्म आत्मा का स्वयं का धर्म है, इसलिए तीनकाल तीनलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण पदार्थों की जानने की सामर्थ्य आत्मा के स्वयं ज्ञानस्वभाव में से ही प्रगट होती है। शरीर के मजबूत संहनन से अथवा कर्मों के अभाव से आत्मा में सर्वगतपना प्रगट नहीं होता। आत्मा की ज्ञानसामर्थ्य का परिपूर्ण विकास प्रगट होने पर आत्मा सर्व को जानता है, इसलिए जानने की अपेक्षा सर्वगत है, क्षेत्र अपेक्षा सर्वगत नहीं है। क्षेत्र से तो असंख्यप्रदेशी ही है तथा ज्ञानसामर्थ्य से अनंत है।

अहो ! आत्मा में ऐसी अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य है कि वह अपने स्वक्षेत्र में रहकर समस्त पदार्थों को एकसाथ जान लेता है। सम्पूर्ण जगत में ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का प्रवेश है। ज्ञानस्वभाव में तीनकाल तीनलोक जानने में आया है। जगत का जैसा स्वरूप ज्ञान में आया है, जगत का परिणमन भी वैसा ही हो रहा है। 'जैसा ज्ञान ने जाना, वैसा ही होता है' – इसक अर्थ है जैसा होता है, वैसा ही ज्ञान जानता है। ज्ञान सम्पूर्ण जगत को मात्र यथावत् जान लेता है, पर उसमें कोई परिणमन नहीं करता।

जो जीव सर्वगतस्वभाव को जानता है, उसे पर्याय में भी सर्वगतपना प्रगट हुए बिना नहीं रहता। साधकजीव स्वसन्मुख होकर अपनी शक्ति की प्रतीति करते हैं और जो प्रतीति करते हैं, उन्हें अल्पकाल में शक्ति प्रगट हो जाती है। जो जीव शक्ति की प्रतीति नहीं करते, यहाँ उनकी बात नहीं है। यहाँ तो उन जीवों की बात है कि जो तीव्र जिज्ञासापूर्वक पूछते हैं; उन्हें समझाते हैं। यहाँ उपादान-निमित्त की संधिपूर्वक यह वर्णन है।

आत्मा में सर्वगतशक्ति त्रिकाल है। जो जीव इसे स्वीकार करता है, उसे अपनी ज्ञानपर्याय में खिलवट (केवलज्ञान प्रगट) करने के लिए किसी निमित्त की तरफ नहीं देखना पड़ता, क्योंकि सर्वगतशक्ति निमित्तों में से नहीं आती है। वह तो स्वयं की है और स्वयं में से आती है। निमित्त की तरह पुण्य-पाप अथवा अल्पज्ञपर्याय की ओर भी नहीं देखना पड़ता, क्योंकि उनके आधार से भी सर्वगतशक्ति नहीं रहती। सर्वगतशक्ति तो द्रव्य के आधार से रहती है, अतः सर्वगतशक्ति की स्वीकृतिवाले जीव को निजद्रव्य की तरफ ही देखना रह जाता है।

जिसकी दृष्टि में निमित्तों की या पुण्य की रुचि है, उसे अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति नहीं होती; और अपने सर्वगतस्वभाव को जाननेवाले जीव के निमित्तों की या पुण्य की रुचि नहीं रहती। देखो, एक सर्वगतशक्ति स्वीकार करनेवाले जीव की दृष्टि निमित्त, पुण्य तथा पर्याय का आश्रय छोड़कर अन्तर में चिदानन्द अखण्ड द्रव्यसन्मुख होती है। अखण्डद्रव्य की दृष्टि किये बिना धर्म में एक पग भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस परिशिष्ट में अनेक धर्मों से आत्मद्रव्य का वर्णन करके आचार्यदेव ने वस्तुस्वरूप स्पष्ट दर्शाया है। जिसे सुखी होना है, उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान होना चाहिए। जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा जाने तो यथार्थ ज्ञान हो और यथार्थ ज्ञान हो तो ही सच्चा सुख प्रगट हो। सम्यग्ज्ञान ही धर्म है और वही सुख तथा शान्ति का कारण है। आत्मा का जैसा स्वरूप है, ज्ञान वैसा जाने तो आत्मा की महिमापूर्वक ज्ञान आत्मसन्मुख हो। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान और वीतरागता है – यही सुख का उपाय है, मोक्षमार्ग है, धर्म है। आत्मा का यथार्थस्वरूप जानते ही ज्ञान तथा राग की एकत्वबुद्धि का अभाव होकर ज्ञान तथा स्वज्ञेय की एकत्वबुद्धि हो जाना ही भेदविज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान है।

आत्मद्रव्य में सर्वगतधर्म है, इस धर्म द्वारा जीव धर्मी अर्थात् अखण्ड द्रव्य की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होते ही केवलज्ञान प्रगट करता है। जिस जीव ने अपनी सर्वगतशक्ति की प्रतीति की है, वह जीव कभी भी पर, विकार या अल्पज्ञता से केवलज्ञान होना नहीं मानता; वह तो ऐसा मानता है कि सर्वगतशक्तिवाला मेरा आत्मा है, उसमें से ही सर्वज्ञपना प्रगट होता है। तथा ऐसा जानता-मानता हुआ अपने आत्मा में एकाग्र होकर सर्वगतत्वशक्ति प्रगट कर लेता है। इस सर्वगतधर्म की मुख्यता से आत्मा को जाननेवाले नय को सर्वगतनय कहते है।

ऐसा सर्वगतनय अभव्यजीव को कभी भी नहीं होता। सर्वगतनय से आत्मा को सर्वगतधर्मवाला जाननेवाले जीव के लिए सर्वगतधर्म प्रगट होता है; क्योंकि सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को अखण्ड आत्मस्वभाव का आश्रय होता है।

किसी भी धर्म से आत्मा की प्रतीति करने से ध्रुवस्वभाव का आश्रय हो जाता है, क्योंकि आत्मा के अनंतधर्मों में से कोई भी धर्म पर, विकार या पर्याय के आश्रय नहीं रहता; परन्तु धर्मी अर्थात् अखण्डद्रव्य के आश्रय से ही प्रत्येक धर्म रहता है। इसलिए द्रव्य के आश्रय से ही प्रत्येक धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है; पर, निमित्त या भेद के आश्रय से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यदि इन धर्मों को द्रव्य से पृथक् प्रतीति में लिया जाये तो वहाँ धर्मी तथा धर्म में से एक का भी ज्ञान सच्चा नहीं होता।

देखो, यह बात बताकर यह बताते हैं कि हे जीव ! तेरी अनंत शक्तियाँ तेरी आत्मा में एकसाथ भरी हैं; तू उन्हें सम्भाल ! तू ही तेरा सर्वशक्तिमान परमेश्वर है। इसप्रकार विश्वास करके उसमें अर्न्तमुख हो तो तेरी पर्याय में सर्वशक्ति प्रगट हो जावेगी, तुम्हारी जितनी शक्ति है, वह सब तुम्हारे में ही भरी है, इसलिए हे जीव ! किञ्चित् भी पराश्रय की आशा छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय कर। जीव अपनी शक्ति से परिपूर्ण है, फिर भी वह अपनी संभाल नहीं करता; इसलिए पराश्रय की भीख मांग-मांग कर संसार में भटक रहा है। यदि निजशक्ति की संभाल करे, तो पराश्रय को छोड़कर स्वाश्रय से अल्पकाल में सिद्धदशा प्राप्त करले। आजतक जो अनंतजीव सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं, वे सभी निज शक्ति को संभाल कर उसके आश्रय से ही सिद्ध हुए हैं।

आत्मा में सर्वगतधर्म त्रिकाल है, परन्तु सर्वगतधर्म की प्रतीति करनेवाली पर्याय नवीन प्रगट होती है, तथा उस पर्याय को भी पर, राग या क्षणिकपर्याय का आश्रय नहीं रहता; परन्तु त्रिकालीस्वभाव का ही आश्रय होता है।

देखो भाई ! यह अन्तर की अचिंत्य बात है। यह इन्द्रियज्ञान से जानने में आ जाय, ऐसा स्थूल विषय नहीं है; परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने में आये – ऐसा सूक्ष्म विषय है। चैतन्यपदार्थ मन-वाणी-देह से तो पार है ही, मन के संकल्प-विकल्पों से भी पार है। श्री सर्वज्ञ भगवान शरीर-मन-वाणी से पार गहरी-गहरी खान में ले जाकर चैतन्य का वेहद निधान बताते हैं। अतः हे जीव ! तूँ उसका विश्वास करके अपने ज्ञानचक्षु में रुचि का अंजन आंज, तो तेरा चैतन्यनिधान तुझे अवश्य दिखेगा। अज्ञान से अंधे हुए जीवों को अपने ही पास विद्यमान अपना वैभव दिखता नहीं है, इसलिए श्रीगुरु सम्यक्श्रद्धारूपी अंजन आंजकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे उसका वैभव बताते हैं कि देख ! तेरा निधान तेरे अन्तर में ही विद्यमान है, बाह्यदृष्टि छोड़कर अपने अन्तर में दृष्टि कर, तो तुझे सिद्ध भगवान समान तेरा निधान दिखेगा।

एक चैतन्यस्वरूप की प्रतीति करने से अनंतसिद्धों, केवलियों और समस्त मुनियों की ऋद्धि तुझे तेरे अन्दर में दिखेगी। वह ऋद्धि ढूंढने के लिए तुझे कहीं अन्यत्र नहीं जाना है। सन्त-महन्तों ने जो ऋद्धि प्राप्त की है, वह अपने चैतन्य में से ही पाई है। तेरे चैतन्य में भी यह सम्पूर्ण ऋद्धि भरी है, आँख खोलकर अन्तर में देख तो दिखेगी। यदि यह अपनी सम्पदा पर में से लेने जायेगा, तो अंधे की तरह घोर संसाररूपी जंगल में भटकेगा। अज्ञानी जीव अर्न्तमुख होकर अपने स्वभाव की महिमा की प्रतीति तो करता नहीं है और भवचक्र में भटक रहा है; इसलिए यहाँ आचार्यदेव करुणा करके उस भवभ्रमण से छूटने का मार्ग बता रहे हैं कि अन्तर्मुख होकर निजशक्ति की संभाल कर, तो भवभ्रमण से छुटकारा मिले।

अहो ! आचार्यदेव चैतन्य का ऐसा निधान बताते हैं कि उसकी प्राप्ति होने पर किसी दूसरी चीज की जरूरत नहीं पड़ती। आचार्यदेव सुपात्र जीवों को संबोधन करते हुए कहते है कि हे भव्यजीव ! तुझे अपने चैतन्य की महिमा का भान होते ही पर की महिमा छूट जायगी। अनंतधर्मस्वभावी तेरा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति भगवान है, तुझे किसी परद्रव्य की जरूरत नहीं है, तू स्वयं ही अपने निधान को देखनेवाला है। सदा अल्पज्ञ, सेवक ही रहे – ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है, तेरा आत्मा तो सर्वज्ञ के समान है। जो सर्वज्ञ भगवान ने किया है, वह तू कर सकता है, तेरे में ऐसी सामर्थ्य भरी है।

जो जीव ऐसे शक्तिसम्पन्न निजात्मा की प्रतीति करता है, उसके निमित्त या विकल्प के आश्रय की श्रद्धा उड़ जाती है, पर्यायबुद्धि छूट जाती है और अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड उसकी प्रतीति में आ जाता है तथा वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है। अन्तर्दृष्टि से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वयं को स्वयं तीनलोक का नाथ परमेश्वर तरीके देखता है, अनुभव करता है।

जो जीव सर्वप्रथम श्रुतज्ञानचक्षु से अन्तर के चैतन्यनिधान को देखता है, उसके केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता; इसलिए आचार्यभगवान कहते हैं कि हे भाई ! उघाड़ रे उघाड़ ! तू अपने ज्ञान चक्षुओं को उघाड़ ! अपने ज्ञाननेत्र को उघाड़ कर चैतन्यनिधान को देख ! तेरे अपूर्वनिधान को देखने के लिए तुझे यह अंजन लगाते है।

श्रुतज्ञान अनंतकिरणों से जगमगाते सूर्यसमान है और नय उसकी एक किरण है। उसमें सर्वगतनय आत्मा के सर्वगतधर्म को देखता है। 'सर्वगत' कहने से यह सिद्ध होता है कि आत्मा कहीं अटकता नहीं है, भटकता नहीं है; मात्र जानता है – ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। जब उस स्वभाव की प्रतीति में लिया, दृष्टि में तो तभी भगवान हो गया तथा अब अल्पकाल में पर्याय में भी भगवत्ता प्रगट होगी अर्थात् एक समय में तीनकाल तीनलोक को जाननेवाला केवलज्ञान प्रगट होगा अर्थात ज्ञान में सर्वगतपना प्रगट होगा।

–इसप्रकार २० वें सर्वगतनय से आत्मा का वर्णन पर्ण हआ।

ज्ञान सर्वगत है

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

अर्थ : आत्मा ज्ञान-प्रमाण है ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिये ज्ञान सर्वगत-सर्व व्यापक है।

- आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा २३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२१

असर्वगतनय

असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ।

आत्मद्रव्य असर्वगत नय से, मीची हुई आँख की भाँति, आत्मवर्ती अपने में रहने वाला है ।

सर्ववर्ती धर्म के साथ आत्मा में एक आत्मवर्ती धर्म भी है । असर्वगतनय से देखने पर आत्मा सर्ववर्ती नहीं दिखकर आत्मवर्ती दिखता है । जिसप्रकार बंद आँख अपने में ही रहती है, उसीप्रकार असर्वगतनय से आत्मा अपने में ही रहता है, इसलिए वह आत्मवर्ती है।

यहाँ आत्मा को असर्वगतनय से आत्मवर्ती कहा – इसका अर्थ अल्पज्ञता नहीं समझना चाहिए, बंद आँख का दृष्टांत अल्पज्ञता बताने के लिए नहीं दिया है; परन्तु आत्मवर्तीपना बताने के लिए दिया है । आत्मा स्वयं की सामर्थ्य से सर्व को जानते हुए भी अपने में ही लीन रहता है, सब में व्याप्त नहीं होता; इसलिए वह सर्ववर्ती नहीं है, पर आत्मवर्ती है । समस्त ज्ञेयों को जान लेने की अपेक्षा आत्मा को सर्ववर्ती कहा है और आत्मा परज्ञेयों में नहीं वर्तता, बल्कि स्वयं में ही वर्तता है । – इस अपेक्षा आत्मवर्ती कहा है । सर्ववर्ती कहकर आत्मा की ज्ञानसामर्थ्य बताई है और आत्मवर्ती कहकर पर से भिन्नता बताई है ।

अहो ! समस्त पदार्थों को जानते हुए भी ज्ञान परपदार्थों में वर्तता नहीं है, ज्ञान तो आत्मवर्ती ही है; अतः ज्ञान आत्मा में लीन रहकर ही सर्व पदार्थों को जान लेता है । इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव ! तू परज्ञेयों के सन्मुख होकर पर को जानने की आकुलता छोड़ अपने ज्ञान को स्वभावसन्मुख कर, तो तेरे ज्ञान में लोकालोक के समस्त ज्ञेय जानने में आ जावेंगे ।

अहो ! देखो, यह चैतन्यपद की अचिन्त्य सामर्थ्य ! अनंतधर्मवाले

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्यपद की महिमा वाणी से कही जाये – ऐसी नहीं है, इसीलिए कहा है –

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठूं ज्ञान मां,
कही शक्या नहिं ते पण श्री भगवान जो।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी तो शूं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ।।

केवली सर्वज्ञ परमात्मा ने अपने ज्ञान में भगवान आत्मा का जो स्वरूप देखा है, उसे वे स्वयं भी कहने में समर्थ नहीं हैं, तो फिर अन्य छद्मस्थ तो उसका क्या वर्णन करेंगे। वह तो एकमात्र अनुभव करने योग्य ही है।

परिशिष्ट की शुरुआत में भी कहा था कि श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा प्रमेय होता है और परिपूर्ण प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में होता है – ऐसे आत्मा की महिमा जाने बिना बाहर में कितना भी भटके, पर धर्म नहीं होता।

जिसप्रकार आँख समस्त पदार्थों को जानते हुए भी आँख तो आँख में ही रहती है, आँख कहीं बाहर निकल कर अन्य पदार्थों में नहीं जाती है। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान सर्वपदार्थों को जानते हुए भी वह अपने स्वक्षेत्र में ही रहता है। पूर्णशक्ति प्रगट होने पर आत्मा कहीं बाहर नहीं फैल जाता। जहाँ चैतन्य का दिव्यज्ञान प्रकाशमान होता है, वहाँ भाव से अनन्तता प्रगट हो जाती है, क्षेत्र से नहीं; असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में अनंत सामर्थ्य भरी है; – ऐसी चैतन्य की महिमा है। केवलज्ञान का क्षेत्र अपने आत्मा के बराबर ही है। इसलिए केवलज्ञान प्रगट करने के लिए बाहर में एकाग्र होने की जरूरत नहीं पड़ती; परन्तु आत्मा में ही एकाग्र होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। बंद आँख के समान आत्मा परसन्मुख हुए बिना, पर में जाये बिना स्वयं में रहकर ही सबको जान लेता है, इसलिए वह आत्मवर्ती है। – इसप्रकार आत्मा का आत्मवर्ती स्वभाव असर्वगतनय से जाना जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोकालोक को जानते हुए भी आत्मद्रव्य, स्वसन्मुख रहता है, इसलिए वह अपने में ही रहता है। पर को जानता हुआ, पर में व्याप्त होता है – ऐसा कहना उपचार है। और स्व में ही व्याप्त होता है – यह परमार्थ है। एक जीव अनंत को जानते हुए अनंतरूप नहीं हो जाता, वह तो स्वयं एकपने रहकर ही सबको जानता है। देखो, ज्ञान की परिपूर्ण सामर्थ्य प्रगट होने पर ज्ञान समस्त पदार्थों को जान लेता है, इसलिए उस ज्ञान को सर्वगत कहा है और इसी अपेक्षा केवलज्ञान में समस्त पदार्थों का निमित्तपना कहा है। केवलज्ञान में जगत के समस्त पदार्थ निमित्त हैं। – इसप्रकार के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की पूर्णता ज्ञान में तब होती है, जब ज्ञान निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अपने स्वभाव में एकाग्र होकर केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जान लेता है। केवलज्ञान का विषय तो सम्पूर्ण जगत है और मिथ्याज्ञान का विषय जगत में है ही नहीं। मिथ्याज्ञान में बाह्यपदार्थ निमित्त तो होते है; परन्तु उस मिथ्याज्ञान के अनुसार उन बाह्यपदार्थों का स्वरूप नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसा मिथ्याज्ञान में जाना जाता है, वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं होता। इसीलिए मिथ्याज्ञान का विषय जगत में नहीं है – ऐसा कहा जाता है। कोई जीव किसी वस्तु को अपने ज्ञान से जानता है; वहाँ वस्तु में, ज्ञान में निमित्त होने का धर्म है। उसी वस्तु के लक्ष्य से कोई जीव राग-द्वेष करे तो वही वस्तु उसके राग-द्वेष में निमित्त हो जाती है – उसमें ऐसा भी एक धर्म है। कोई जीव उसके लक्ष्य से मिथ्याज्ञान करे, तो उस वस्तु को मिथ्याज्ञान में निमित्त कहा जाता है; परन्तु उस मिथ्याज्ञान के अनुसार उस वस्तु का स्वरूप नहीं है, अतः मिथ्याज्ञान का विषय नहीं है। अहो ! सम्पूर्ण जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है।

जो ज्ञान ऐसा मानता है कि 'आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है अथवा सर्वथा नित्य ही है' तो उस ज्ञान के विषयभूत होनेवाली जगत में कोई वस्तु नहीं है, इसीलिए तो वह ज्ञान मिथ्या है। इस मिथ्याज्ञान में नय भी नहीं होते, नय तो सम्यग्ज्ञान में ही होते हैं। जिसे सम्पूर्ण वस्तु का यथार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान हो, प्रमाणज्ञान हो; उस ही वस्तु के एकांश का ज्ञान सही होता है। सम्पूर्ण वस्तु के भान बिना वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक – मानने वाले के नय नहीं होते। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते।

प्रत्येक आत्मा अनन्तधर्मों से परिपूर्ण है – ऐसे आत्मा के स्वभाव को जाने बिना श्रद्धा-ज्ञान में यथार्थबल नहीं आता अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नहीं होते।

जिसप्रकार प्रत्येक आत्मा में अपने अनंतधर्म हैं, उसीप्रकार प्रत्येक पुद्गल परमाणु के अनंतधर्म हैं। जगत के प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनंतधर्म हैं, परन्तु यहाँ तो आत्मा की ही प्रधानता है। सबको जाननेवाला तो आत्मा ही है। आत्मा बिना 'अन्य द्रव्य का अस्तित्व है' – ऐसा जानता कौन ? आत्मा में जानने का विशेष गुण है। आत्मा ही सबको जानता है। इसलिए समस्त द्रव्यों में आत्मा ही उत्तम पदार्थ है। – ऐसे आत्मा को जानना मोक्ष का कारण है।

ऐसे आत्मा का स्वरूप जानने के लिए परिशिष्ट के प्रारम्भ में ही जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न पूछा था। उसके उत्तर में आत्मद्रव्य अनंतधर्म वाला है - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ४७ धर्मों का वर्णन किया, जिनमें से पिछले २०वें बोल में सर्वगतनय से आत्मा को सर्ववर्ती कहकर ज्ञान की सबको जाननेरूप सामर्थ्य बताई थी और इस २१ वें बोल में, असर्वगतनय से आत्मवर्ती कहकर ज्ञान पर में जाकर नहीं जानता, बल्कि अपने में ही रहकर जानता है – यह बताया है।

–इसप्रकार असर्वगतनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२२

शून्यनय

शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि।

आत्मद्रव्य शून्यनय से शून्य अर्थात् खाली घर की तरह परसम्बन्ध रहित अकेला भासित होता है।

जिसप्रकार खाली घर में दूसरी कोई वस्तु नहीं होती; उसीप्रकार शून्यनय से देखने पर आत्मा समस्त परसम्बन्धरहित अकेला दिखाई देता है, किसी के साथ मिला हुआ दिखाई नहीं देता।

आत्मा में परद्रव्य का सर्म्पूणत: अभाव है अर्थात् आत्मा पर से अत्यन्त खाली है, एकाकी है। खाली घर के समान चैतन्यघर भी अत्यन्त खाली है, चैतन्यघर में किसी परपदार्थ का प्रवेश तो है ही नहीं, विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। शून्यनय से देखने पर आत्मा अकेला दिखता है; अकेला अर्थात् अन्यद्रव्य के सम्बन्ध से रहित स्वयं के अनंतधर्म स्वयं में एकपने हैं और पर से अत्यन्त खाली होने से अकेले हैं। आत्मा निजस्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ है, परन्तु पर से अत्यन्त खाली है। –ऐसे आत्मा को जो जानता है, उसे पर में से सुख प्राप्त करने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहती अर्थात् उसे पराश्रितबुद्धि छूटकर एकत्व-विभक्त आत्मा के आश्रय से स्वाभाविक सुख प्रगट होता है।

अहो ! मेरा आत्मा परज्ञेयों के साथ मिला हुआ नहीं है, वह तो अकेला समस्त परद्रव्यों से रहित मात्र ज्ञानपिण्ड ही है। इसप्रकार जो जीव अपने आत्मा को प्रतीति में लेता है, फिर उसे किसी पर का आश्रय नहीं रहता। वह मात्र अकेले ज्ञानपिण्ड का ही आश्रय लेकर पर से बिल्कुल उदासीन – वीतरागी हो जाता है।

जीवों को बाह्यदृष्टि से ऐसा लगता है कि हमें बहुत उपाधि प्राप्त हैं; परन्तु अरे भाई ! बाहर की कोई भी उपाधि तेरे आत्मा में नहीं है, क्योंकि

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बाहर की वस्तु का तो आत्मा में सदा ही अभाव है। तुझे परपदार्थों ने पराश्रित नहीं किया है; परन्तु तू अपने स्वभाव में स्थित न रहकर पराश्रयभाव करता है, तुझे उस पराश्रयभाव की ही उपाधि है। एकाकी ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक उसका ही अवलम्बन लेवे तो समस्त उपाधिभाव छूट जावे।

जिसप्रकार चारों तरफ से मजबूत मकान में अकेला रहकर मनुष्य बाहर में विचरण करते हुए शेर आदि हिंसक जानवरों को देखता हुआ भी सुरक्षित रहता हैं; क्योंकि जबतक शेर का घर में प्रवेश नहीं होता, तबतक शेर उसका कुछ नहीं कर सकता। इसीप्रकार इस असंख्यप्रदेशी चैतन्यघर में ज्ञानस्वभावी आत्मा अकेला है, वह परपदार्थ से बिल्कुल खाली है। आत्मा अपने में रहकर सभी को जानता है; परन्तु उसमें पर का प्रवेश नहीं होता; इसलिए आत्मा को पर से लाभ-हानि भी नहीं होती।

आत्मा के ऐसे एकाकी स्वभाव को जाने तो सम्यग्ज्ञान होता है। मैं पर से बिल्कुल खाली मात्र चैतन्यज्योति हूँ। शरीर-मन-वाणी इत्यादि का मेरे स्वरूप में प्रवेश नहीं है और 'अकेला ज्ञान' कहने से आत्मा में विकार भी नहीं है – ऐसा जानना चाहिए। 'अकेला ज्ञान ही है' – इसप्रकार आत्मा को पर से शून्य एकाकी ज्ञानस्वभावपने देखनेवाली ज्ञानकिरण को शून्यनय कहा जाता है।

आत्मा ज्ञानप्रकाश से भरा हुआ है, जबकि अज्ञानी जीव ऐसा न मानकर अपने को परसंयोग और विकार से भरा हुआ मानता है। जो जीव भगवान आत्मा को चैतन्यप्रकाशमय होने के कारण महान न मानकर परसंयोग के कारण महान मानता है, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। कचरे से भरे हुए घर को भरा नहीं कहा जाता। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण आता है –

एक सेठजी के पास दो व्यक्ति नौकरी करने के लिए आये। सेठजी ने दोनों की परीक्षा करने के लिए चार-चार पैसे दिये और दोनों को एक-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक खाली कमरा बताकर भरने को कहा। तब उनमें से एक ने तो एक मजदूर बुलाकर कमरे को कचरे से भर दिया; क्योंकि उसे चार पैसे में कचरे के अलावा ऐसी कोई वस्तु नहीं मिली, जिससे वह उस कमरे को भर सके। तथा दूसरे ने विचार किया कि सेठजी चार पैसे में कमरा भरवाना चाहते हैं, तो कोई विशेष आशय है; अतः उसने बाजार में जाकर चार पैसे से एक माचिस तथा एक मोमबत्ती ली और कमरे में मोमबत्ती जलाकर कमरे को प्रकाश से भर दिया। सेठजी ने देखा, कमरे में अनाज या कोई अन्य वस्तु तो है ही नही, फिर भी कमरे में प्रकाश तो सम्पूर्णपने भरा हुआ है। इसीप्रकार आत्मा परपदार्थों तथा परभावों से बिल्कुल खाली होने पर भी चैतन्यप्रकाश से भरपूर है। जिन्हें ऐसे आत्मा का भान नहीं है, वे अज्ञानी जीव मूर्ख मनुष्य की तरह आत्मा को संयोग तथा विकार से भरा हुआ मानते हैं और ज्ञानी तो अपने आत्मा को चैतन्यप्रकाश से भरपूर तथा पर से खाली जानते हैं।

पर्याय के विकार का भी वह प्रकाशक है। विकार आत्मा की क्षणिक पर्याय में ही है और चैतन्यप्रकाश तो आत्मा में सदा ही भरा हुआ है। सम्यग्ज्ञान आत्मा को अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से भरा हुआ तथा पर से खाली बताता है।

'परवस्तु के बिना मेरा चलता नहीं है' जो ऐसा मानता है, वह आत्मा को पर से खाली नहीं मानता; लेकिन पर से भरा मानता है और पर से भरा माननेवाले ने आत्मा को अपने स्वभाव से खाली माना है अर्थात् वास्तव में तो उसने आत्मा को माना ही नहीं है।

जीव में परवस्तु का तो अभाव है ही अर्थात् वह तीनों काल परवस्तु के बिना ही है; 'मेरा परवस्तु के बिना चलता नहीं है' – अज्ञानी भले ही ऐसा मानता हो, परन्तु अज्ञानी को ऐसी उल्टी मान्यता के समय भी उसका कार्य तो परवस्तु के बिना ही चल रहा है – यह बात प्रत्येक जीव को जानने जैसी है।

देखो, यह कल्याण की विधि ! जो जीव अपने कल्याण के लिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आया है। आचार्यदेव उसे कल्याण का उपाय बताते हैं। जैसे तीर्थंकर भगवान के जन्मकल्याणक आदि प्रसंगों पर सौधर्मस्वर्ग में स्वयमेव ही सुघोष घंट बजते हैं। उसीप्रकार हे भाई ! यह तेरे कल्याण का अवसर आया है, इसलिए तू अपने सच्चे स्वरूप को समझकर अपने आत्मा की स्वतन्त्रता का सुघोष घंट बजा।

अरे रे ! 'संयोग प्रतिकूल हैं, मुझे कर्म हैरान करते हैं, अभी कर्म का जोर है' – ऐसी उल्टी मान्यता छोड़। अहो ! मेरा आत्मा कर्म इत्यादि परद्रव्यों से त्रिकाल बिल्कुल खाली है और त्रिकाल अपने चैतन्यस्वभाव से भरा है। कोई भी परद्रव्य मेरी सीमा के भीतर आकर मेरा अहित करने में समर्थ नहीं है। – ऐसी सच्ची समझ की घोषणा कर।

अहो ! मैं मेरे स्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ हूँ और पर से बिल्कुल रहित हूँ– शून्य हूँ; इसलिए मुझे मेरे कल्याण के लिए मेरे सिवाय कोई भी परपदार्थ का आश्रय लेने की जरूरत नहीं है। – ऐसी अपूर्व दृष्टि करने पर जीव को अपने स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होता है – कल्याण होता है।

यहाँ शून्यनय से आत्मा का स्वरूप दर्शाया गया है। आत्मा, शरीर तथा कर्म आदि समस्त पर पदार्थों से खाली है और अपने अनंत गुण पर्यायों से भरा हुआ है। ज्ञानादि गुणों की पर्यायें तथा गति आदि पर्यायें अपनी-अपनी योग्यता से होती हैं, क्योंकि ये तो आत्मा के धर्म हैं। संसार अवस्था के समय आत्मा इन पर्यायों से खाली नहीं है, परन्तु कर्म से खाली है। राजा श्रेणिक को जो नरकपर्याय हुई, उस नरकपर्याय से श्रेणिक का आत्मा खाली नहीं है; क्योंकि वह नरकपर्याय भी आत्मा का अपना अंश है और अपनी योग्यता से हुई है, कर्म के कारण नहीं; पर श्रेणिक का आत्मा भी कर्म से तो खाली ही है – इसप्रकार सुखी होने के लिए कर्म के सन्मुख नहीं होना पड़ता है, परन्तु आत्मा के सन्मुख होना पड़ता है।

'आत्मा में कर्म नहीं है' – इससे मैं कर्म से बंधा हूँ और मुझे कर्मों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का क्षय करना है, यह बात ही नहीं रहती। कर्मसन्मुखता के काल में आत्मा में जो क्षणिक विकार उत्पन्न होता है, स्व का आश्रय लेने से वह भी उत्पन्न नहीं होता। यदि आत्मा में जड़कर्म मिल जाय, तो आत्मा तथा जड़कर्म मिलकर एकमेक हो जायें अर्थात् आत्मा ज्ञान के समान कर्म से भी भरा हुआ कहलाये, परन्तु कर्म से तो आत्मा त्रिकाल खाली है।

'मैं जगत के समस्त पदार्थों से खाली एकाकी ज्ञानमूर्ति हूँ'– ऐसा समझे तो आत्मा निर्भार हो जाये।

अज्ञानी जीव अनादिकाल से अपने को कर्म और संयोगवाला मानकर मोह के बोझ से दब रहा है। उसे ज्ञानी धर्मात्मा समझाते है कि अरे आत्मा ! तू शान्त हो, धैर्य से विचार कर; तेरे एकाकी आत्मा में किसी भी अन्य द्रव्य का प्रवेश ही नहीं होता। एकबार तो तू समस्त पदार्थों का लक्ष्य छोड़ दे और मात्र आत्मद्रव्य को ही लक्ष्य में ले। इसप्रकार जो अपने आत्मा को पर से बिल्कुल खाली अनुभव करता है, वह एकदम निर्भार हो जाता है अर्थात् उसके मोह का नाश हो जाता है।

'मैं परद्रव्य का करूँ या परद्रव्य मेरा करे' – इसप्रकार व्यर्थ ही यह अज्ञानी जीव परद्रव्य का बोझ अपने माथे लेकर दबा जा रहा है। यदि पर के अभावरूप निजस्वभाव को जाने, तो आत्मा को समस्त परद्रव्यों के बोझ से रहित अनुभव करे। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! 'मैं कर्म से खाली हूँ' – ऐसा जानकर निर्भार हो जा। जहाँ अपने को परद्रव्य से खाली समझा, वहाँ परद्रव्य की तरफ देखना नहीं रहा; परन्तु अपने निजस्वभाव की ओर झुकना ही रहा। मैं पर से खाली हूँ, जिसने नहीं जाना, उसकी दृष्टि पर्याय में एकत्व छोड़कर निर्मलस्वभाव पर जाये बिना नहीं रहती। जिसे निमित्त के साथ एकत्वबुद्धि होती है, उसे विकार के साथ भी एकत्वबुद्धि होती ही है। और जिसकी निमित्त के साथ एकत्वबुद्धि छूट जाती है, उसकी विकार के साथ भी एकत्वबुद्धि छूटे बिना नहीं रहती। अपने स्वभाव में एकत्वबुद्धि होने पर निमित्त तथा विकार दोनों से एकत्वबुद्धि छूट जाती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जड़कर्म की प्रकृति को आत्मा बाँधता है और प्रकृति का फल आत्मा में आता है – यह सब निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा कथन है। वास्तव में जड़कर्म की बंध, उदय, सत्त्व, उपशम, क्षयोपशम, क्षय इत्यादि जितनी भी अवस्थाएँ होती हैं, वे सभी पुद्गल में होती हैं आत्मा में नहीं। आत्मा उनसे रहित है; जो ऐसी भिन्नता को जानता है, वही निमित्त-नैमित्तिक संबंध को सही जानता है। जिसे अभी जीव तथा कर्म की भिन्नता का भान नहीं है, उसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी यथार्थज्ञान नहीं होता। आत्मा पर से खाली है – ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि पर का लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख हो जाती है अर्थात् अपने स्वाभावसन्मुख दृष्टिवाले को ही वास्तविक शून्यनय होता है।

'ब्रह्म सत् है और जगत मिथ्या है' – ऐसा कहनेवालों के शून्यनय नहीं होता; क्योंकि जगत में आत्मा के अलावा परपदार्थ भी अपने-अपने स्वरूप में सत् हैं, आत्मा में नहीं हैं। जो ऐसा जानता है, उसे शून्यनय होता है।

नास्तित्वनय बताता है – आत्मा परपने नहीं है और शून्यनय बताता है – आत्मा में पर नहीं है। एक तो आत्मा का पर में निषेध बताता है और दूसरा आत्मा में पर का निषेध बताता है।

प्रश्न – यदि आत्मा कर्म से खाली है, तो एक का शरीर रोगी तथा दूसरे का निरोगी, एक निर्धन तथा दूसरा धनवान; ऐसा भेद – अन्तर क्यों दिखाई देता है ?

उत्तर – अरे भाई ! आत्मा तो रोगी-निरोगी, शरीर तथा पैसा इत्यादि सभी अवस्थाओं से खाली ही है। ये कोई भी परपदार्थ आत्मा में तो आते ही नहीं हैं, कर्म भी तेरे में नहीं है और शरीरादि भी तेरे में नहीं हैं। जो तेरे आत्मा के असंख्य चैतन्यप्रदेश में रहता है, वह तेरा है और शरीर, कर्म आदि कोई भी तेरे आत्मप्रदेश में नहीं रहते।

प्रश्न – यदि आत्मा में ज्ञानावरणी कर्म नहीं है, तो ज्ञान की अवस्था हीन क्यों है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – देखो भाई, जीव स्वयं के कारण जितनी ज्ञान की हीन अवस्थारूप परिणमन करता है, जगत में निमित्त के रूप में उतना ज्ञानावरणी कर्म भी है, परन्तु आत्मा में तो उसका अभाव ही है। आत्मा का नैमित्तिकभाव आत्मा में है, परन्तु निमित्त का तो आत्मा में अभाव ही है। ज्ञान की अवस्था ज्ञानावरणी कर्म के कारण हीन नहीं हुई, परन्तु ज्ञान अपनी स्वयं की योग्यता से ही हीनपने परिणमन करता है। इसलिए यह समझकर 'कर्मोदय जीव को परेशान करता है' – ऐसी धारणा मिटाकर अपने चित्त को निर्भार बना और आत्मा की संभाल कर। कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम इत्यादि सभी से आत्मा खाली है, इसलिए तू उनकी दृष्टि छोड़कर अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा के ऊपर दृष्टि कर – यह कल्याण का उपाय है।

मेरा आत्मा पर से बिल्कुल खाली एकाकी है – यह बात समझने से निमित्तबुद्धि का अभाव होता है और निमित्तबुद्धि का अभाव होते ही अपनी पर्याय में भी अहंबुद्धि का अभाव होकर त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि होती है। तथा अनुक्रम से वीतरागी चारित्र प्रगट होकर मोक्षदशा हुए बिना नहीं रहती।

सुनने में आनेवाले शब्दों से आत्मा खाली है, परन्तु उसके ज्ञान से खाली नहीं है अर्थात् शब्द के कारण मुझे ज्ञान होता है – यह बात नहीं रही; परन्तु ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन लेने से ज्ञान होता है – यह सिद्ध हुआ।

असाता-वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में सर्प काटता है, पर असाता-वेदनीय कर्म आत्मा में नहीं आ जाता, सर्प भी आत्मा में नहीं आ जाता, सर्प का जहर भी आत्मा में नहीं आ जाता और जिस शरीर में सर्प ने काटा है, वह शरीर भी आत्मा में नहीं आ जाता। आत्मा तो इन सबसे रहित एकाकी चैतन्यबिम्ब है – ऐसा आत्मा का स्वरूप समझे, तो पर के कारण लाभ-हानि होती है – यह विपरीत मान्यता नहीं रहे, अर्थात् पराश्रयबुद्धि छूटकर स्वाश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में तीर्थंकर नामकर्म का तथा समवशरणादि का भी अभाव है । तीर्थंकर भगवान का आत्मा केवलज्ञानादि से भरा हुआ है, पर समवशरणादि से तो खाली ही है । जो जीव यह नहीं समझता, उसे तो 'तीर्थंकर नामकर्म का बँध हो' – ऐसा शुभभाव भी नहीं होता; क्योंकि ऐसा शुभभाव मिथ्यादृष्टि को होता ही नहीं है । सम्यग्दृष्टि को ही शुभराग से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, परन्तु सम्यग्दृष्टि तो उसका अपने में अभाव मानता है । इसलिए उससे परम्परा मेरा कल्याण होगा – ऐसा नहीं मानता । कहीं निमित्त की अपेक्षा कथन किया हो, तो वह वहाँ यथार्थ स्थिति इसप्रकार समझता है कि इस राग से अथवा तीर्थंकर नामकर्म से मेरा कल्याण नहीं होगा । इसीप्रकार यदि कहीं निमित्त-अपेक्षा कर्म को दुख:दायक कहा हो, तो वहाँ भी धर्मीजीव ऐसा समझता है कि वास्तव में तो जड़कर्म जीव को दु:ख देता नहीं है, परन्तु कर्म की तरफ झुकनेवाला विकारीभाव ही दु:खरूप है ।

कर्मसन्मुख बुद्धि छुड़ाने के लिए तथा आत्मसन्मुख बुद्धि कराने के लिए ही निमित्त अपेक्षा कर्म को दु:खदायक, दु:ख का बीज कहा है । निश्चय से आत्मा में कर्म का अभाव है ।

आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जो आत्मा को समस्त पर-पदार्थों से खाली रखता है और ऐसे एकाकी आत्मा को जाननेवाला शून्यनय है । शून्यनय श्रुतज्ञान का एक अंश है ।

– इसप्रकार शून्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(२३)

अशून्यनय

अशून्यनयेन लोकाक्रांतनौवन्मिलितोद्भासि ।

आत्मद्रव्य अशून्यनय से मनुष्यों से भरे हुए जहाज के समान मिश्रित भासित होता है ।

शून्यनय से आत्मा को पर-पदार्थों से खाली कहा था, अब अशून्यनय से आत्मा के ज्ञान में मानो लोकालोक भर गया हो –ऐसा कहकर उसकी अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य को बताया जा रहा है ।

पर को जानने के लिए आत्मा को पर-सन्मुख नहीं देखना पड़ता, परन्तु ज्ञान में एकाग्र होने पर आत्मा स्वयं ही सभी ज्ञेयों से भर जाता है अर्थात् वह सभी ज्ञेयों को जान लेता है । वास्तव में ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते हैं, परन्तु वे सब ज्ञान में ज्ञात होते हैं – इस अपेक्षा से आत्मा को ज्ञेयों से मिश्रित कहा है ।

समुद्र में तैरनेवाला जहाज, उसमें बैठे हुए मनुष्यों से भरा है; परन्तु किनारे पर खड़े हुए मनुष्यों से नहीं भरा है, इसीप्रकार आत्मा अपने में रहनेवाले अनन्तधर्मों से भरपूर है, परन्तु उसमें बाह्यपदार्थ नहीं भरे हैं ।

असंख्यातप्रदेशी भगवान आत्मा इस लोक में तैरते हुए जहाज के समान है । उसके एक-एक प्रदेश में अनन्तगुण भरे हुए हैं, वह पर के बिल्कुल खाली है, परन्तु पर के ज्ञान से भरा हुआ है अर्थात् वह पर को जानता है । ज्ञान है तो आत्मा का ही; परन्तु ज्ञान के पर-प्रकाशक स्वभाव में लोकालोक के सभी पदार्थ ज्ञात होते हैं, मानों आत्मा ज्ञेयों के साथ मिल गया हो – इसप्रकार उपचार से उसे मिश्रित कहा है । वास्तव में आत्मा में परज्ञेय भरे नहीं है । आत्मा तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से भरा हुआ है ।

जैसे मनुष्यों से भरा हुआ जहाज स्वयं तैरता हुआ आगे बढ़ता है,

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार अपने गुण-पर्यायों से भरा हुआ आत्मा स्वयं परिणमन करता है और जो जीव ऐसे आत्मा का आश्रय लेते हैं, वे संसार-समुद्र से तिर जाते हैं।

यह अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को साधनेवाले साधकजीवों के नयों का वर्णन है। पहले यह बात खास वजन देकर कही गई है कि कोई भी नय से आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाले की दृष्टि अन्तर में शुद्ध आत्मा पर ही पड़ती है, क्योंकि यह धर्म किसी निमित्त, राग, या क्षणिकपर्याय के आश्रय से नहीं रहता और न प्रत्येक धर्म अलग-अलग ही रहता है, परन्तु सभी धर्म आत्मद्रव्य के आश्रय से ही रहते हैं। इसलिए उस अखण्ड आत्मा की सिद्धिपूर्वक ही उसके धर्मों का यथार्थ स्वीकार होता है।

मनुष्यों से भरे हुए जहाज के समान आत्मा के ज्ञान में अनन्त ज्ञेय भरे हुए दिखाई देते हैं। आत्मा पर-पदार्थों को जानता ही न हो – ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से पर-वस्तुओं को भी जानता है, इसलिए वह अनन्त ज्ञेयों के ज्ञान से भरा हुआ है। ऐसे ज्ञानसामर्थ्य के कारण सभी ज्ञेय मानो ज्ञान में समा गये हों – ज्ञान में उतर गये हों –ज्ञान में डूब गये हों – इसप्रकार ज्ञान, ज्ञेयों से भरा हुआ दिखाई देता है।

जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में रंग-बिरंगे पदार्थ झलकने पर दर्पण उनसे भरा हुआ लगता है, उसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ ज्ञान में सभी ज्ञेय ज्ञात होने पर आत्मा भी उनसे भरा हुआ लगता है। ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर ज्ञानपर्याय में सबकुछ ज्ञात हो जाता है।

कोई पूछे कि भगवान को कहाँ शोधना है ? तो कहते हैं कि अपने ज्ञान में शोधना। अनन्त तीर्थंकरों, सिद्धों और संतों को बाहर में नहीं शोधना पड़ता। वे सब अपने ज्ञान में ही ज्ञात होते हैं अर्थात् ज्ञान में ही विराजते हैं; इसलिए तू स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति कर।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्त सिद्धभगवंत तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और अनन्त पुद्गल आदि सभी को जाननेरूप ज्ञान से आत्मा भरा हुआ है। अन्तरात्मा को पहिचानकर उसकी दृष्टि करे तो स्वाधीन दृष्टि और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

जिसप्रकार लैंड़ी पीपर में चौंसठपुटी चरपराहट प्रकट होने की शक्ति है और उसी में से चौंसठ पुटी चरपराहट प्रगट होती है, उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञानादिक प्रगट होने की सामर्थ्य है और उस सामर्थ्य में से ही केवलज्ञान प्रगट होता है। वर्तमानपर्याय में विकार होने पर भी आत्मा पूर्णशक्ति से भरा हुआ है। उसी में से पूर्णता प्रगट होती है, बाहर से नहीं। इसप्रकार साधकजीव अपने स्वभाव की सामर्थ्य को जानता है अर्थात् वह बाह्यपदार्थों के अवलम्बन से अपनी पर्याय का विकास होना नहीं मानता।

साधक जीव ऐसा जानता है कि मैं अपनी अन्तर्शक्ति का जितना-जितना अवलम्बन करूँगा, मेरी पर्याय में उतनी-उतनी निर्मलता का विकास होगा। वर्तमान में मेरी पर्याय हीन है और वह पूर्णता से भरे हुए ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से ही पूर्ण होगी। निमित्तों से तो आत्मा खाली है अर्थात् निमित्तों के अवलम्बन से पूर्णपर्याय प्रगट नहीं होगी तथा वर्तमान हीनपर्याय में से भी पूर्णपर्याय प्रगट नहीं होगी। पूर्णसामर्थ्य से भरपूर स्वभाव की एकाग्रता से ही परिपूर्ण पर्याय प्रगट होगी। आत्मा स्वयं पूर्णसामर्थ्य से भरा हुआ है; अतः पर का आश्रय लेने की आवश्यकता ही नहीं है और पर से तो आत्मा खाली है, इसलिए पर का आश्रय लेना कहाँ रहा ? इसप्रकार आत्मा के धर्मों की प्रतीति करने पर स्वाश्रय ही फलित होता है तथा स्वभाव के आश्रय से पर्याय भी निर्मल हो जाती है।

देखो, आचार्य भगवान ने आत्मा की कितनी सरस और मधुर बात बताई है। यह बात सुनते हुए अपने को अन्तर में इसका रस आना चाहिए और अपूर्वता भासित होनी चाहिए। जो आत्मा के रसपूर्वक यह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बात समझेगा, उसका अपूर्व कल्याण होगा।

–इसप्रकार यहाँ २३वें अशून्यनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ !

इन्द्रियज्ञान की तुच्छता एवं अतीन्द्रियज्ञान की महानता

(मनहरण)

इन्द्रिय के विषय जे विराजत हैं थूलरूप,
तिनसौं मिलाप जब होय तब जाने हैं।
अवग्रह ईहा औ अवाय धारणादि लिये,
क्रमसों विकल्पकरि ठीकता को माने हैं॥
भूतभावी परजै प्रमान औ अरूपी वस्तु,
इन्द्रिनतें सर्व ये अगोचर प्रमाने हैं।
जातें इन गच्छिनि को अच्छतें न ज्ञान होत,
ताहीसेती अच्छज्ञान तुच्छ ठहराने हैं॥
अप्रदेशी कालानु प्रदेशी पंच अस्तिकाय,
मूरतीक पुग्गल अमूरतीक पांच हैं।
तिनके अनागत अतीत परजाय भेद,
नाना भेद लिये निज थल माच है॥
सर्वकों प्रतच्छ एक समैही में जाने स्वच्छ,
अतीन्द्रियज्ञान सोई महिमा अवाच है।
बारबार बंदत पदारविंद ताको बृन्द
जाके पद जानैं तें न नाचै कर्मनाच है॥

कविवर वृन्दावनदास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२४

ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से महान ईंधनसमूह रूप परिणत अग्नि की भांति एक है ।

परिशिष्ट के आरम्भ में जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया था कि प्रभो ! आत्मा कैसा है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? यह उसका उत्तर चल रहा है ।

आत्मा चैतन्यस्वरूप वस्तु है, उसमें अनंतधर्म है । वास्तव में आत्मा अपने में है और पर, पर में है । आत्मा में पर-पदार्थ आते नहीं हैं; परन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव इतना विशाल है कि उसमें समस्त ज्ञेय जानने में आ जाते हैं ।

जिसप्रकार अग्नि की भट्टी में लकड़ी, झाड़ इत्यादि अनेक प्रकार का ईंधन जलता हो, वहाँ सम्पूर्ण ईंधन एक अग्नि के रूप में ही दिखाई देता है । उसीप्रकार आत्मा की ज्ञानज्योति की ऐसी विशाल सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञेयों को जान लेता है ।

इस अपेक्षा ज्ञान समस्त ज्ञेयों को जानता है अर्थात् समस्त ज्ञेयों के साथ अद्वैत होता है ? – ऐसा कहा है । इसप्रकार ज्ञान का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को जानने का है । यह स्वभाव किसी निमित्त या राग के कारण नहीं है । जगत में केवली भगवान हैं, इसलिए ज्ञान समस्त पदार्थों को जानता है – ऐसा नहीं है । सभी को जानने का धर्म तो अपने ही कारण है । और ज्ञेय ज्ञान के कारण हो – ऐसा भी नहीं है । वास्तव में देखा जाय तो कोई भी पदार्थ अन्य किसी के कारण नहीं है ।

ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ आपस में कभी भी नहीं मिलते हैं, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा में एक ऐसा स्व-पर प्रकाशक धर्म है कि जिससे वह

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोकालोक के समस्त ज्ञेयों को इसप्रकार जानता है जैसे कि ज्ञान में समस्त ज्ञेय खचित हो गये हों, उतर गये हों। इससे पहले प्रवचनासार की २००वीं गाथा में भी कहा है कि 'एक ज्ञायकभाव का सर्वज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रम से प्रवर्तमान अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाध और गंभीर स्वभाव है जिसका –ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों – इसप्रकार एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है।'

ऐसे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के कारण ज्ञान और ज्ञेय एकमेक हो गये हों –ऐसे प्रतिभासित होते हैं, तो भी आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव की एकता को छोड़कर परज्ञेयों के साथ एकमेक नहीं हुआ। ज्ञान की ऐसी ही विशेषता है कि ज्ञेय ज्ञान में जानने में आते हैं, परन्तु ज्ञान ज्ञेयों के कारण नहीं होता।

सामने साक्षात् तीर्थंकर देव अथवा तीर्थंकर देव की प्रतिमा विराजमान है, इसलिए भगवान का अथवा भगवान की प्रतिमारूपी ज्ञेय का ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। श्री सम्मेदशिखरजी अथवा गिरनारजी तीर्थ हैं, इसलिए इन तीर्थोंरूपी ज्ञेयों का ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। इसीप्रकार जो-जो ज्ञेय जगत में नहीं हैं, उन-उन ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा को नहीं हुआ – ऐसा भी नहीं है। आत्मा का स्वयं का स्वभाव ही जानने का है, इसलिए वह जानने रूप परिणमता है। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण परज्ञेय भी ज्ञान में जानने में आते हैं। आत्मा उन ज्ञेयों के कारण जानता है, ज्ञेयों के साथ जानता है अर्थात् ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो – ऐसा ज्ञान और ज्ञेय अद्वैतनय से भासित होता है – ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है। – इस धर्म की अपेक्षा देखा जाय तो भी अनंतधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही अन्तर में दिखाई देता है। ऐसा चैतन्यस्वभाव ख्याल में लिए बिना श्रद्धा-ज्ञान यथार्थ नहीं होते और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रद्धा-ज्ञान यथार्थ हुए बिना चाहे जो कुछ करे, परन्तु हित नहीं होता। शुभभाव से संसार में संयोग की प्राप्ति होती है, स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव क्या है ? ज्ञान। ज्ञान सिवाय जड–शरीर-मन-वाणी को लक्ष्य में से छोड़ दे और अन्दर की शुभ-अशुभ परणति को भी छोड़ दे – इन सबसे पार अन्तर में मात्र ज्ञान को लक्ष्य में ले। यह ज्ञानस्वभावी आत्मा परद्रव्यों से जुदा है; परन्तु इसके ज्ञान में परज्ञेय जाने जाते है। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय का अद्वैत है – ऐसा कहा जाता है।

जिसप्रकार कण्डे-लकड़ी इत्यादि अनेक प्रकार के ईंधन को जलानेवाली अग्नि एक ही लगती है, उसमें कण्डा, लकड़ी भिन्न-भिन्न नहीं दिखते। इसीप्रकार जाननेवाले स्वभाव के द्वारा आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में परिणत होकर अनन्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित होता है। वह जानता है कि समस्त ज्ञेयपदार्थोंपने एक ज्ञान ही परिणम गया है – ऐसा ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से प्रतिभासित होता है।

देखो, यहाँ ज्ञान तथा ज्ञेय का एकपना सिद्ध नहीं करना है; परन्तु ज्ञानसामर्थ्य में समस्त ज्ञेय जानने में आते हैं – ऐसा सिद्ध करके आत्मा का ज्ञानस्वभाव दिखाया है। परज्ञेय तो तीनों काल पर में ही रहते हैं, परन्तु ज्ञान में जानने की अपेक्षा ज्ञेय को ज्ञान के साथ अद्वैत कहकर ज्ञान की सामर्थ्य को बताया है। ज्ञेय के कारण ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञान की ही ऐसी दिव्यसामर्थ्य है। इसलिए ज्ञान स्वयं ही ज्ञेयों के प्रतिभासरूप में परिणमता है। ज्ञान की ही ऐसी महान सामर्थ्य है कि समस्त ज्ञेय ज्ञानपने स्वयं ही भासित होते है।

जैसे अग्नि का स्वभाव है कि छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा ईंधन जलकर अग्निरूप परिणमित हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह एक क्षण में समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। दर्पण में बहुत दूर की अर्थात् पीछे की वस्तु जानने में नहीं आती। दर्पण स्वयं जड़ है, वह कुछ जानता नहीं है; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान का स्वभाव तो सभी को जानने का है। ज्ञान भूत-भविष्य के समस्त पदार्थों को जानता है। ज्ञान स्व-सन्मुख रहकर सभी को जान लेता है – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है।

वस्तु का स्वभाव क्या है ? –यह जानना चाहिए। देखो, उछलते हुए विशाल समुद्र में लकड़ी का छोटा-सा टुकड़ा भी तैरता है और सैकड़ों मनो की लकड़ी भी पानी में तैरती है। परन्तु पाई भर के लोहे का टुकड़ा पानी में डूब जाता है – इसका क्या कारण है ?

पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है।

पदार्थ का ऐसा स्वभाव जाना किसने ?

यह स्वभाव इन्द्रियों से जानने में नहीं आता, परन्तु यह स्वभाव तो ज्ञान से ही जाना जाता है, ज्ञान अपने स्वभाव को जानता ही है, पर के स्वभाव को भी जानता है। –इसप्रकार ज्ञान का स्वभाव जानने का है।

अज्ञानी जीव को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है, उसे परद्रव्य की ही महिमा आती है; परन्तु अज्ञानी को, पर को जाननेवाले ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा नहीं आती। यदि अपने ज्ञानस्वभाव की महानता भासित हो तो संसार-समुद्र से तिर जाय; क्योंकि ज्ञान का तरने का स्वभाव है। अनन्त ज्ञेयरूपीसमुद्र के बीच रहते हुए मेरे ज्ञान का स्वभाव उनसे भिन्न रहकर तिरने का है। ज्ञान का स्वभाव पर को जानने का है, पर में अहंपना करके पर में अटकने का नहीं। समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणमत होते हुए भी ज्ञान उन ज्ञेयों से भिन्न ही रहता है। – ऐसा मेरा स्वभाव है। – इसप्रकार जो अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन हो और वह भवसमुद्र से तिर जाय।

आत्मा का स्वभाव जानने का है, तो वह किसे जाने और किसे न जाने? अरे भाई ! वह तो सभी को जानता है। ज्ञानसामर्थ्य में जानने की मर्यादा नहीं होती। यदि ज्ञान अपूर्ण जानता है तो उसके परिणमन में कचास है, स्वभावसामर्थ्य में कचास नहीं होती। यह बात साधकजीव के लिए है; क्योंकि नय साधकजीव के ही होते हैं। साधकजीव अपनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय में कचास होते हुए भी अर्न्तमुखदृष्टि के द्वारा परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में ले लेता है।

आत्मा का स्वभाव परद्रव्य को जानने का तो है, परन्तु पर को अपना बनाने का, मानने का नहीं है। नारकियों के दुखों को ज्ञानी जानता तो है, पर उससे प्रभावित होकर दुखी नहीं होता। जैसे किसी को बरछी लगी हो तो अन्य दूसरे मनुष्य यह तो जानते हैं कि इसके लगने से कैसा भयंकर दुख होता है, पर यह सब देखनेवाले मनुष्यों को उस दुख का वेदन नहीं होता। इसीप्रकार समस्त पदार्थों को जानने का स्वभाव तो आत्मा का है, पर राग-द्वेष करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि मेरा अमुक वस्तु के बिना नहीं चलता, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! तुम तो ज्ञान हो और समस्त आत्माओं का परवस्तु के बिना ही अनादि से चल रहा है, परन्तु ज्ञान बिना एक क्षण भी नहीं चलता। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा का ही अभाव हो जाय। पर्याय में अल्प राग-द्वेष होने पर भी 'मैं तो ज्ञान हूँ,' जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह जीव आराधक हुआ। अब जो पर्याय में अल्प बाधकभाव विद्यमान है, ज्ञान में एकाग्रता पूर्वक पुरुषार्थ से उसका भी अभाव करके ज्ञान पूर्णरूप से खिल जानेवाला है।

अज्ञानी जीव बाह्यपदार्थों में ही ऐसा मानता है कि 'यह मेरे लिए उपयोगी है और यह अनुपयोगी है।' परन्तु अन्तर में 'मैं ज्ञान हूँ' इसकी उसे खबर ही नहीं है।

ज्ञानी जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, मुझे ज्ञान करने के लिए ज्ञेय के रूप में सभी पर पदार्थ उपयोगी हैं; परन्तु कोई भी परज्ञेय मेरे लिए उपयोगी नहीं है। मेरी ज्ञानसामर्थ्य में समस्त पदार्थ ज्ञेय के रूप में भले जानने में आवें, परन्तु मेरा ज्ञान किसी भी परज्ञेय को अपनेपने स्वीकार नहीं करता।

अरे जीव ! एकबार प्रतीति तो कर कि ज्ञान मेरा स्वभाव है और मेरे ज्ञान की सामर्थ्य समस्त ज्ञेयपदार्थों को जानने की है। परज्ञेयों के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अवलम्बन बिना, स्वभाव के अवलम्बन से ही 'मैं समस्त लोकालोक का ज्ञायक हूँ' – ऐसे ज्ञायकपने की प्रतीति करे तो सम्पूर्ण जगत से उदास होकर ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो जाय।

जीव को लोकालोक का ज्ञान, लोकालोक है, इसलिए होता है – ऐसा नहीं है। यदि लोकालोक के कारण ज्ञान होता हो तो समस्त जीवों को लोकालोक का ज्ञान हो जाना चाहिए; क्योंकि लोकालोक तो सदा विद्यमान है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अपने ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य से ही ज्ञान होता है।

– ऐसे निजस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक एक अपने ज्ञानस्वभाव की भावना में ही शुभभावरूपी व्रतादि सभी समाहित हो जाते हैं। जो बारह भावनायें कही गई हैं, वे तो व्यवहार से हैं; क्योंकि वास्तव में बारह भावनाओं का आधार तो एक निज–आत्मा ही है। आत्मा का आश्रय करना ही सच्ची बारह भावना है। बारह प्रकार के भेद ऊपर लक्ष्य जाने से तो विकल्प होता है। इसलिए किसी भी नय से आत्मा के धर्म का वर्णन किया हो, परन्तु उस धर्म द्वारा धर्मी – ऐसे अखण्ड आत्मा का अवलम्बन कराने का ही एक तात्पर्य है।

– इसप्रकार ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२५

ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय

ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से पर के प्रतिबिम्बों से सम्पृक्त दर्पण की भांति अनेक है ।

जिसमें अनेक वस्तुओं के प्रतिबिम्ब झलकते हैं – ऐसा दर्पण जिसप्रकार स्वयं अनेकरूप हुआ है, उसीप्रकार ज्ञान में अनेक प्रकार के परज्ञेय झलकते हैं, जानने में आते हैं । वहाँ स्वभाव से ही ज्ञान अनेक ज्ञेयोंरूप परिणमा है, परन्तु ज्ञेय ज्ञान में नहीं आये हैं ।

अनंतधर्मों को धारण करनेवाला भगवान आत्मा प्रमाणज्ञान का विषय है और उस प्रमाणज्ञान की किरण द्वारा उसका एक-एक धर्म जानने में आता है । प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं, उन नयों में से यहाँ २४वें ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन चल रहा है ।

इससे पूर्व ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा को एक कहा और यहाँ ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा को अनेक कहा, पर इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा पर से तो भिन्न ही है ।

'एकपने की तरह अनेकपने भासित होना' – ऐसा आत्मा का ही स्वभाव है; यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही हैं । आत्मा का एकत्व देखनेवाला नय हो या अनेकत्व देखनेवाला नय हो, सभी नय आत्मा को ही उस-उस धर्म की मुख्यता से देखते हैं । पर के कारण आत्मा में ऐसा धर्म है – ज्ञानी ऐसा नहीं मानते । एकत्व तथा अनेकत्व – इन दोनों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु प्रमाणज्ञान उस विरोध का टालकर आत्मस्वभाव को सिद्ध करता है ।

जिसप्रकार दर्पण में मोर, स्वर्ण, नीम, आम इत्यादि अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देने पर दर्पण भी अनेकरूप भासित होता है, उसी-

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकार चैतन्यज्योति भगवान आत्मा का ज्ञान दर्पण की भाँति अनेक पदार्थों को जानते हुए अनेकरूप भासित होता है। इसलिए आत्मा में अनेकत्व धर्म भी है।

ज्ञेयों का अनेकपना ज्ञेयों में है, उनसे आत्मा भिन्न है। अरहंत-सिद्ध, जड़-चेतन इत्यादि अनेक ज्ञेय पदार्थों का जाननेवाला ज्ञान स्वयं ही अपने स्वभाव से अनेकरूप होता है। यह अनेकता परज्ञेयों के कारण नहीं होती। जिसप्रकार दर्पण में अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह दर्पण की ही अवस्था है। दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वैसे ही अनेक आकाररूप पदार्थोंपने परिणमा है। उसीप्रकार ज्ञान भी अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण अनेक ज्ञेयाकारोंरूप परिणमता है। यह ज्ञान की अपनी अवस्था है, परज्ञेयों का आकार ज्ञान में नहीं आता।

प्रश्न – आत्मा के इतने अधिक धर्मों को जानना तो उपाधि है और यह राग का कारण है ?

उत्तर – अरे भाई ! आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है; इसलिए आत्मा के इन धर्मों को जानना उपाधि और राग का कारण नहीं है; परन्तु इन धर्मों से आत्मा को जानने पर राग टूटकर ज्ञान की निर्मलता बढ़ती है, इसलिए निरुपाधिपना होता है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में लोकालोक की अनेकता जानने में आते हुए भी उनके ज्ञान में उपाधि नहीं है, विकल्प नहीं है; परन्तु वीतरागता है।

ज्ञान का स्वभाव अनेकता को भी जानने का है। ज्ञान में जो अनेकता जानने में आती है, वह राग की कारण नहीं है। ज्ञान का द्वैतस्वभाव स्वयं का है, लोकालोक का नहीं एवं लोकालोक के कारण नहीं। ज्ञान में लोकालोक का जो प्रतिभास होता है, वह लोकालोक की अवस्था नहीं; परन्तु वह तो ज्ञान स्वयं ही लोकालोकरूप परिणमित हुआ है। लोकालोक तो ज्ञान के बाहर ही है।

इसप्रकार द्वैतनय से अनेकाकार ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान और वीतरागता का कारण है। जितना-जितना विशेष-विशेष

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पक्षों से आत्मस्वभाव का निर्णय किया जाता है, जीव को उतनी-उतनी ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती जाती है और राग क्षीण होता जाता है, वस्तु के स्वरूप का यथार्थज्ञान कभी भी उपाधि का या राग का कारण नहीं होता।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह समस्त ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला है, उसका ज्ञान एकरूप रहता हुआ भी अनेक ज्ञेयों के ज्ञानपने अनेकरूप भी होता है। – ऐसा उसका धर्म है। एकपने रहना भी आत्मा का धर्म है और अनेकपने होना भी आत्मा का ही धर्म है – यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ रहते हैं और ऐसे अनंतधर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है।

आत्मा अपने ज्ञान में अनेक पदार्थों को जानता हुआ, अनेक पदार्थों के ज्ञानपने परिणमित हुआ है। वहाँ ज्ञान स्वयं का है, ज्ञेयों का नहीं और ज्ञेय ज्ञेयों के हैं, ज्ञान के नहीं। – इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों का भिन्नपना है। ज्ञान में अपने स्वभाव द्वैतपना – अनेकपना भासित होते हुए भी वह उपाधि नहीं है। इसीप्रकार राग का कारण भी नहीं है। यह सभी धर्म आत्मा के हैं। इन धर्मों द्वारा आत्मा का ज्ञान होने पर प्रमाणज्ञान – सम्यग्ज्ञान होता है – यह ज्ञान राग का कारण नहीं, वीतरागता का ही कारण है।

देखो, आत्मा के अनंतधर्मों में से एक भी धर्म को न माना जाय तो परिपूर्ण आत्मद्रव्य प्रतीति में नहीं आता, आत्मा का यथार्थज्ञान नहीं होता। साधक धर्मात्मा अनंतधर्मों को भिन्न-भिन्न रूप में भले न जान सके; परन्तु वह प्रयोजनभूत धर्मों द्वारा अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभवपूर्वक जानता है। आत्मा के अनंतधर्मों की उसे निशंक प्रतीति होती है, उसे उसमें शंका नहीं होती।

जिसे अभी आत्मा के स्वरूप में ही शंका है, वह भले बाहर में त्यागी क्यों न हो गया हो, पर उसे सच्चे व्रत नहीं होते; क्योंकि अभी उसके मिथ्यात्वरूप महान शल्य का अभाव नहीं हुआ। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि 'निशल्यो व्रती – शल्यरहित जीव ही व्रती होता है'। जहाँ मिथ्यात्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदि तीनों शल्यें विद्यमान हों, वहाँ व्रत नहीं होते।

जबतक स्वानुभवपूर्वक यथार्थ आत्मद्रव्य को जानकर निशंक न हो और मिथ्यात्व आदि शल्यों का अभाव न करे, तबतक व्रतादिक सच्चे नहीं होते।

'ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है' – ऐसा कहा जाता है; परन्तु वास्तव में ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, बल्कि ज्ञान की पर्याय ही ऐसी दिखाई देती है। ज्ञान अरूपी है और पुद्गलात्मक समस्त परद्रव्य रूपी हैं, तो अरूपी में रूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? ज्ञान में पर को भी जानने की सामर्थ्य है, इसलिए उसमें परद्रव्य भी जानने में आते हैं – इस अपेक्षा 'ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है' – ऐसा कहा है। ज्ञान की स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बताने के लिए निमित्त अपेक्षा ही उक्त कथन किया गया है। यदि ज्ञान में वास्तव में ही परद्रव्य का प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ते ही ज्ञान को काला होना पड़े, दस हाथ ऊँचे नीम के पेड़ को देखकर ज्ञान को दस हाथ लम्बा होना पड़े; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। ज्ञान तो स्वयं साढ़े तीन हाथ का रहकर भी दस हाथ लम्बे-चौड़े नीम के पेड़ को जान लेता है। इसलिए परज्ञेयों का आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता, परन्तु ज्ञान उसे जान लेता है – इस अपेक्षा ज्ञान में उसका प्रतिबिम्ब कहा है।

ज्ञान अपने ज्ञानभावपने एकरूप होते हुए अनेक ज्ञेयों को जानता है – इस अपेक्षा उसमें अनेकता भी है। ज्ञान में अनेक ज्ञेयों को जानने से जो अनेकता होती है, वह उपाधि अथवा मैल नहीं है; परन्तु ज्ञान का ही स्वरूप है। जिसप्रकार दर्पण में कोयले का प्रतिबिम्ब अर्थात् जो कालापन दिखता है, वह दर्पण का मेल नहीं है; परन्तु वह तो दर्पण की स्वच्छता का परिणमन है। इसीप्रकार ज्ञान में अनेक ज्ञेय झलकते हैं, दिखाई देते हैं। तब ज्ञान अनेकरूप दिखाई देता है, वह ज्ञान का मैल नहीं; परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का परिणमन है। – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है।

शक्कर को जानता हुआ ज्ञान मीठा नहीं होता और निबोडी को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानता हुआ ज्ञान कड़वा नहीं होता; क्योंकि ज्ञान में परज्ञेयों का अभाव है तथा उस-उस प्रकार के अनेक पदार्थों के ज्ञानपने होना ज्ञान का स्वभाव है।

जिसप्रकार ज्ञान परपदार्थों को जानता है, परन्तु पर की उपाधि ज्ञान में नहीं है; उसीप्रकार वास्तव में तो ज्ञान विकार को भी जानता है, परन्तु ज्ञान में विकार की उपाधि नहीं है। जैसे पूर्व में किसी से कोई दोष हुआ हो और वर्तमान ज्ञान में वह याद आवे कि अमुक वर्ष पहले मुझे इतना बुरा परिणाम आया था – ऐसा पूर्व के विकारी परिणाम का ज्ञान होता है, पर उस ज्ञान में पूर्व के विकारी परिणाम की उपाधि नहीं आ जाती। ज्ञान स्वयं विकार रहित रहकर विकार को जान लेता है। ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान का स्वभाव अनेक प्रकार के समस्त ज्ञेयों को जानने का हैं, राग करने का नहीं। ज्ञान होने के साथ जो राग होता है, वह दोष है। अतः वह निकल जाता है; परन्तु ज्ञान में जो अनेकता (अनेक पदार्थों का ज्ञान) होता है, वह तो ज्ञान का स्वभाव है। यदि जीव में से ज्ञान भी निकल जाये तो ज्ञान का अभाव हो जाय अर्थात् जो ज्ञान में अनेकता होती है, उसे न माने तो ज्ञानस्वभाव ही प्रतीति में नहीं आता; इसलिए हे भाई ! तू धैर्यपूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर ! तेरे ज्ञानस्वभाव में कैसे-कैसे धर्म रहते हैं, उन्हें जान !

अहो ! आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य तो देख ! जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसे पूर्ण विकसित ज्ञान न जानता हो। जानना कोई दोष अथवा दोष का कारण नहीं है; परन्तु जिसने वर्तमान में आत्मा का शुद्धस्वभाव जाना हो और यह जाना हो कि उस शुद्धस्वभाव में विकार नहीं, वही पूर्व के विकार को भी यथार्थ जान सकता है। पूर्व में हुए विकार का ज्ञान नये विकार का कारण नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में क्या नहीं दिखता। केवलीभगवान पूर्व में जिस निगोद दशा में थे, उसे तथा और भी अनेक गूढ़ से गूढ़ बातों को जानते हैं, पर उन्हें जानने से ज्ञान में किञ्चित् भी विकार उत्पन्न नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वज्ञ भगवान के ऐसा केवलज्ञान कहाँ से प्रगट हुआ ? अन्दर आत्मा में ऐसा स्वभाव शक्तिपने तो विद्यमान ही था, अतः आत्मा के अवलम्बन से पर्याय में प्रगट हुआ। इसीप्रकार तेरा ज्ञानस्वभाव भी तेरे आत्मा में विद्यमान है, अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके उसका अवलम्बन कर, तो तेरे में भी सर्वज्ञ के समान ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो जायेगी।

सर्वज्ञ भगवान की शक्ति में तेरी शक्ति में कोई अन्तर नहीं है; अतः यदि सर्वज्ञ भगवान के समान तू भी अपने आत्मा का आश्रय ग्रहण करेगा तो तेरी शक्ति (ज्ञानसामर्थ्य) भी पर्याय में प्रगट हो जायेगी। यदि आत्मा में सर्वज्ञ के ही समान परिपूर्ण शक्ति न हो तो सर्वज्ञता कहाँ से प्रगट हो। वर्तमान पर्याय में हीनता तथा विकारीभाव होता है, वह दोष है, परन्तु चैतन्य के ज्ञानसामर्थ्य में पूर्व का विकार दिखाई दे, यह कोई दोष नहीं है। – यह तो ज्ञान की ही सामर्थ्य है।

आत्मा पाप से भिन्न रहकर पाप को जान लेता है – यह आत्मा की स्वच्छता की ही महिमा है। ज्ञान कोई अन्धा नहीं है, जो कि विकार को न जाने। ' विकार को न करे ' – ऐसा तो ज्ञान का स्वभाव है, पर ' विकार को न जाने ' – ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

कोई कहे कि विकार जानने में न आवे और निर्विकार अवस्था ही ज्ञान में आवे तो आचार्य कहते हैं कि उसने ज्ञान का ही स्वरूप नहीं जाना। अरे भाई ! विकार ज्ञान में आता है – यह तो ज्ञान की स्वच्छता है। इसलिए अपनी ज्ञानसामर्थ्य का अवलम्बन कर, तो विकार भी टल जायेगा।

आत्मा की ज्ञानपर्याय का पूर्णपने विकास होने पर विकार का अभाव हो जाता है, पर विकार को जाननेवाले ज्ञान का अभाव नहीं होता। समस्त को जानता हुआ ज्ञान ज्ञानपने रहता है और विकारपने नहीं रहता। – ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

अपने ज्ञान में अनेक परपदार्थों को जानते हुए भी ज्ञान अनेकरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होता। – ऐसे अपने ज्ञान की प्रतीत करनी चाहिए।

'शक्कर मीठी है, अफीम कड़वी है, नींबू देखते ही मुँह में पानी आ जाता है और इमली देखते ही मुँह में अमृत-सा झरने लगता है' – इसप्रकार सभी पदार्थों की प्रतीति करता है, तथा इमली खाये बिना ही मुँह में अमृत झरता है – ऐसा मानता है, तो हे भाई ! जिस आत्मस्वभाव में चौदह ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों के प्रवेश किये बिना ही ज्ञान होता है और अपूर्व आनन्दरस झरता है – ऐसे अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति क्यों नहीं करता ?

जब जीव अपने ज्ञानस्वभाव को चूककर तथा परज्ञेयों में अपनापन मानकर उनमें राग-द्वेष करता है, तब पूर्णज्ञान प्रगट नहीं होता और ना ही आत्मा में आनन्दरस ही झरता है। तथा जब समस्त परज्ञेयों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव का यथार्थ स्वरूप जानकर पर में राग-द्वेष नहीं करता, तब पूर्णज्ञान प्रगट होता है और आत्मा में अपूर्व आनन्दामृत झरता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति सिवाय अन्य किसी भी उपाय से आत्मा के सहजानन्दरूपी अमृत का स्वाद नहीं आता।

यहाँ ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा के स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ। अब आगे नियतिनय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

नियतिनय

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ।

आत्मद्रव्य नियतिनय से, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है – ऐसी अग्नि की भांति नियतस्वभावरूप भासित होता है।

यहाँ आत्मा का नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और देव – इन पाँच नयों से वर्णन करेंगे, जिसमें से प्रथम नियतिनय से वर्णन करते हैं।

अनंतधर्मात्मक चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा प्रमाणज्ञान से जाना जाता है ।

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है । जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है, उसीप्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभावमय है । आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है । ऐसे स्वभाव को देखनेवाले, जब आत्मा को नियतिनय से देखते हैं, तब उन्हें आत्मा अपने चैतन्य स्वभावपने एकरूप भासित होता है ।

पर्याय में कभी तीव्रराग, कभी मंदराग, कभी रागरहित, कभी मतिज्ञान, कभी केवलज्ञान, कभी मनुष्य, कभी देव – इसप्रकार अनेकप्रकार होते हैं । उनका वर्णन आत्मा के अनियतनय में आगे करेंगे ।

यहाँ आत्मा के नियतस्वभाव की बात है । जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभाव है, नियतस्वभाव में सदा वैसा ही भासित होता है ।

पर्याय हीन हो या उच्च हो, विकारी हो या अविकारी हो; परन्तु नियतस्वभाव से तो आत्मा सदा एकरूप है । जो ऐसे नियतस्वभाव को देखता है, अनुभव करता है, उसे पर्यायबुद्धि नहीं रहती, वरन् द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होता है । पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा के

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकरूप नियतस्वभाव को नहीं देख सकता तथा उसे नियतिनय भी नहीं होता।

यहाँ द्रव्य के त्रिकालीस्वभाव को ही नियत कहा है। जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है अर्थात् अग्नि सदा उष्ण ही होती है, अग्नि उष्णता बिना हो – ऐसा कभी बनता नहीं है; इसीप्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियतस्वभाव है। आत्मा को जब उस स्वभाव से देखा जाय, तभी आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूप जानने में आता है।

पर्याय में भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है, जिस समय जो पर्याय होनी नियत है, वही होती है; उसके क्रम में परिवर्तन (फेरफार) नहीं होता है – ऐसा पर्याय का भी नियतस्वभाव है; परन्तु यहाँ पर उसकी चर्चा नहीं है, यहाँ तो निमित्त की अपेक्षा बिना आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाविक धर्म है, उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतिनय का विषय है।

जिसप्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव नियत ही है, निश्चित ही है अर्थात् अग्नि सदा उष्ण ही होती है; उसीप्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत– निश्चित सदा एकरूप ही है, नियतस्वभाव से आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप नियत परमपारणामिक स्वभाव ही प्रतीत होता है, बंध-मोक्ष का भेद भी उसमें नहीं दिखता है। बंध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थाई एकरूप नहीं है; क्योंकि वे अनियत हैं। 'उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक' ये चारों भाव भी अनियत हैं, परमपारिणामिक स्वभाव नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्मा को सदा ज्ञायकस्वरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव नियत अनादि-अनन्त स्वभाव है, उसमें किसी समय भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव पर्याय के अनेक प्रकारों को भी जानता है, तथापि उसके पर्यायबुद्धि नहीं होती है।

आत्मा के नियत एकरूप ध्रुवस्वभाव को जाननेवाले के एक आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का ही आश्रय होता है; आत्मा के अतिरिक्त निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता नहीं रहती। इसप्रकार प्रत्येकनय से शुद्ध आत्मा ही सिद्ध होता है। जो जीव अंतरंग में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं देखते, उसको एक भी नय सच्चा नहीं होता।

जैसे लोक में कहा जाता है कि ऐसा नियम बनाओ कि जो कभी बदले नहीं, वैसे ही यह नियतनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा स्थाई नियम रखता है कि जो कभी परिवर्तित नहीं होता।

प्रश्न – आत्मा का नियम क्या है ?

उत्तर – स्वयं के शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव में त्रिकाल रहना ही उसका नियम है। स्व के ज्ञानानन्द स्वभाव को वह कभी छोड़ता नहीं, जो ऐसे आत्मस्वभाव के नियम को जानता है, वह नियम से मुक्ति को प्राप्त करता है।

देखो, आत्मस्वभाव के गीत गाते-गाते संतों के आत्मनुभव के जोर से यह गूंज उठी है कि हे जीव ! तूने अपने नियत परमानन्दस्वभाव को कभी नहीं छोड़ा, तेरा सहजज्ञान तेरे आनन्दस्वभाव में नियत है, तू सदा अनाकुल शांतरस का कुण्ड है। यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड़ दे तो भगवान आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोड़े; परन्तु ऐसा कभी भी नहीं बनता। केवलज्ञान और परमानन्द प्रगट करने की सामर्थ्य से सदा परिपूर्ण तेरा नियतस्वभाव है, उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त कहीं बाहर से धर्म नहीं आता। हे जीव ! तू एकबार अपने अन्तर में ऐसे नियतस्वभाव को देख।

एक अपेक्षा आत्मा अनुकूलता में राग एवं प्रतिकूलता में द्वेष करता हुआ – ऐसे अनियतस्वभाव में स्थित दिखाई देता है और दूसरी अपेक्षा तीनलोक की कैसी भी प्रतिकूलता आ जाये तो भी आत्मा निजस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता, जो आत्मा को दोनों स्वभावों से युक्त जानता है, उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर, उसकी अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पवित्रता का पिण्ड आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव में नियत जानने में आता है – ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदा अपने अमृतरस में तर रखता है, उसके शांत उपशमरस में स्थिर – नियत रखता है। आत्मा नरक में, स्वर्ग में, अज्ञानदशा में, साधकदशा में, निगोद में था तब, अथवा सिद्ध में होगा तब; कभी भी निजस्वभाव को छोड़कर अन्यरूप नहीं होता – ऐसा आत्मा का नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव जो जानता है, उसको पर्याय में भी ऐसा ही नियत होता है कि वह अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करेगा।

जैसे – 'अग्नि में उष्णता न हो' – ऐसा किसी काल में नहीं बनता, वैसे ही आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव अनादि-अनन्त एकरूप नियत स्वभाव है। वह किसी काल में नहीं हो – ऐसा कभी नहीं बनता। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है, वैसे ही आत्मा में ऐसा नियत धर्म है कि वह स्व के शुद्ध चैतन्यस्वभाव से कभी भिन्न नहीं होता। आत्मा का त्रिकालीस्वभाव अनन्त सहजानन्द की मूर्ति है। उस स्वभाव को जाननेवाले ज्ञानी जीव 'अनुकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न हो जायेगा और प्रतिकूल निमित्तों से मेरे स्वभाव का नाश हो जायेगा अथवा उसमें परिवर्तन हो जायेगा' – ऐसा नहीं मानते अर्थात् कैसे भी अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग में भी उनको अनंतानुबंधी राग-द्वेष नहीं होता। वे जानते हैं कि मेरा आत्मा त्रिकाल चैतन्य ज्ञायकपने नियत है। मुझको मेरे ज्ञायकस्वभाव से दूर करने में कोई संयोग समर्थ नहीं है और पर्याय के क्षणिक विकार में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मुझको मेरे स्वभाव से अलग कर सके। जैसे मनुष्य नियम लेते हैं कि हमको अमुक चीज नहीं खानी है, वैसे ही आत्मा के नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीन काल में कभी भी वह अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विभावपने नहीं होता। जो बार-बार परिवर्तित हो, उसको नियम कहते ही नहीं है।

देखो, यहाँ किसकी बात चल रही है ? यहाँ भगवान आत्मा के गीत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गाये जा रहे हैं, अज्ञानी को अनादि से अपने स्वभाव की महिमा नहीं आई है और पर की ही महिमा रही है। लोक में कहीं बहुमूल्य हीरों के विषय में बताया जा रहा हो तो यह जीव उसे रुचिपूर्वक सुनता है; परन्तु आत्मा स्वयं तीन लोक का प्रकाशक चैतन्यहीरा है, जब उसके स्वभाव की महिमा गाते हैं, तब उसकी महिमा सुनने में अज्ञानी को रुचि अथवा उत्साह नहीं आता है। यहाँ तो आत्मा के स्वभाव को समझने की जिसको जिज्ञासा जगी है, उसको आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव त्रिकाल नियत है। पर्याय में जो शुद्धता प्रगट होती है, वह उसके ही आधार पर पर्याय में नई प्रगट हुई है, इसलिए वह अनियत है और शुद्ध स्वभाव सदा ध्रुवपने एक-सा रहता है, इसलिए नियत है।

जो पर्याय जिस समय होनेवाली है, वही होती है – इसप्रकार जो पर्याय नियत है, उसकी यहाँ नियतिनय में चर्चा है, तथा आगे नियत का प्रतिपक्षी अनियत स्वभाव भी कहा गया है, उसमें पर्याय की बात होगी। पर्याय के नियतपने की (क्रमबद्धपर्याय की) जो बात है, उसमें नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नहीं हैं, उसमें तो नियत का एक ही प्रकार है कि सभी पर्यायें नियत ही हैं, कोई भी पर्याय अनियत नहीं है; परन्तु अभी तो आत्मवस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव – ऐसे दोनों धर्म घटित करना हैं; इसलिए यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव जानना चाहिये। पर्याय का क्रम नियत है, परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकरूप रहनेवाला नहीं है। इसलिए यहाँ पर्यायस्वभाव को अनियतस्वभाव कहा है। जब पर्याय का नियतपना (क्रमबद्धपना) कहना हो, तब तो विकार भी नियत कहलाता है। ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत है, विकार नियत है, संयोग और निमित्त भी नियत है; जो होनेवाला है, वही होता है अन्य नहीं; जिस समय जो होनेवाला है, वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय में भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है। वस्तु के नियत-अनियतस्वभाव के निर्णय में भी ध्रुव स्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियतस्वभाव को जानते समय ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानी राग को अनियतधर्म के रूप में जानता है अर्थात् राग में स्वभावबुद्धि नहीं करता। इसप्रकार आत्मा के नियतस्वभाव को जानते ही राग से भेदज्ञान हो जाता है। आत्मा का नियतस्वभाव राग से भिन्न है – ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियतस्वभाव को जानता है, वह तीन काल की पर्यायों के नियतपने को यथार्थ जानता है, इसीप्रकार क्षणिक भावों के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय में राग हुआ, वह आत्मा का स्वयं का अनियतधर्म है अर्थात् कर्म के उदय के कारण राग हुआ – यह बात नहीं है। आत्मा स्वभाव से नियत है और क्षणिकभाव स्वभाव से अनियत है। पूर्व में अनादिकाल से नरक-निगोद इत्यादि पर्यायों में रहने पर भी आत्मा का नियतधर्म आत्मा को अपने शुद्ध स्वभाव से एकरूप स्थिर रखता है। जहाँ-जहाँ भ्रमण किया, वहाँ-वहाँ अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को साथ में रखकर ही भ्रमण किया है। जो ऐसे अन्तरस्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान में अपूर्वधर्म होता है।

नियतिनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतिनय का विषय पर्याय है। यहाँ 'अनियत' का अर्थ अक्रमबद्धता नहीं है, परन्तु आत्मा का पर्यायस्वभाव है। पर्यायस्वभाव आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है, परिवर्तित होनेवाला है। इस अपेक्षा उसको अनियतधर्म समझना चाहिए। पर्याय तो तीनों काल को प्रत्येक समय की जैसी होनी है वैसी नियत ही है, उसमें कहीं अक्रमपना होता हो – ऐसा नहीं है। इसलिए हे जीव ! तू तो अपने ज्ञान की प्रतीति करके ज्ञाता हो जा। 'शरीरादि मेरे हैं' यह बात भूल जा और उन्हें बदलने में अपनी शक्ति नष्ट मत कर। तू तो शरीरादि और रागादि को भी जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को सम्हाल ! यही तेरा नियतस्वभाव है, जिसे तूने आजतक नहीं छोड़ा है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभावी है। जो जीव ऐसे द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करता है, वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राग आत्मा का अनियतस्वभाव है, त्रिकाल रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानकर भी ज्ञानी राग और स्वभाव का भेदज्ञान करके राग के ज्ञाता हो जाते हैं।

इसप्रकार ज्ञानी चाहे द्रव्य के नियतस्वभाव को जाने, चाहे अनियत-स्वभाव को जाने; परन्तु उसके तो ज्ञानस्वभाव की ही सन्मुखता होती है तथा यही धर्म है।

नियतवाद के बहाने अज्ञानी अनेक प्रकार से मिथ्या बातें करते हैं। सर्वज्ञ ने जैसा देखा है, उसीप्रकार नियम से होता है – सर्वज्ञ की ऐसी श्रद्धापूर्वक सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानी गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णयरूप महान पुरुषार्थ की उनको खबर नहीं है। दूसरे स्वच्छन्दी जीव सर्वज्ञ के निर्णयरूप पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ा देते हैं; परन्तु उनको नियतस्वभाव का ज्ञान नहीं है।

गोम्मटसार में जिस नियतवादी को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा गया है, वह तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के सम्यक् पुरुषार्थ बिना, सर्वज्ञ की प्रतीति बिना विकार और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा, वह होगा' परन्तु 'जो नियत होगा, वह होगा' – ऐसा जाना किसने? उसका निर्णय किसमें किया ? यदि कहें कि अपने ज्ञान में, तो कहते हैं कि क्या उसे स्वयं के ज्ञान की प्रतीति है ? ज्ञान की प्रतीति होने पर ऐसा मिथ्या अभिप्राय नहीं होता। ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान की महिमा को जानकर, उसकी ओर सन्मुख होकर, ज्ञेयों के नियतस्वभाव को जो जानता है, वह तो मोक्षमार्गी साधक हो जाता है। गोम्मटसार में उसकी बात नहीं की है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना वस्तु को नियत मानता है, उसको ही गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया हो कि अहो ! सब नियत है, जिस समय जैसा होना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, वैसा ही क्रमबद्ध होता है । मैं तो स्वपरप्रकाशी हूँ, ज्ञाता हूँ – इसप्रकार का निर्णय सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है । इस नियतिनय में द्रव्य-पर्याय सब समाहित हो जाते हैं । अज्ञानी को ऐसा नियतवाद नहीं होता है। जिसने शुभ-अशुभ भावों की रुचि छोड़कर निज ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर रुचिपूर्वक सम्यक पुरुषार्थ प्रगट किया है, उसने ही वास्तव में सम्यक् नियतवाद को माना है – स्वीकार किया है । उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है – मोक्ष का मार्ग है । सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थस्वरूप का कैसा चिन्तवन करता है – इसका वर्णन कार्तिकेयस्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में किया है, जो इसप्रकार है –

जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।। ३२१।।
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।।३२२।।

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है । उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।

आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है, उसका नाम नियतधर्म है । स्वभाववान आत्मा कभी भी निज के मूलस्वभाव को नहीं छोड़ता – ऐसा उसका नियतधर्म है । यह नियतधर्म तो ज्ञानी-अज्ञानी सब जीवों में है, पर नियतनय से ज्ञानी ही उसको जानता है । नियतधर्म समस्त आत्माओं में है, पर नियतनय समस्त आत्माओं में नहीं होता । जो ज्ञानी आत्मा के नियतस्वभाव को जाने, उसको ही नियतनय होता है ।

इसप्रकार नियतवाद के तीन प्रकार हुये –

(१) गोम्मटसार में कहा गया, ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीत मिथ्या-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दृष्टि का नियतवाद।

(२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया ज्ञानी का नियतवाद। - इसमें सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के द्वारा देखे हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करता हुआ जैसा होता है, वैसा पर्याय के नियत को जानता है, उसमें विषमभाव होने नहीं देता अर्थात् यह ज्ञानी का नियतवाद, वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) यह प्रवचनसार में कहा गया नियतस्वभाव। नियतनय से सब जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव में नियत हैं।

उक्त कहे गये तीन प्रकारों में से गोम्मटसार में जिस नियतवाद को गृहीत मिथ्यात्व में गिना है, वह अज्ञानी का नियतवाद है, उसको सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद सर्वज्ञ की श्रद्धासहित और ज्ञातादृष्टास्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थसहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है।

प्रवचनसार में कहे गये नियतनय में सब जीवों के त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानंदस्वभाव की चर्चा है। आत्मा स्वयं के वास्तविक चैतन्यस्वभाव को कभी नहीं छोडता– ऐसा उसका नियतस्वभाव है।

जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने, उसकी विकार के ऊपर बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि विकार आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं, जिससे इस नियतनय में उसको स्वीकार नहीं किया गया है।

प्रवचनसार के नियतधर्म की अपेक्षा आत्मा का विकार आत्मा का अनियतभाव है। दूसरे बोल की अपेक्षा तो विकारभाव भी ' नियत ' है, क्योंकि उस समय में उस ही पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है, वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। इसलिए उसको अनियत कहा गया है; परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि उस समय की पर्याय के क्रम में भंग हुआ है। आत्मा की पर्याय में विकार कभी होता है और कभी नहीं होता है, वह सदा एक समान भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं रहती । इसलिए उसे अनियत कहा है; परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा से तो वह भी नियत ही है ।

वस्तुस्वभाव तीनों काल में व्यवस्थित रूप से परिणमित हो रहा है । उसके तीनों काल की पर्यायों में इतनी नियमितता है कि उसके क्रम को भंग करने में अनंत तीर्थंकर भी समर्थ नहीं है । पर्याय के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करनेवाले जीव की दृष्टि त्रिकाली द्रव्यसन्मुख होती है; इसलिए वह निज का साधक, मोक्षपंथ का साधक है । क्रमरूप पर्याय एकसाथ नहीं होती है, इसलिए उस क्रम की प्रतीति करनेवाले जीव (आत्मा) की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव के ऊपर होती है और उसमें ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है ।

धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मेरे आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा अर्थात् मैं त्रिकाल एकस्वरूप ही रहता हूँ– इस धर्म को जाननेवाले नय का नाम नियतिनय है ।

मेरे आत्मस्वभाव में कभी भी कमी या वृद्धि होती नहीं, विकार के समय में मेरे स्वभाव में कोई कमी नहीं होती और केवलज्ञान होने पर मेरे स्वभाव में कोई वृद्धि नहीं होती । पर्याय विकारी हो या निर्विकारी हो; परन्तु मेरे नियतस्वभाव से मैं सदा एकरूप ही हूँ । इसीप्रकार पर्याय अपेक्षा से अनियतधर्म भी रहता है, उसे भी धर्मी जानता है ।

अग्नि कभी ठंडी होती हो, कभी उष्ण होती हो – ऐसे दो प्रकार उसमें नहीं हैं । अग्नि उष्ण ही होती है – ऐसा एक नियतप्रकार है, इसीप्रकार नियतनय से आत्मा में भी ऐसा नियतस्वभाव है कि वह सदा एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप से ही रहता है ।

जिसप्रकार अग्नि अपनी उष्णता को कभी नहीं छोड़ती, यह उसके स्वभाव का नियम है; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यपने को कभी नहीं छोड़ता ।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभाव के नियम को नियत कहा है । गोम्मटसार का नियतवादी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है, इसलिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ सहित सम्यग्दृष्टि के नियतवाद का वर्णन है।

देखो, गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ (सम्यक्) कहा। जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वह समझना चाहिए।

'ज्याँ ज्याँ जे जे योग्य छे तहाँ समझवुं तेह।
त्याँ त्याँ ते ते आचरे आत्मार्थी जन ऐह॥'

कितने ही जीव तो 'नियत' ऐसा नाम आते ही भड़कते हैं, परन्तु अरे भाई! तू समझ तो सही कि ज्ञानी क्या कहते हैं? जैसा होना नियत है, वैसा ही होता है – ऐसा जानने का बीड़ा किसने उठाया? ज्ञान ने वह बीड़ा उठाया, वह निज के ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति बिना तो वह बीड़ा उठा नहीं सकता, जैसा होना नियत है, वैसा ही होता है – ऐसा बीड़ा उठानेवाले ज्ञान में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ आदि सब समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा गया नियतधर्म समस्त जीवों में है।

(२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कहा गया मिथ्या नियतवाद गृहीत मिथ्यादृष्टि को ही होता है।

इसलिए नियत का अर्थ जहाँ, जैसा, जिसप्रकार से हो, वहाँ उसीप्रकार समझना चाहिए। मात्र 'नियत' शब्द सुनकर आकुलता नहीं करना चाहिए।

आत्मा में नियतधर्म के अलावा और भी अनन्तधर्म हैं। नियत स्वभाव को यथार्थ जानने से आत्मा के अन्य अनंतधर्मों का भी ज्ञान यथार्थ हो जाता है और इसप्रकार प्रमाणज्ञान होकर अनंतधर्मों के पिण्डस्वरूप चैतन्य आत्मा का अनुभव हो जाता है।

पाँच समवायों में जो भवितव्य अथवा 'नियति' आती है, वह सम्यक्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नियतवाद है। उसके साथ दूसरे चार समवाय भी आ जाते हैं। जो होता है, वह सब नियत ही है; परन्तु उस नियत के निर्णय में ज्ञातास्वभाव का पुरुषार्थ है, इसलिए 'पुरुषार्थ' आ गया। उस समय जो निर्मलस्वपर्याय प्रगट हुई, वही 'काल' है। स्वभाव में जो पर्याय थी, वही प्रगट हुई है, इसलिए 'स्वभाव' भी आ गया। और जितने अंशों में निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उतने अंशों में कर्मों का अभाव हुआ, अतः निमित्त भी आ गया।

इसप्रकार एकसमय में पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं। यदि उसमें नियत-अनियतरूप अनेकान्त घटाना हो तो जो भवितव्य है, वह 'नियत' और नियत के अतिरिक्त अन्य चार समवाय 'अनियत' हैं। –इसप्रकार नियत-अनियतरूप अनेकान्त, वह वीतराग भगवान का मार्ग है; परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ आगे-पीछे अथवा 'अनिश्चित' हो – ऐसा नहीं है। आत्मा के नियतधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना चाहिए। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित सम्यक्-नियतवाद में विकारी तथा अविकारी सभी पर्यायें आ जाती है; क्योंकि सभी पर्यायों का क्रम नियत ही है। तथा यहाँ (प्रवचनसार परिशिष्ट में) कहे गये नियतस्वभाव में मात्र जीवस्वभाव ही आता है, उसमें पर्याय नहीं आती।

पर्याय के नियतपने का निर्णय भी द्रव्य के निर्णय बिना नहीं किया जा सकता; क्योंकि पर्याय द्रव्य में से ही आती है। पर्याय का निर्णय करने में भी द्रव्य-सन्मुखतारूप अपूर्व पुरुषार्थ है – ऐसा निर्णय करनेवाले जीव को पर्यायबुद्धि नहीं रहती है। जब वर्तमान पर्याय का ज्ञान अन्तर्मुख होकर द्रव्य में समा जाता है, तब ही सम्यक् नियतपने का निर्णय होता है। पर्याय में जो विकार है, वह एक समय का है तथा वह मेरे त्रिकालस्वभाव में नहीं है – इसप्रकार दोनों धर्मों से आत्मा को जाने तो पर्याय विकार की तरफ से हटकर चैतन्यस्वभाव की तरफ झुक जाती है और सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियतस्वभाव है, उसकी दृष्टि करे अथवा पर्याय के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नियतपने का यथार्थ निर्णय करे अथवा पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एकसाथ हैं – ऐसा समझे तो मिथ्याबुद्धि का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, स्वभावसन्मुखता बढ़ती है। जिसने नियत का यथार्थ निर्णय किया, उसको आत्मा के ज्ञानस्वभाव का और केवली भगवान का भी निर्णय हो जाता है। नियत का निर्णय कहो, स्वभाव का निर्णय कहो, केवलज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो अथवा सम्यक्पुरुषार्थ कहो – सबका एक ही अर्थ है।

नियत के साथ अन्य पुरुषार्थादि चारों समवाय हैं, उनको नियत में नहीं गिना, इसलिए वे अनियत कहलाते हैं। – इसप्रकार नियत और अनियत – ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा द्रव्य का एकरूप स्वभाव, वह नियतधर्म है और पर्याय में विविधता होती है, वह अनियतधर्म है – इसप्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एकसाथ रहते हैं। उसमें अनियत से आत्मा के द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया, अब अनियतिनय से आगे पर्याय की बात करेगें।

इसप्रकार यहाँ २६वें नियतिनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अनियतिनय

अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभाव-भासि।

जिसकी उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है, ऐसे पानी की भाँति आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियत स्वभाव स्वरूप भासित होता है।

नियतिनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया। अब अनियतिनय से पर्यायस्वभाव की बात करते हैं।

आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है। जैसे पानी में उष्णता नियमित नहीं है, परन्तु अग्नि के निमित्त से है। इसीप्रकार अनियतिनय से आत्मा रागादि अनियतस्वभावरूप से भासित होता है।

पानी का नियत(नियमित) स्वभाव शीतल है, अतः वह नियत है और उष्णता उसके शीतलस्वभाव के विपरीत है, वह पानी में नियमित नहीं रहती; अतः अनियत है। इसीप्रकार आत्मा की अवस्था में (विकारी पर्याय में) रागादि विकारीभाव होते हैं, वे नियमित रहनेवाले नहीं हैं, परन्तु क्षणिक हैं; इसलिए अनियत हैं – ऐसा अनियतपना आत्मा का एक धर्म है। यहाँ अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि 'जो कार्य होना तो नहीं था और हो गया।' रागादि को अनियत कहा, इसलिए रागादि पर्यायें क्रमबद्ध नहीं होती – ऐसा नहीं है। जो रागादिभाव हुए हैं, वे कहीं पर्याय के क्रम को तोड़कर नहीं हुए है। पर्याय के क्रम की अपेक्षा तो रागादिभाव भी अपने नियत क्रम में ही हुए हैं। परन्तु रागादि अशुद्ध एवं अनित्यभाव हैं। वे आत्मा के नियमित स्वभाव नहीं है, इसलिए इन्हें अनियतस्वभाव कहा है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गोम्मटसार में नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, वहाँ भिन्न अपेक्षा है और यहाँ भिन्न अपेक्षा है। वहाँ जिसे मिथ्यादृष्टि कहा है, वह नियतवाद के नाम पर स्वच्छन्दता का पोषण करता है। वह अपने नियतस्वभाव को, अपने ज्ञातास्वभाव को नहीं जानता, सर्वज्ञ परमात्मा को नहीं मानता अर्थात् होनहार को भी नहीं मानता, नियत को नहीं मानता, स्वभाविक श्रद्धा-ज्ञान के पुरुषार्थ को नहीं स्वीकारता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को नहीं जानता, इसीप्रकार निमित्त-अपेक्षा कितने व कौन-कौन कर्मों का अभाव हुआ। – यह नहीं जानता।

परन्तु ज्ञानी नियत के साथ-साथ सर्वज्ञ परमात्मा का भी निर्णय करता है और 'मैं ज्ञातास्वभावी हूँ' – ऐसा स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है अर्थात् नियत के निर्णय में ज्ञानी के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान का पुरुषार्थ भी आ जाता है। तथा इसीसमय निर्मलपर्यायरूप स्वकाल तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव भी आ जाता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के एक साथ पांचों समवाय आ जाते हैं। नियत सम्बन्धी निर्णय में ज्ञानी तथा अज्ञानी में जमीन-आसमान के समान अन्तर है। यह बात अज्ञानी नहीं समझ सकता। अतः भ्रम से दोनों में समानता मानता है। परन्तु दोनों में आकाश-पाताल के बराबर अन्तर है।

'मैं ज्ञायक हूँ' जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की ऐसी प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्या-अभिप्राय का सेवन कर रहा है, वह नियत वस्तुस्वभाव की यह बात सुनकर भड़क उठता है। कहता है कि अरे ! क्या सब नियत है, हमारे पुरुषार्थ से कोई फेरफार नहीं होता ? परन्तु भाई ज्ञातास्वभाव के आश्रयपूर्वक ज्ञाता न रहकर पर में फेरफार करने का अभिप्राय ही तो मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है अर्थात् निश्चित नहीं है। उसमें हमें हमारी मरजी के हिसाब से फेरफार कर लेना चाहिए; परन्तु उसकी यह मान्यता झूठी है, क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाये । यहाँ आत्मा का जो अनियतधर्म बताया जा रहा है, वह इससे जुदा है । इसमें पर्याय के क्रम में फेरफार करने की बात ही नहीं है ।

अज्ञानी जानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी इच्छानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में फेरफार किया जा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है । 'किसी भी पर्याय का क्रम बदलता नहीं है ' – यह नियम अवाधित रखकर ही अनियतनय की बात है ।

द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्ध दिखाई देता है और पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अशुद्ध दिखाई देता है । अशुद्धपना आत्मा का अनियतस्वभाव है । क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा अपनी पर्याय में धारण रखता है ।

आत्मा एकांत शुद्ध है, आत्मा की पर्याय में भी विभाव नहीं है – ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा के अनियतधर्म को जाना ही नहीं है ।

आत्मा की पर्याय में जो विकार है, वह पर के कारण होता है – ऐसा माननेवाले ने भी आत्मा के अनित्यधर्म को नहीं जाना है ।

उस पर्याय में जो क्षणिक विकार है, उसको ही आत्मा का शाश्वत स्वभाव माननेवाले ने भी आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जाना है ।

पर्याय में विकार है, वह स्वयं के कारण है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, पर क्षणिक अशुद्धभाव है, – जो ऐसा जानता है, उसने ही आत्मा के अनियतधर्म को यथार्थपने स्वीकार किया है ।

'समस्त जीव कर्म के वश हैं अर्थात् कर्म ही जीव को विकार कराता है – ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु रागादि विकारीभाव जड़कर्मों के धर्म नहीं हैं, आत्मा की ही अवस्था में होते हैं अर्थात् अनियतधर्म आत्मा का ही है । तत्त्वार्थसूत्र में भी औदयिकभाव को आत्मा का स्वतत्त्व कहा है । रागादिभाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कोई कर्म के कारण नहीं है ।

आत्मा की पर्याय में विकार होनेवाला नहीं था, लेकिन बहुत कर्मों का एकसाथ उदय आया, जिससे विकार हुआ । इसलिए नियत का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनियत हो गया – ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है, वैसा पर्याय में नहीं है, इसकारण पर्याय को अनियत कहा गया है । चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है । उसकी अवस्थाओं में जो विकार और संसार है, वह अनियतस्वभाव में है ।

त्रिकाल नित्य रहनेवाले स्वभाव की महिमा करके आत्मसन्मुख होते ही पर्याय में से अनियत संसार का अभाव हो जाता है । इसलिए हे जीव! ज्ञायक आनन्दकंद स्वभाव से मैं नियत हूँ और अवस्था का विकार वह अनियत है – ऐसी प्रतीति करके स्वभावसन्मुख हो । विकार आत्मा में शाश्वत रहनेवाला भाव नहीं है । इसलिए पर्याय में विकार कितना भी हो, तू उससे बैचेन नहीं हो; पर उस विकार की तुच्छता जान और शाश्वत शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा पूर्वक उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें लीन हो । ऐसा करने से जैसा शाश्वत शुद्ध स्वभाव है, वैसी शुद्धता पर्याय में भी प्रकट हो जाती है और विकार का अभाव हो जाता है। शुद्ध आत्मस्वभाव के आश्रय से अनियत विकार का अभाव हो जाता है। परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नहीं होता । रागादि विकार क्षणिक, अनियत, नाशवंत है; वह शरणभूत नहीं हो सकता और द्रव्य का नियतस्वभाव सदा शुद्ध है, उसकी शरण से जीव को शांति और सुख होता है । इसप्रकार नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुवस्वभाव का आश्रय करना ही एकमात्र प्रयोजन है ।

भाई ! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्ध चैतन्यमय है, वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है, वह अनियत है; इसलिए वह टल जाता है । विकार अपना धर्म होते हुए भी अनियत है, अतः नष्ट हो जाता है । अग्नि की उष्णता समाप्त नहीं होती है, क्योंकि अग्नि की उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है; और पानी की उष्णता समाप्त हो जाती है, क्योंकि पानी की उष्णता पानी का अनियतस्वभाव है । इसीप्रकार आत्मा का शुद्ध चैतन्यमय द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नहीं होता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और पर्याय का विकार स्वभाव में अनियत है; अतः वह नाश हो जाता है। इसलिए पर्याय में एक समय का विकार देखकर तू बैचेन–दुखी मत हो; क्योंकि संपूर्ण द्रव्य विकारपने नहीं हुआ है। द्रव्य तो शुद्धस्वभावरूप ही प्रर्वत रहा है। उसकी दृष्टि करो तो विकार टल जायेगा और शुद्धता प्रकट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है, इसलिए उसका आश्रय छोड़ो और द्रव्य का स्वभाव नियत है, इसलिए उसका आश्रय करो।

अहो ! मैं सदा एकरूप परमपारिणामिकभाव से नियत हूँ – ऐसा जानकर स्वाश्रय करते ही सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रकट हो जाते हैं।

'आत्मा सदा चैतन्यप्रभुता से संपन्न है' – ऐसा नियतनय देखता है और पर्याय में जो पामरता है, उसको अनियतनय देखता है। जो इन दोनों धर्मों को जानता है, उसका बल स्वभाव की प्रभुता की ओर झुके बिना नहीं रहता अर्थात् द्रव्य की प्रभुता के जोर से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

शंका – द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है तो पर्याय में विकार कहाँ से आया ? क्या कर्म के कारण आया ?

समाधान – नहीं, विकार भी आत्मा का ही अनियतधर्म है। आत्मा की पर्याय में उस जाति की शक्ति है। अग्नि के संयोग के समय पानी गर्म हुआ, वह अग्नि के कारण नहीं हुआ; परन्तु पानी में ही इसप्रकार की शक्ति है कि वह अग्नि के सम्पर्क में आने पर गर्म हो जाता है और यह उष्णता पानी का अनियतधर्म है। इसीप्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है, वह आत्मा का अनियतधर्म है।

जो आत्मा में से एक धर्म को भी निकाल दिया जाये अथवा किसी धर्म को पर के कारण माना जाये तो सम्पूर्ण आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती। जिसप्रकार कोई सौ वर्ष की उम्रवाला मनुष्य हो, उसके सौ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो वह मनुष्य सौ वर्ष का अखंड नहीं रहता, परन्तु उसके दो खंड हो जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनंतधर्मों का अखण्डपिण्ड है, उसमें से एक भी अंश को निकाल देने पर अखण्ड वस्तु ही सिद्ध नहीं होती।

इस नय से जिस धर्म का वर्णन किया है, वह धर्म आत्मा का है; इसका अर्थ है कि नयज्ञान स्व की ओर देखता है। पर की ओर देखने पर आत्मा के धर्मों का यथार्थज्ञान नहीं होता; परन्तु आत्मसन्मुख होने पर ही आत्मा के धर्मों का यथार्थज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कंपन है, वह आत्मा के अनियतधर्म के कारण है, अघातिकर्मों के कारण नहीं। योग का कम्पन तो आत्मा के स्वयं का औदयिकभाव है और औदयिकभाव स्वतत्त्व है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण है। पर्याय का धर्म भी आत्मा का है, वह कहीं पर के आधार से नहीं रहता। पर्याय में जो विकार होता है, उस विकाररूप कौन भासित होता है ? इसका उत्तर है– अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकारपने भासित होता है।

वस्तु के अनंतधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। ये धर्म सम्पूर्ण आत्मा की प्रतीति कराते हैं तथा धर्मी – आत्मा की प्रतीति बिना धर्म की प्रतीति भी नहीं होती। भाई ! यह तो वीतरागदेव के गूढ़ मंत्र है।

प्रमाणज्ञान के लिए द्रव्य और पर्याय दोनों की बात एकसाथ की है। नियतिनय आत्मा के नियतस्वभाव को देखता है और उसीसमय अनियतिनय आत्मा के अनियतस्वभाव को देखता है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा है ही नहीं – ऐसा नहीं है; भूल और विकार भी आत्मा का अनियतस्वभाव है और आत्मा का शाश्वतस्वभाव भूलरहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा परिणमन होता है, ज्ञान वैसा नहीं जाने तो ज्ञान की दिव्यता और प्रमाणिकता कैसी ? ज्ञान आत्मा के विकाररहित त्रिकालीस्वभाव को जानता है और पर्याय के क्षणिक विकार को भी जानता है; क्योंकि स्वभाव और विकार दोनों को जाने बिना विकार में से अपनत्व छूटता नहीं है और स्वभाव में अपनत्व होता नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, धर्म का आरम्भ होता नहीं है।

द्रव्यपने से आत्मा का सदा एकरूप नियतस्वभाव है और उसकी पर्याय में हीनाधिकता अनेक प्रकार की होती है; जिससे अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार के विकार हैं; उसे जो न जाने तो ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिसप्रकार अग्नि में उष्णता नियत है, इसलिए सदाकाल रहती है और पानी में उष्णता अनियत है, इसलिए कभी होती है, कभी नहीं होती है। पानी का शाश्वतस्वरूप शीतल होने से उसकी वर्तमान पर्याय में जो उष्णता है, वह उसके निजी अनियतस्वभाव के कारण है, पर के कारण नहीं। उष्ण होने की उसमें क्षणिक ताकत (शक्ति) है। जो पानी के अनियत उष्णस्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त शीतल मानकर पीने लगे, तब तो उसका मुंह जलेगा ही। उसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा उपशमरस का समुद्र, नियत, स्वभाव से शुद्ध, एकरूप है और उसकी पर्याय में जो रागादि है, वह उसका एकसमयवर्ती अनियतस्वभाव है। 'स्वयं की पर्याय में रागादि हैं' – ऐसा जो न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध ही माने तो उसको शुद्धता का अनुभव नहीं होता, अकेले रागादि की आकुलता का ही अनुभव होता है।

आत्मा की पर्याय में जो क्षणिक विकार होता है, वह उसका अनियतस्वभाव है और वह अनियतनय का विषय है। वह आत्मा का शाश्वतस्वभाव नहीं है। यदि विकार एकसमय की पर्याय में नहीं होता तो उसको छोड़कर स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न भी नहीं रहता अर्थात् मोक्षमार्ग ही नहीं रहता, इसलिए द्रव्य और पर्याय दोनों का यथार्थज्ञान होने पर ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है – ऐसा जानना चाहिए।

वस्तु में नियत-अनियत दोनों धर्म हैं। वस्तु का जो सदा एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, वह नियत है और वस्तु का जो क्षणिकस्वभाव है, वह अनियत है; परन्तु क्रमबद्धपर्याय में जो पर्याय होनेवाली होती है, उस होनेवाली पर्याय के बदले कोई अन्य पर्याय होकर अनियत हो जाय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

– ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। जैसे द्रव्य नियत है, जैसे जड़-चेतन वगैरह गुण नियत हैं; उसीप्रकार उसकी प्रतिसमय की पर्याय भी नियत है। पर्याय का क्रम कोई अनियत नहीं है। जिससमय जो पर्याय होना नियत (नक्की) है। उससमय वही पर्याय नियम से होगी, सर्वज्ञ उसको जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नहीं होता और वस्तु की पर्यायों का क्रम भी नहीं टूटता।

इस निर्णय में वस्तुस्वभाव का निर्णय आ जाता है, पुरुषार्थ का झुकाव पर से हटकर स्वयं के ज्ञानस्वभाव की ओर झुक जाता है। यह अन्तरदृष्टि की बात है। कई लोग शास्त्र को तो पढ़ लेते हैं, परन्तु गुरुभाव के अभाव में अन्तरदृष्टि का यह रहस्य नहीं समझ पाते। कई तो ऐसा कहते हैं 'द्रव्यों की संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत है तथा उनका प्रत्येक क्षण परिणमन भी नियत है; परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा – यह बात नियत नहीं है, जैसे संयोग आयेंगे वैसी पर्याय होगी। देखो, ऐसा कहने वालों को वस्तुस्वरूप की कोई खबर नहीं और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं। यह बात इससे पूर्व कई बार विस्तार से कही जा चुकी है।

द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप है और उसकी पर्याय में जो विकार होता है, वह अनियतस्वभाव है। विकार शाश्वत एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिए उसको अनियत कहा गया है। नियतधर्म से देखें तो आत्मा सदा एकरूप शुद्ध ही है और अनियतधर्म से देखें तो आत्मा विकारवाला भी है। जो आत्मा में अनियतपने से विकार होने का धर्म न हो तो अनंतधर्म मिलकर भी उसको विकार नहीं करा सकते हैं।

शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में विकार हुआ – इसलिए उसको अनियत कहा; परन्तु वह विकार होनेवाला नहीं था और हो गया – ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ नियत के रूप में त्रिकालीस्वभाव लिया गया है और अनियत के रूप में पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली गई है।

इसप्रकार अनियतिनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

चैन्तय ही परमतत्त्व

(मालिनी छन्द)

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्,
चिति तदपि किलाभूतकल्पमग्नौ हुतस्य।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्,
अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित्॥

अर्थ : इसप्रकार (इस परमागम में) अमन्दरूप से (बलपूर्वक, जोर-शोर से) जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गई वस्तु के समान (स्वाहा) हो गया है। (अग्नि में होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो ! इसीप्रकार अनन्त महात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाये, तथापि मानो उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनन्त महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो, इसप्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है) उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता - उग्रता से अनुभव करो (अर्थात् उस चित् स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज अत्यन्त अनुभवो) क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही परम (उत्तम) तत्त्व है।

आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार टीका श्लोक - २२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

स्वभावनय

स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि।

स्वभावनय से जिसकी किसी के द्वारा नोंक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटे की भाँति आत्मद्रव्य संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है।

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है। जिसप्रकार तीक्ष्णकाँटा स्वभाव से ही नुकीला होता है, उसकी नोंक किसी से निकलवाना नहीं पड़ती; उसीप्रकार आत्मा का जो एकरूप स्वभाव है, उसमें संस्कार निरुपयोगी है अर्थात् स्वभावनय से देखने पर आत्मा का जो स्वभाव है, उसमें किसी के संस्कार नहीं पड़ते। संस्कार क्षणिकपर्याय में काम कर सकते हैं, ध्रुवस्वभाव एकरूप है, उसमें संस्कार क्या करे ? जैसे – भव्यजीव का स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करने की शक्तिरूप है, उसने अनादि से पर्याय में इच्छानुसार अधर्म किया, महाकषाय और पापभाव किये; लेकिन उससे उसका भव्यस्वभाव परिवर्तित नहीं हुआ। जो पर्यायगत अनादि का संस्कार है, वह स्वभाव में नहीं पड़ता। इसप्रकार स्वभाव में संस्कार निरर्थक है।

पर्याय में अनादि से महाकषाय, हिंसादि पाप के संस्कार हैं; परन्तु वे संस्कार ध्रुवस्वभाव नहीं कर सकता अर्थात् संस्कार के कारण जीव का भव्यस्वभाव पलटकर कभी भी अभव्य नहीं हो सकता। तीव्र पाप के कारण अभव्य हो जाय अथवा व्रतादि शुभभाव करने से भव्य हो जाय– ऐसा कभी नहीं होता। इसप्रकार जिसका जो स्वभाव है, उसका वह स्वभाव कभी नहीं पलटता; इसलिए स्वभाव में संस्कार काम नहीं करते – यह बात सिद्ध हुई।

'अनादि से निगोद में भ्रमण किया और पर्याय में बहुत अशुद्धता की,

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए यह संस्कार आत्मा में अनादि से पड़ गया है; अतः अब कभी अशुद्धता का अभाव होकर शुद्धता प्रगट हो ही नहीं सकती' – ऐसा नहीं है; क्योंकि पर्याय का संस्कार द्रव्यस्वभाव में नहीं पड़ा है। पर्याय में अनादि से अशुद्धता होने पर भी द्रव्यस्वभाव ज्यों का त्यों है, उसका अवलंबन करते ही पर्याय में से अशुद्धता का संस्कार छूटकर शुद्धता का संस्कार प्रगट होता है।

आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि क्षणिकपर्याय के संस्कार को वह निरर्थक कर देता है, पर्याय के विकार को स्वभाव में प्रवेश ही नहीं करने देता। इस जीव ने अनादि से पर्याय में मनचाहे विकारीभाव किये, परन्तु वे विकारीभाव ध्रुव-चैतन्यस्वभाव को बदलने में समर्थ नहीं हैं। 'ध्रुवस्वभाव को अशुद्ध कर दें'– ऐसी उनमें शक्ति नहीं। कोई जीव बहुत पाप करे, इसलिए चैतन्यस्वभाव मिटकर के जड़ हो जाय – ऐसा कभी नहीं बनता; क्योंकि आत्मा का स्वभाव संस्कार को निरर्थक करनेवाला है।

जहाँ ऐसे स्वभाव का भान हुआ, वहाँ पर्याय में भी अधर्म के संस्कार छूटकर अपूर्व धर्म के संस्कार प्रगट हो जाते हैं। अहो ! मेरा आत्मा पर्यायगत विकार के संस्कार को निरर्थक कर दे – ऐसे स्वभाववाला है। पर्याय का संस्कार मेरे स्वभाव को बिगाड़ नहीं सकता, क्योंकि मेरे स्वभाव में विकार ने प्रवेश ही नहीं किया है। जहाँ स्वभाव की खबर हुई, वहाँ पूर्व में जितने अधर्मभाव किये थे, उन सबके संस्कार निरर्थक हो गये।

जिसप्रकार तीक्ष्णकाँटा स्वभाव से ही नुकीला है, किसी ने संस्कार करके – प्रयत्न करके उसकी नोंक नहीं निकाली है; उसीप्रकार भगवान आत्मा स्वभाव से ही अनादि-अनंत टंकोत्कीर्ण ज्ञानमूर्ति है, उसमें किसी के संस्कार नहीं पड़ते। हे भाई ! क्षणिक विकार के कारण तू चिन्ता में मत पड़; बल्कि आत्मस्वभाव को देख, तेरा स्वभाव त्रिकाल सिद्धस्वरूपी भगवान है। जहाँ पर्याय से अन्दर स्वभाव में देखा, वहाँ पूर्व के संस्कार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को निरर्थक जाना और विकार के साथ की एकताबुद्धि छूट गई।

पर्याय में विकार होता है, उससे आत्मा का स्वभाव समाप्त नहीं हो जाता; परन्तु यह सुनकर कोई ऐसा कहे कि पर्याय का विकार स्वभाव में कुछ हानि नहीं करता तो इच्छानुसार कैसे भी विकार करने में क्या बाधा है ? लेकिन इसप्रकार कहनेवाले की दृष्टि एकदम विपरीत है, उसने कथन की अपेक्षा को समझा ही नहीं है। यदि उसको यह बात समझ में आ जाये तो उसको स्वभावदृष्टि हो जाये अर्थात् उस पर्याय में तो तीव्र विकार हो ही नहीं। 'पर्याय का विकार स्वभाव में हानि नहीं करता' – ऐसा कहनेवाले की दृष्टि किधर हैं ? क्योंकि जिसकी दृष्टि स्वभाव की ओर अन्तर्मुख हुई, उसको तो विकार की भावना ही नहीं होती।

यहाँ तो कहते हैं कि हे भाई ! पूर्व में विकार हो गया, इसलिए तू ऐसी चिन्ता मत कर कि अरे रे ! मैंने बहुत पाप किये हैं, अब मेरा क्या होगा? क्योंकि उस विकार ने तेरे सम्पूर्ण आत्मस्वभाव को विकारी नहीं किया है। अपने ध्रुव-चैतन्यस्वभाव में पाप हुए ही नहीं हैं, मात्र वे पाप तो एकसमय की पर्याय में हुये हैं और उस एक समय की पर्याय के संस्कार को स्वभाव निरर्थक कर देता है। इसलिए उस स्वभाव के सामने देख अर्थात् उसी में स्थिर हो जा।

जो जीव अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला है, उसको पूर्व के अधर्मभाव रोक नहीं सकते हैं। ' जिसमें से परमात्मदशा प्रगट हो ' – ऐसा स्वभाव आत्मा में त्रिकाल है। चैतन्यमूर्ति चिदानन्द भगवान अनादि से ज्यों का त्यों है। उसके स्वभाव को नया नहीं बनाना है। जिसप्रकार मोर स्वभाव से ही रंग-बिरंगा है, उसे रंग-बिरंगा करना नहीं पड़ता है; उसीप्रकार आत्मा में परमात्मदशा प्रगट होने का स्वभाव स्वयंसिद्ध है, वह किसी के द्वारा नया नहीं बनाया जाता है। तथा इसीप्रकार कोई गलत संस्कार से उस स्वभाव को अन्यथा नहीं कर सकता है।

ऐसे स्वभाव के आश्रय से सम्यक् पुरुषार्थ करते ही पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व सिद्धपर्याय प्रगट हो जाती है और स्वभाव में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई कमी नहीं आती है। स्वभाव तो स्वभावनय से त्रिकाल एकरूप ही रहता है। 'जब किसी जीव की पर्याय में अल्प-सामर्थ्य प्रगट हुई, तब उसकी शक्ति में – स्वभाव में बहुत-सामर्थ्य शेष रही और बाद में जब पर्याय में बहुत सामर्थ्य प्रगट हो गई तब शक्ति में – स्वभाव में कम सामर्थ्य शेष रही' – ऐसा कभी बनता होगा ? नही; पर्याय में अल्प निर्मलता हो या अधिक, परन्तु शक्तिरूप स्वभाव तो वैसा का वैसा परिपूर्ण ही रहता है। उसमें कोई हीनाधिकता नहीं होती।

'इसप्रकार संस्कार को निरर्थक कर दे' – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। निगोदपर्याय, सिद्धपर्याय, अल्पज्ञानपर्याय और केवलज्ञानपर्याय में से कोई भी पर्याय हो – ध्रुवस्वभाव ज्यों का त्यों सदैव एकरूप ही विद्यमान रहता है; उस स्वभाव का नाश नहीं होता, उसमें रंचमात्र भी हानि नहीं होती। क्योंकि स्वभाव में पर्यायगत् संस्कारों ने प्रवेश ही नहीं किया है। जहाँ दृष्टि पलटकर स्वभाव सन्मुख की, वहाँ पाप का संस्कार नहीं रहता। पर्याय की ओर से दृष्टि हटाकर स्वभाव की ओर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। ध्रुवस्वभाव की मुख्य विशेषता यह है कि वह स्वभाव समस्त विकार के संस्कार को निरर्थक कर देता है।

इसलिए हे भाई ! तू अपने ध्रुवस्वभाव की रुचि कर और उसका अवलंबन कर ! 'मैं सिद्धपरमात्मा जैसा नित्यानंद अशरीरी शुद्ध चैतन्यमूर्ति सदा एकरूप हूँ, मेरे स्वभाव में कुछ भी कमी नही है' – ऐसे सहज एकरूप स्वभाव को जानकर उसका अवलंबन करनेवाले को ही वास्तविक स्वभावनय होता है।

– इसप्रकार आत्मा का वर्णन करनेवाले २८वें स्वभावनय का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२९

अस्वभावनय

अस्वाभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्य-कारि।

अस्वभावनय से, जिसकी नोंक लुहार द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाण की भांति आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है।

जिसप्रकार तीर के स्वभाव से धार नहीं होती, पर लुहार द्वारा संस्कार करके धार निकाली जाती है; उसीप्रकार अस्वभावनय से आत्मा को अच्छे संस्कारों से संस्कारित किया जा सकता है अर्थात् उसकी पर्याय में सम्यग्ज्ञान प्रगट किया जा सकता है। ' मिथ्यात्व अनादि से है ', इसलिए उसको छोड़कर अब सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता – ऐसा नहीं है; पर प्रबल रुचि के संस्कार से अनादि के अज्ञान को छोड़कर एकक्षण में सम्यग्ज्ञान हो सकता है। अनादिकाल के खोटे भावों के संस्कार को छोड़कर वर्तमान पर्याय में अच्छे भाव हो सकते हैं। इसप्रकार आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है।

आत्मा में पूर्णानंद परमात्मस्वभाव भरा है, परन्तु इस जीव ने उस स्वभाव को पर्याय में कभी स्वीकार नहीं किया और स्वयं को तुच्छ–पामर मान रखा है; इस खोटी मान्यता को छोड़कर पूर्णानंदस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से पर्याय में परमात्मपने का संस्कार एक क्षण में हो सकता है। अत: हे भाई ! 'मैं पामर हूँ, मैं पापी हूँ ,– ऐसी तुच्छ मान्यता के संस्कार को छोड़ और 'मेरा आत्मा ही परमात्मा है' – ऐसे अपने स्वभावसामर्थ्य की श्रद्धा कर; जिससे स्वभाव के अपूर्व संस्कार प्रगट हों।

लोग कहते हैं कि अच्छे संस्कार डालना, परन्तु अच्छे संस्कार क्या हैं तथा वे किसप्रकार डाले जाते हैं ? उन्हें इसकी सच्ची खबर नहीं है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत: अच्छे संस्कार किसतरह डालें, यहाँ यह बता रहे हैं।

'मैं रागी हूँ, जड़ का कर्ता हूँ' – ऐसे गलत संस्कारों से रहित 'मैं तो रागरहित चिदानंदस्वभावी हूँ , – इसप्रकार अन्तर्मुख होकर अपनी पर्याय में स्वभाव के संस्कार डालना ही सच्चे संस्कार डालना है।

जिसप्रकार तीर में नवीन धार निकलती है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में नवीन संस्कार पड़ते हैं; अत: 'खोटे संस्कार अनादिकाल के हैं, वे अब मुझसे कैसे टलेंगे ?' – ऐसा सोचकर हताश मत हो; परन्तु ' मैं मेरे स्वभाव की जागृति द्वारा अनादि के विपरीत संस्कार को एकक्षण में दूर करके अपूर्व संस्कार प्रगट कर सकता हूँ – मेरे में ऐसी सामर्थ्य है ' – ऐसा विचार कर और ऐसी सामर्थ्य की प्रतीति करके प्रसन्न हो।

यहाँ तीर का दृष्टान्त सिद्धान्त समझने के लिए है। वह तीर तो जड़ है, इसलिए दृष्टान्त में निमित्त से ऐसा कहा कि लुहार द्वारा उसकी धार निकाली जाती है; परन्तु सिद्धान्त में तो चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं ही स्वयं का लुहार है अर्थात् स्वयं की पर्याय में स्वभाव की स्वीकृति पूर्वक स्वयं ही पर्याय को संस्कारित करता है। कोई दूसरा आत्मा की पर्याय को संस्कारित करनेवाला नहीं है – ऐसा समझना।

'मैं पामर हूँ, मेरा पर के बिना एकक्षण भी नहीं चलता है' – इसप्रकार की उल्टी मान्यता, उल्टे संस्कार के स्थान पर 'मैं स्वयं चिदानंद भगवान आत्मा हूँ, मेरा त्रिकाल पर के बिना ही चलता रहा है और चलता रहेगा; परन्तु मेरी परमात्मशक्ति के बिना मेरा एकक्षण भी नहीं चल सकता है।' इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक स्वसन्मुख होकर यह आत्मा स्वयं में स्वयं ही सबल संस्कार डाल सकता है। यदि आत्मा सबल हो जाय तो अनन्तकाल का पाप एकक्षण में नष्ट हो जाता है और धर्म का अपूर्व संस्कार प्रगट होता है, इसीलिए कहा गया है कि आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है।

आत्मा में एकसाथ अनंतधर्म रहते हैं, उनमें स्वभावनय से देखने पर आत्मा सदा एकरूप ही रहता है, उसके स्वभाव में कोई नया संस्कार नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पड़ता है; पर अस्वभावनय से देखने पर आत्मा की अवस्था में प्रतिसमय प्रतिक्षण नये संस्कार पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि पर्याय में पुरुषार्थ द्वारा उल्टे संस्कारों को पलट कर सही संस्कार डाले जा सकते हैं।

द्रव्यस्वभाव में कुछ फेरफार नहीं होता; पर पर्याय में पुरुषार्थ द्वारा विपरीत संस्कार पलटकर सही संस्कार हो सकते हैं। 'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो।' – ऐसा स्वीकार करने से पर्याय में शुद्ध संस्कार पड़ते हैं। जिसप्रकार एकसमय की पर्याय का पाप त्रिकाली स्वभाव में नहीं आता; उसीप्रकार एकसमय की पूर्वपर्याय का पाप दूसरे समय की पर्याय में भी नहीं आता; अतः जिसने पहले समय में पाप किया है, वह दूसरे समय में सुधर ही नहीं सकता – ऐसा नहीं है। दूसरे समय की पर्याय में स्वयं जैसा संस्कार डालना चाहे, वैसा डाल सकता है।

स्वयं की प्रतिसमय की पर्याय का संस्कार करने में आत्मा स्वतंत्र है। संसार तो एक समय मात्र का है, परन्तु अज्ञानी ने विपरीत संस्कार से उसको बड़ा रूप दे दिया है; परन्तु जो अन्तरस्वभाव की ओर झुके, तो स्वभाव के संस्कार डलें और संसार के संस्कार टलें। त्रिकाली द्रव्य में संस्कार का असर नहीं है, पर पर्याय में स्वयं जैसे संस्कार डाले वैसे डलते हैं। भव्यस्वभाव पलटकर अभव्य नहीं होता, जीवस्वभाव पलटकर अजीव नहीं होता; परन्तु अज्ञान पलटकर सम्यग्ज्ञान होता है, संसार पलटकर मोक्ष होता है; – इसप्रकार पर्याय में संस्कार पड़ते हैं।

यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि पर्याय के संस्कारों में परिवर्तन किया जा सकता है, उसका अर्थ यह नहीं समझना कि पर्याय के क्रम को पलटकर अन्यथा किया जा सकता है। पर्यायों का सुनिश्चित क्रम तो कभी टूटता ही नहीं है, किन्तु क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले के ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होनेपर, पर्याय में नया वीतरागी संस्कार आरंभ होता है, वहाँ भी पर्यायों का उसीप्रकार का क्रम सुनिश्चित था, परन्तु पर्याय में पहले निर्मलता नहीं थी और बाद में ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होने पर प्रगट हुई; – इस अपेक्षा कहा गया कि पर्याय को संस्कारित किया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गया, पर इसमें पर्यायों के क्रम फिरने की कोई बात नहीं है।

एक जीव अनादि से निगोद दशा में था और निगोद में से निकलकर मनुष्य हुआ, आठ वर्ष में उसने केवलज्ञान प्राप्त किया, यहाँ उस जीव का द्रव्यस्वभाव तो वैसा का वैसा एकरूप है; परन्तु उस स्वभाव के आश्रय से पर्याय में नूतन संस्कार पड़ते हैं। द्रव्यस्वभाव तो उसका वही है, परन्तु पर्याय में संस्कार पलट गए हैं। जैसे केवलज्ञान दशा में अपूर्व संस्कार पड़े, वैसे संस्कार निगोद दशा में नहीं थे।

जिसको जैसे संस्कार होते हैं, उसको वैसे ही विचार आते हैं। जिसे स्वभाव के संस्कार प्रबल होते हैं, उसे विचार भी स्वभाव के आते हैं, उसे स्वप्न भी ऐसे ही आते हैं कि 'मैं विमान में बैठकर सिद्धलोक जा रहा हूँ, मेरे असंख्यप्रदेश इस देह से भिन्न हो गये हैं, मैं अल्पकाल में भगवान होऊँगा' और स्वभाव की तीव्र विराधना करने से जिसके खोटे संस्कार होते हैं, उसको आभास भी वैसा ही होता है कि 'मैं मरकर तिर्यंच में बंदर हो गया और मुझे कोई खींच रहा है।' – इसप्रकार जैसे संस्कार डाले, वैसे विचार होते हैं।

इसलिए हे भाई ! अपनी पर्याय को अंतरस्वभाव में लगाकर ऐसे संस्कार डाल कि 'मैं परमात्मा हूँ, इस संसार को टालकर मैं अब अतिशीघ्र परमात्मा बननेवाला हूँ, मेरी पर्याय में स्वभाव के संस्कार के अलावा कोई दूसरे विपरीत संस्कार रह ही नहीं सकते, मेरी पर्याय में मोक्ष के संस्कार बन जाने से मेरे में संसार कहीं रह ही नहीं सकता। इसप्रकार जो पर्याय को अंतरस्वभाव-सन्मुख करके आत्मा में स्वभाव के संस्कार प्रगट करे, उसको विचार और स्वप्न में भी ऐसे अच्छे विचार आते हैं कि 'मैं संत-मुनियों के संघ में बैठा हूँ, मैं भगवान हो गया है, मेरा असंख्यप्रदेशी चैतन्यबिंब इस शरीर से छूट गया है' – इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वभाव के भान से पर्याय में अपूर्व संस्कार प्रगट कर सकता है। शुद्धस्वभाव को प्रतीति में लेकर पर्याय में उसके संस्कार डालते ही जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसी ही शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनंतकाल के विपरीत संस्कार को बदलकर प्रबल अपूर्व संस्कार प्रगट करने के लिए मात्र एकसमय के स्वाश्रित पुरुषार्थ की जरूरत है। अरे ! एकबार एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग मात्र समय के सम्यक् पुरुषार्थ से पर्याय में शुद्धस्वभाव का संस्कार होकर अनादि का उल्टा संस्कार टल जाता है और उसे अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त होती है।

तेरी पर्याय में अनन्तधर्म एकसाथ हैं, तेरी आत्मा के अनंतधर्म की ऋद्धि तेरे में भरी है, उसको जानकर तू खुश हो – प्रसन्न हो। शुद्ध चैतन्यद्रव्य में डुबकी लगाकर पर्याय में प्रमोद कर .... ! आनंदित हो.....! ! कि अहो ! मेरी सम्पूर्ण चैतन्यऋद्धि का दरिया मेरे में भरा है, शांतरस का सागर मेरे आात्मा में उछल रहा है।

जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि प्रभो ! यह आत्मा कौन है ? उसको आत्मा का स्वरूप स्पष्टपने समझाने के लिए यहाँ आचार्य भगवान ने ४७ नयों से आत्मा का वर्णन किया है।

४७ नयों में अस्तित्व-नास्तित्व आदि सप्तभंगी के सात नय हैं। नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव–ये चार बोल के चार नय हैं और द्रव्य-पर्याय, नित्य-अनित्य इत्यादि अठारह युगल के छत्तीस नय हैं। –इसप्रकार ४७ नयों का वर्णन करके आचार्यदेव कहेंगे कि स्याद्वाद अनुसार, किसी नय से देखो अथवा प्रमाण से देखो तो अन्दर में अनन्तधर्मवाला स्वयं का आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र ही दिखता है।

ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को अन्तरदृष्टि से देखना ही सभी नयों का तात्पर्य है; क्योंकि नय जिस एक धर्म को विषय करता है, वह एक धर्म कोई भिन्न नहीं रहता, वह धर्म तो धर्मी ऐसे अभेद आत्मा के आश्रय ही रहता है। उसको दृष्टि में लिए बिना एक धर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि बिना एक भी नय सच्चा नहीं होता। अतः समस्त नयों का वर्णन शुद्ध स्वाभाव को दृष्टि में रखकर ही समझना।

अभी यहाँ २९वें अस्वभावनय से आत्मा वर्णन पूरा हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३०

कालनय

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान सहकारफलवत्सम - यायत्तसिद्धिः ।

आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है।

'आत्मा की मुक्ति जिससमय होनी है, उसीसमय होगी' – ऐसा कालनय से आत्मा का एक धर्म है । जिसकाल में मुक्ति होती है, उसकाल में भी वह पुरुषार्थपूर्वक ही होती है; परन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके 'स्वकाल से मुक्ति हुई है' – ऐसा कालनय की अपेक्षा कहा जाता है । स्वकाल से मुक्ति हुई, इसलिए पुरुषार्थ उड़ गया – ऐसा नहीं है । स्वकाल में मुक्ति हुई, इसमें पुरुषार्थ तो सम्मिलित ही है ।

जिससमय मुक्ति होनी है, वह उसीसमय में होती है; परन्तु वह होती किस कारण से है ? तात्पर्य यह है कि मुक्ति का आश्रयभूत कारण कौन है आत्मद्रव्य या काल ?

इसका उत्तर है –आत्मद्रव्य; क्योंकि मुक्ति द्रव्य के आश्रय से ही होती है, जिसने ऐसा निर्णय किया है, उसकी दृष्टि मुक्तिपर्याय पर नहीं रहती; अपितु उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है । जिसकाल में मुक्ति होनी है, उसीकाल में होती है – ऐसा धर्म आत्मद्रव्य का है अर्थात् आत्मद्रव्य के ऊपर जिसकी दृष्टि है, वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है । अतः इस निर्णय में मुक्ति का पुरुषार्थ आ ही जाता है ।

स्वयं की मुक्तपर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव में द्रव्य की ओर देखता है; क्योंकि जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है – ऐसा धर्म द्रव्य का है; अतः द्रव्य की तरफ देखना वही अपूर्व पुरुषार्थ है । द्रव्य की तरफ देखनेवाले ने निमित्त, विकार और पर्याय के ऊपर से दृष्टि उठा ली

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है । इसीप्रकार एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नहीं होती – ऐसी द्रव्यदृष्टि में ही क्रमबद्धपर्याय, स्वकाल, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग, पुरुषार्थ तथा केवली आदि सबके निर्णय आ जाते हैं । कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करनी है । यह धर्म कोई काल के आधार पर नहीं है, परन्तु आत्मा के आधार पर है । अतः मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नहीं देखता, परन्तु आत्मा की ओर देखता है ।

' केवली भगवान ने केवलज्ञान में जो काल देखा है, उसी काल में मुक्ति होती है, मुक्ति के काल में परिवर्तन नहीं होता ' – ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है, आत्मा के इस धर्म का निर्णय, पर के लक्ष्य से नहीं होता; पर आत्मद्रव्य के लक्ष्य ही से इस धर्म का निर्णय होता है। जो जीव अन्तर्मुख होकर आत्मा की ओर देखता है, उसे ही कालनय का यथार्थ ज्ञान होता है और उसकी मुक्ति का काल अल्पकाल में ही होता है ।

देखो, यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नहीं करना है, अपितु सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है अर्थात् धर्म को देखनेवाले अपने ज्ञान को भी आत्मसन्मुख करना है । इसप्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्धात्मा को प्रतीति में लेना ही इसका तात्पर्य है । जो जीव सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में नहीं लेता और एक-एक धर्म को ही भिन्न-भिन्न करके देखता है, उसके तो सब नय मिथ्या हैं । प्रमाणज्ञान से अनन्तधर्मात्मक अखण्ड आत्मा को स्वीकार किये बिना, उसके एक-एक धर्म का सत्यार्थज्ञान नहीं होता अर्थात् उसे नय ही नहीं होते ।

प्रश्न – कालनय से आत्मा में जिससमय सम्यग्दर्शन प्रगट होना है, वह उसीसमय प्रगट होगा – यह बात किसके चित्त में यर्थाथरूप से जमती है ?

उत्तर – जिसकी दृष्टि द्रव्यसन्मुख होती है, उसके चित्त में ही यह बात यथार्थतया बैठती है और उसके सम्यग्दर्शन होने का काल भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निकट होता है । आत्मा का धर्म क्षणिकपर्याय के आधार पर नहीं है; परन्तु त्रिकाली द्रव्य के आधार से है । पर्याय तो प्रतिसमय आती है और चली जाती है । अनेक पर्यायें भी एकसमय में नहीं होती हैं । अरे, द्रव्य तो सदा एकरूप ही है; इसलिए द्रव्य के ऊपर दृष्टि होते ही पर्याय के काल का अर्थात् क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो जाता है । प्रतिसमय की पर्याय का काल व्यवस्थित है ।

जिस पर्याय का जो काल है, उसमें फेर-बदल नहीं होता । यदि उसमें फेर-बदल संभव होता तो वस्तुस्वभाव अथवा केवलज्ञान ही सिद्ध न होता । इसप्रकार होते हुए भी इसमें पर्याय भी आ जाती है, क्योंकि पर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि त्रिकाली आत्मद्रव्य के ऊपर है । उसकी दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है । जिसकी दृष्टि द्रव्यसन्मुख है, उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं रहती है; परन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मल परिणमन हो जाता है और अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

अहो ! वीतरागी संत चाहे किसी भी दृष्टि से बात करें, परन्तु उसमें वस्तु का मूलस्वभाव ही प्रकाशित करते हैं, प्रतिपादित करते हैं ।

मुक्ति का जो समय है, मुक्ति उसीसमय होती है । ऐसा भी आत्मा का एक स्वभाव है , धर्म है । जिस आत्मा का मोक्ष निकट होता है, उस आत्मा को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही इसका निर्णय होता है । अर्थात् स्वभावसन्मुख दृष्टि होने पर अल्पकाल में मुक्ति हो, उसका ऐसा काल होता ही है । सर्वज्ञ भगवान ने जिसकाल में मुक्ति देखी है, वह उसीसमय में होती है – ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है; परन्तु वह धर्म पर के आश्रय से नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जो सम्पूर्ण आत्मा को दृष्टि में लेता है, उसको इस धर्म का निश्चय होता है और जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया है, उसे अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त होने का स्वकाल होता है । यह कालनय कोई पुरुषार्थ उड़ाने के लिए - पुरुषार्थ समाप्त करने के लिए नहीं है; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसमें वीतरागी ज्ञाता-दृष्टापने का सम्यक्पुरुषार्थ आ जाता है, जो कि मोक्ष का कारण है। जिसकी दृष्टि स्वभाव के ऊपर होती है, उसे ही यह नय यथार्थपने समझ में आता है, दूसरों को यह नय समझ में नहीं आता।

प्रश्न – कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है, तब फिर हमारे लिए करना क्या शेष रहा ? हमें तो काल के इन्तजार में बैठे रहना ही शेष रहा ?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है। सुनो भाई ! 'कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है' – ऐसा माननेवाले के जीव के लिए काल की तरफ देखना नहीं रहता; परन्तु आत्मद्रव्य की ओर देखना ही रहता है। आत्मस्वभाव के ऊपर दृष्टि जाने पर अल्पसमय में ही स्वकाल पक जाता है। तात्पर्य यह है कि फिर उसके लिए मुक्ति में देर नहीं लगती।

यहाँ दृष्टान्त में भी ऐसा आम लिया है, जो गर्मी के दिनों में समय आने पर पक जाता है, इसीप्रकार सिद्धान्त में भी ऐसा आत्मा लिया है कि स्वभाव का निर्णय करने पर स्वभाव तरफ के सम्यक्पुरुषार्थ से जिसका मुक्ति का काल पक जाता है।

सर्वज्ञ भगवान ने तो मुक्ति का जो समय है, वही देखा है; परन्तु 'मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वाभाव है' – ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसे बंध की या राग की रुचि नहीं रहती; परन्तु जिसमें से मुक्तदशा प्रगट होती है – ऐसी स्वभावदृष्टि की ही रुचि रहती है और उसे अल्पकाल में आत्मा का स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है, उसे तो वास्तविक मुक्ति का भी निर्णय नहीं है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला तो आत्मा को ही देखता है, क्योंकि मुक्ति निमित्त, राग या पर्याय के आश्रय से नहीं होती; परन्तु आत्मद्रव्य के आश्रय से ही होती है और मुक्ति का इच्छुक आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है। उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य उतावलापना नहीं होता; वह ज्ञाता-दृष्टा वर्तते हुए अल्पकाल में मुक्ति पा लेता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसने ऐसा निर्णय किया है कि मुक्त होने का धर्म मेरे आत्मा में ही है, उसने ऐसा निर्णय राग में एकाग्र होकर नहीं किया; किन्तु अपने त्रिकाली ज्ञानस्वरूप आत्मा में वर्तमान ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके किया है अर्थात् वह वर्तमान में साधक हो गया है और अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव के ऊपर ही है।

'मैं झट मुक्ति प्राप्त करलूँ और संसार का अभाव करदूँ' – ऐसी पर्यायदृष्टि उसे नहीं रहती। स्वभाव में एकाग्र होने पर उसे अल्पकाल में मुक्तदशा प्रगट हो जाती है। 'मैं प्रबल पुरुषार्थ करके अतिशीघ्र मुक्ति प्राप्त करूँ; दया, दान, व्रत, तप आदि करके मुक्ति प्राप्त करलूँ – इसप्रकार पर्यायसन्मुखता की आकुलता तो विषमता है और इस विषमता से मुक्ति प्राप्त नहीं होती; परन्तु 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसे ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने से मुक्ति होती है। ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में रहते हुए जिससमय मुक्ति होनी है, उससमय में हो जाती है। उसकी मुक्ति का समय लम्बा नहीं होता।

अरे ! 'तत्काल मोक्ष प्राप्त करूँ' – यह भी विषमभाव है; क्योंकि अवस्था की स्वीकृति ही वस्तुव्यवस्था की स्वीकृति है। मुक्ति जल्दी प्राप्त करलूँ – ऐसा कहनेवाले को भी मुक्त होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना ही है। वह स्वद्रव्य के आश्रयरूप मोक्ष का उपाय तो करता नहीं है, फिर उसे मोक्ष कहाँ से हो ? स्वद्रव्य की दृष्टि करने से मोक्ष अल्पकाल में प्रगट हो जाता है, परन्तु वहाँ भी मोक्षपर्याय के ऊपर दृष्टि नहीं रहती। स्वभाव के अवलम्बनपूर्वक ज्ञाता-दृष्टा रहता है, उसे पर्याय में फेर-बदल करने की उतावली नही रहती; क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी निर्मलपर्याय प्रगट होती ही है, उसे मुक्त होने में अधिक देर नहीं लगती।

देखो, यह कालनय का रहस्य ! जिसने इस कालनय से आत्मा का निर्णय किया, उसके ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापने का अपूर्व धैर्य प्रगट हो गया। तात्पर्य यह है कि फिर उसे पर में फेर-बदल करने की इच्छा ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होती । वह तो मात्र जानता-देखता ही है । उसके आत्मद्रव्य में अल्पकाल में मोक्षपर्याय प्रगट होने का स्वकाल है । केवली भगवान ने भी अल्पकाल में उसका मोक्ष देखा है ।

'कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है' – ऐसा कहने से पुरुषार्थ की कमजोरी सिद्ध नहीं होती; परन्तु स्वभावदृष्टि का जोर सिद्ध होता है । ऐसा निर्णय करनेवाला जीव द्रव्यस्वभाव के ऊपर दृष्टि रखता है, बंध-मोक्ष का भी ज्ञाता हो जाता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है । उसकी मुक्ति केवलज्ञान में टंकोत्कीर्णवत् दिखाई देती है । आत्मा के स्वभाव में ऐसा धर्म है ।

अहो ! इसमें मोक्ष का पुरुषार्थ है, आकुलता नहीं । ज्ञाता-दृष्टापने रहने का अपूर्व धैर्य है । यदि धैर्य न हो और उतावली करे तो उसे ज्ञाता-दृष्टापना न रहे; पर आकुलतारूप विषमभाव हो जाय और वह मोक्ष को रोकनेवाला है । श्रीमद् रायचन्द्र ने भी कहा है – "जितनी उतावली, उपनी कचास और जितनी कचास, उतनी खटास ।" तात्पर्य यह है कि स्वभावदृष्टि में धर्मी को उतावली नहीं होती तथा उसके पुरुषार्थ की कचास – कमजोरी भी नहीं होती । उसके स्वभाव की दृष्टि में ज्ञाता-दृष्टापने मोक्ष का प्रयत्न निरन्तर चालू ही रहता है और उसे अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट हो जाती है ।

कालनय के वर्णन में भी आचार्यदेव ने द्रव्यस्वभाव का आश्रय करनेरूप प्रयोजन ही सिद्ध किया है । यहाँ भी आचार्यदेव ने आत्मा को ऊर्ध्व रखा है; परन्तु अज्ञानी जीव इसे समझे बिना ही अपनी स्वच्छन्द कल्पना से उल्टा अर्थ करते हैं । स्वभावदृष्टि से तो धर्मी को बंध-मोक्ष दोनों में समभाव होता है । तात्पर्य यह है कि 'बंध का अभाव करूँ और मोक्ष को प्रगट करूँ' – ऐसी पर्याय की विषमता पर भी उनकी दृष्टि नहीं रहती । वे तो अपने एकरूप चिदानन्दस्वभाव ऊपर ही दृष्टि रखते हैं और उस स्वभाव की दृष्टि में अल्पकाल में भव का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रगट हुए बिना नहीं रहती ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'मुझे स्वभाव में विकार नहीं दिखता' – यह भी विकार की दृष्टि है और यह विषमभाव है, इसके विकार का अभाव नहीं होता। जो विकार का अभाव करना चाहता है, उसकी दृष्टि भी शुद्धस्वभाव पर रहती है; क्योंकि शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए स्वभाव की दृष्टि से विकार का अभाव होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा में मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है, वह मोक्षदशा उसी काल में ही प्रगट होगी। – ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है। जिसने कालनय से ऐसा जाना है, उस जीव की दृष्टि शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही रहती है और उसे द्रव्य के आश्रय से अल्पकाल में मुक्तदशा प्रगट हो जाती है।

इसप्रकार कालनय से आत्मद्रव्य का वर्णन पूर्ण हुआ।

सर्वं सदैव नियतं...

(वसंततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवित दुःखसौख्यम्॥

अर्थ : इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख, सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होता है, दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है - ऐसी मान्यता अज्ञान है।

- आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश - १६८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३१

अकालनय

अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्ससमयानायत्त-सिद्धिः।

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, ऐसा है; कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।

'आत्मा कैसा है ?' – इसप्रकार शिष्य के पूछने पर आचार्यदेव ने यहाँ ४७ नयों द्वारा आत्मा के ४७ धर्मों का वर्णन करके आत्मा का स्वरूप बताया है। उनमे से कालनय से यह बताया था कि 'मुक्ति का जो स्वकाल है, मुक्ति उसीसमय होती है।' जिसप्रकार आम्रफल अपनी ऋतु आने पर ही पकता है, ऋतु आने से पहले नहीं पकता; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव में मुक्ति का जो समय है, आत्मा उसीसमय मुक्तिपने परिणमता है, समय आने से पहले मुक्तिपने नहीं परिणमता।

स्वभाव की दृष्टि करके स्वभाव में स्थिर होने पर आत्मा की मुक्ति हो जाती है। वहाँ आत्मा की मुक्ति स्वकाल में हुई – ऐसा कालनय से कहा, परन्तु वह मुक्ति भी पुरुषार्थ बिना नहीं हुई है।

'उग्रपुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त करली' – ऐसा अकालनय से कहा जाता है। उसमें भी मुक्ति का समय तो जो है वही है, उसमें कोई फेर-फार नहीं हुआ है। जीव ने अनन्तपुरुषार्थ करके बहुत समय के कर्मों का अल्पकाल में नाश करके मुक्ति प्राप्त की – यह अकालनय का कथन है।

जब स्वभावदृष्टिवाला जीव उग्रपुरुषार्थ पूर्वक स्वभाव में एकाग्र होकर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है, तब ऐसा कहा जाता है कि 'इस जीव ने उग्रपुरुषार्थ से अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करली।' गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि शिष्य ! तू स्वभाव के अवलम्बन से

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शीघ्र मोक्षपद प्राप्त कर, ऐसा अकालनय से कहा जाता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मोक्ष होने का जो समय है, वह बदल जायेगा अर्थात् समय से पूर्व ही मुक्ति हो जायेगी।

जिसप्रकार जगत में कच्चे आम को पाल में रखकर पकाते हैं, परन्तु वह आम तो तभी पकता है, जब उसके पकने का समय आता है। फिर भी पाल में रखने के कारण ऐसा कहा जाता है कि 'यह आम पाल में रखने के कारण जल्दी पक गया।' उसीप्रकार जब अल्पकाल में उग्रपुरुषार्थ करके जीव मुक्ति पाता है, तब ऐसा कहा जाता है कि 'इस जीव ने अल्पकाल में उग्रपुरुषार्थ करके मुक्ति प्राप्त की।' यह अकालनय का कथन है तथा ऐसा एक धर्म आत्मा में है। वास्तव में मुक्ति तो उसी समय हुई, जो मुक्ति होने का समय था, उसमें कुछ भी फेर-फार नहीं हुआ।

यह जीव आसन्नभव्य है, यह उग्रपुरुषार्थ पूर्वक मुक्तिपद शीघ्र प्राप्त करेगा, ऐसा कहने योग्य धर्म भी वस्तु में है। शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहता है कि हे नाथ ! हे स्वामी !! आपने हमें संसार समुद्र से तार दिया, आप न मिले होते तो हम अनंतकाल तक संसार में ही रखड़ते रहते, आपके उपकार से हमारा अनंतसंसार नष्ट हो गया, आपके चरणकमल के प्रसाद से हमारे संसार का अन्त आ गया और मोक्ष पास आ गया। अब मैं अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करूँगा। इसप्रकार अकालनय से कहा जाता है। मोक्ष होने का काल तो जो है वही है, वह काल आगे-पीछे नहीं हुआ है।

आत्मा के ये धर्म शुद्धचेतना वस्तु के आधार से हैं, निमित्त, राग या पर्याय के आधार से नहीं हैं; एक धर्म के आधार से भी दूसरा धर्म नहीं है। इसलिए एक धर्म के निर्णय करने में ही अनन्तधर्मों का धनी ऐसा धर्मी चैतन्यद्रव्य लक्ष्य में आ जाता है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव दृष्टि में लिए बिना उसके एक धर्म का भी यथार्थ निर्णय नहीं होता। आत्मद्रव्य की सन्मुखता से ही उसके धर्मों की यथार्थ प्रतीति होती है। जिसका पुरुषार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्यस्वभाव के सन्मुख हुआ है, उसकी मुक्ति शीघ्र ही होती है, फिर उसको मुक्ति में विलम्ब नहीं होता।

जैसे अचानक सर्प के काटने पर किसी बालक की अल्प-आयु में मृत्यु होने पर ऐसा कहा जाता है कि 'इस बालक की अकालमौत हो गई'; परन्तु वास्तव में तो उसकी आयु जिससमय समाप्त होनेवाली थी, उसीसमय समाप्त हुई है। इसीप्रकार आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण अकालनय से ऐसा कहा जाता है कि 'इस आत्मा ने पुरुषार्थपूर्वक अकाल में मोक्ष प्राप्त किया अर्थात् जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लिया'; परन्तु मोक्ष तो जिससमय होना था उसी समय हुआ, समय से पहले नहीं हुआ।

जिस जीव की वस्तुस्वभाव से विपरीत मान्यता है और विपरीत ही प्ररूपणा है, वह जीव प्रतिक्षण अनन्तसंसार को बढ़ाता है और जिसने सत्समागम द्वारा विपरीतदृष्टि का अभाव करके स्वभावदृष्टि की है, उसका अनंतसंसार एक क्षण में नष्ट हो गया – ऐसा अकालनय से कहा जाता है। इसीप्रकार स्वभावदृष्टि के जोर से समकिति जीव अनंतसंसार का एकक्षण में अभाव करके मुक्ति को प्राप्त करता है। – ऐसा अकालनय से कहा जाता है। पहले स्वभाव ऊपर दृष्टि नहीं थी और संसार होना था, फिर भी उसका अभाव कर दिया और मोक्ष नहीं होना था, फिर भी मोक्ष हो गया – ऐसा अकालनय का अर्थ नहीं है। अकालनय से पर्याय का क्रम बदल जायेगा, ऐसा नहीं है; परन्तु अनंतकाल के कर्मों का अल्पकाल में अभाव किया – ऐसा अकालनय से कहा जाता है।

यह नय छद्मस्थ के ज्ञान में होते हैं, केवली के ज्ञान में नहीं; क्योंकि केवली भगवान तो सभी को एकसाथ प्रत्यक्ष जानते हैं।

कालनय से और अकालनय से जो भिन्न-भिन्न दो धर्म कहे हैं, वे दोनों ही धर्म भिन्न-भिन्न जीवों में नहीं रहते, अपितु एक जीव में ही एकसाथ रहते हैं। इसीप्रकार नियति-अनियति आदि नयों से जो धर्म कहे हैं, वे भी प्रत्येक आत्मा में एक़साथ ही रहते हैं। एक स्वकाल में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में ही मुक्ति प्राप्त करले ऐसा नहीं है।

'इस जीव ने अपने स्वकाल के अनुसार मुक्ति प्राप्त की' – ऐसा कहना कालनय का कथन है; परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसने बिना पुरुषार्थ के ही मुक्ति प्राप्त करली है, स्वकाल के साथ पुरुषार्थ तो जुड़ा हुआ ही है।

इसीप्रकार 'इस जीव ने उग्रपुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की' – यह अकालनय का कथन है, किन्तु इसका भी यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसने स्वकाल के बिना मुक्ति प्राप्त की है; पुरुषार्थ के साथ स्वकाल भी था ही।

इसप्रकार कालनय और अकालनय इन दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म एकसाथ ही रहते हैं – ऐसा समझना चाहिए।

इन धर्मों को बताने का उद्देश्य अनंतधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा की दृष्टि कराना है तथा यही इन धर्मों को जानने का फल है।

यहाँ अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ, अब आगे पुरुषकार नय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(३२)

पुरुषकारनय

पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीक पुरुषकारवादियत्नसाध्यसिद्धि : ।

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है ।

आत्मा में एक ऐसा स्वभाव है कि जिससे आत्मा की सिद्धि यत्नसाध्य है । जिसप्रकार कोई मनुष्य नीबू का बीज बोवे तो नीबू का वृक्ष होता है; उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव के सम्मुख होकर उसकी रुचि और एकाग्रता से आत्मा की सिद्धि प्राप्त होती है – यह पुरुषकारनय का कथन है ।

इस पुरुषार्थधर्म को हटाकर अकेले नियतिनय से आत्मा की मुक्ति माने तो वह मिथ्यादृष्टी है; क्योंकि उसने वस्तुत: आत्मा को स्वीकार ही नहीं किया । इसीप्रकार पुरुषार्थ के समय अन्य भी अनन्त धर्म सम्मिलित होते हैं अर्थात् पुरुषार्थ करते समय भी अकेले पुरुषार्थधर्म के सम्मुख नहीं देखना है; परन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य के सम्मुख ही देखना है, क्योंकि पुरुषार्थधर्म भी आत्मा का ही धर्म है ।

पुरुषकारनय के बिना कालनय तथा नियतिनय नहीं होते । कालनय और नियतिनय के वर्णन में भी कहा था कि इसमें पुरुषार्थ तो सम्मिलित ही है, क्योंकि वस्तु में अनन्तधर्म हैं तथा उन अनन्तधर्मों को जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंशरूप अनन्तनय हैं । अत: सभी नयों से आत्मा के स्वरूप को जानकर प्रतीति में लेना चाहिए ।

एक नय के वर्णन करते समय अन्य धर्मों का वस्तु में निषेध नहीं किया जाता है, परन्तु वे अन्य अनन्तधर्म तो उस समय भी वस्तु में

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्मिलित ही हैं, उनका अभाव नहीं होता।

'आत्मा की मुक्ति पुरुषार्थ से होती है' – ऐसा धर्म आत्मा में त्रिकाल है।

यहाँ निमित्त या राग के पुरुषार्थ को मुक्ति का कारण नहीं बताया जा रहा है; परन्तु आत्मा का लक्ष्य करके स्वभावसम्मुख पुरुषार्थ करना – यही मुक्ति का कारण है, क्योंकि 'यत्न से सिद्धि होती है' – यह धर्म आत्मा का है। इसलिए किसी परपदार्थ की अथवा निमित्त या राग की ओर देखना ही नहीं रह जाता, मात्र आत्मा के सम्मुख ही देखना शेष रह जाता है। तात्पर्य यह हैं कि अन्तर्मुख आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता से ही धर्म होता है तथा इसके बिना आत्मा की – साध्य की सिद्धि नहीं होती।

'अन्तर के प्रयत्न से मुक्ति होती है' – ऐसा आत्मा का एक धर्म है तथा ऐसे यत्नसाध्य धर्म से आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाला पुरुषकारनय है। आगे दैवनय से अयत्नसाध्य धर्म का वर्णन करेंगे, परन्तु वहाँ भी पुरुषार्थ धर्म सम्मिलित ही है; क्योंकि पुरुषार्थनय के बिना अकेला दैवनय नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि एकान्ततः आत्मा के एक धर्म को ही माने तथा उसके साथ आत्मा में रहनेवाले अन्य अनन्तधर्मों को न माने तो मिथ्यादृष्टी है तथा उसके कोई नय भी नहीं है। ज्ञानी अनन्तधर्म के आधारभूत निज शुद्धचैतन्यद्रव्य की दृष्टि रखकर प्रमाणज्ञानपूर्वक प्रत्येक धर्म को उस-उस प्रकार के नय से जानते हैं। इसलिए ज्ञानी के ही सम्यक्नय होते हैं – ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार प्रवचनसार परिशिष्ट में वर्णित ४७नयों में से यहाँ ३२वें पुरुषकारनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

दैवनय

दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्टीगर्भलब्धमाणिक्यदैव-वादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ।

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है – ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्यसिद्धिवाला है ।

जिसप्रकार किसी जीव को सद्भाग्य से नीबू के वृक्ष में से माणिक्य की प्राप्ति हो जाय तो वहाँ उसने माणिक्य को प्राप्त करने का प्रयत्न तो नहीं किया, फिर भी उसे माणिक्य की प्राप्ति हो गई; इसलिये ऐसा कहा कि उसे माणिक्य की प्राप्ति दैव से भाग्य से हुई; उसीप्रकार जो जीव स्वभाव-सन्मुख प्रयत्न से मोक्षमार्ग को साधता है, उस जीव के कर्म स्वयमेव अभाव को प्राप्त हो जाते हैं । उसके द्वारा कर्मों का अभाव करने के लिए पुरुषार्थ नहीं किया गया, लेकिन स्वभाव-सन्मुख होने से कर्मों का अभाव स्वयमेव हो गया, इसलिये यह कहा कि उसके कर्मों का अभाव दैव से हुआ ।

जिसप्रकार दैववादी को नीबू के वृक्ष में से माणिक्य उसके उस जाति के पुण्य के बिना नहीं मिला; उसीप्रकार दैवनय से जो यह कहा गया है कि 'आत्मा के कर्मों का अभाव करने के यत्न बिना ही कर्मों का अभाव हुआ और आत्मा की मुक्ति हुई' – इसमें भी स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ तो शामिल ही है । तात्पर्य यह है कि स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ बिना कर्मों का अभाव नहीं हुआ है ।

जब अन्तर में स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ किया, तब जडकर्मों का अभाव स्वयमेव हो गया । उनके अभाव करने का यत्न नहीं करना

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पड़ा। इसलिए ऐसा कहा कि दैवनय से आत्मा की सिद्धि अयत्नसाध्य है।

दैवनय में ऐसा नहीं बताया गया है कि 'कर्म मार्ग देगा, तब जीव की मुक्ति होगी अथवा मुक्ति में जीव का कुछ भी पुरुषार्थ नहीं चलता।

जब जीव अपने स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ करता है, तब इसके साथ ही कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों का नाश करने के लिए पृथक् से यत्न नहीं करना पड़ता। इस अपेक्षा यह कहा है कि आत्मा की सिद्धि अयत्नसाध्य है तथा यह दैवनय का कथन है।

किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और किसी को दैव (भाग्य) से; –इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ये दोनों ही धर्म एकसाथ रहते हैं। अत: दैवनय के साथ अन्य नयों की विवक्षा का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहा जायेगा।

'पुरुषार्थ से मुक्ति हुई' – यह न कहकर 'कर्मों के टलने से मुक्ति हुई अथवा दैव से मुक्ति हुई' – यह कहना दैवनय है; परन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव का स्वीकार तो साथ में है ही।

'यत्नसाध्य' – यह स्व-अपेक्षा किया गया कथन है। तथा 'अयत्नसाध्य' यह पर-अपेक्षा किया गया कथन है। अपने में पुरुषार्थ है और पर में पुरुषार्थ नहीं है। स्व-सन्मुखता के पुरुषार्थ के साथ कर्म के अभावरूप दैव (भाग्य) भी है और दैवनयवाले के आत्म-सन्मुखता का पुरुषार्थ भी है। – इसमें पुरुषार्थ का अभाव नहीं है।

जिस जीव को स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, उसका भाग्य भी ऐसा ही होता है कि कर्म भी टल जाते हैं; कर्मों को टालने के लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी स्थिति में यह अपेक्षा ग्रहण करना कि 'कर्मों के टलने से मुक्ति हुई' दैवनय का कथन है।

यहाँ प्रश्न यह है कि कर्मों का अभाव किस कारण हुआ ?

इसका उत्तर इसप्रकार है – कर्मों का अभाव कर्म-सन्मुखता होने से नहीं हुआ है, परन्तु स्वभाव - सन्मुख एकाग्रता का प्रयत्न – पुरुषार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करते ही कर्मों का अभाव हुआ और मुक्ति की प्राप्ति हुई।

यहाँ दैवनय की अपेक्षा पुरुषार्थ की विवक्षा गौण करके कर्मों के अभाव की विवक्षा से कथन किया है। वास्तव में तो मुक्ति स्वभाव सन्मुखता के पुरुषार्थ से ही हुई है।

वस्तु में तो पुरुषार्थ आदि अनन्तधर्म एकसाथ विद्यमान हैं। उनमें एक मुख्य हो और दूसरा गौण हो – ऐसा नहीं है। वस्तु में समस्त धर्म एकसाथ हैं, परन्तु छद्मस्थ के श्रुतज्ञान में नय होते हैं और उन नयों की अपेक्षा मुख्यता-गौणता होती है। एक नय दूसरे नयों के विषयभूत धर्मों को गौण करता है, परन्तु उनका सर्वथा निषेध नहीं करता। यदि वह दूसरे धर्म का सर्वथा निषेध करे तो अनेकांतमय वस्तुस्वरूप ही सिद्ध न हो अर्थात् वस्तु का प्रमाणज्ञान ही न हो – ऐसी स्थिति में नय भी नहीं हो सकते; क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को कहते हैं।

'दैवनय से अयत्नसाध्य है' जो यह कहा है, वह धर्म भी आत्मा का ही है अर्थात् दैवनयवाला भी आत्मसन्मुख होकर आत्मा के धर्म को जानता है। इसप्रकार दैवनय में भी द्रव्यसन्मुखता का पुरुषार्थ तो आ ही जाता है।

दैवनय जिस धर्म को लक्ष्य में लेता है वह धर्म परद्रव्य का नहीं है, परन्तु वह भी आत्मा का ही है; इसलिए कर्मसन्मुख होने पर दैवनय की भी यथार्थ प्रतीति नहीं होती, परन्तु दैवनय की भी यथार्थ प्रतीति आत्मसन्मुख होने पर ही होती है; क्योंकि आत्मसन्मुख दृष्टिवाले जीव को ही आत्मा के धर्मों का यथार्थज्ञान होता है।

मुक्त होने का धर्म आत्मद्रव्य में ही है। यह धर्म किसी कर्म में से नहीं आता है, परन्तु यह आत्मा का ही धर्म है। आत्मा के स्वभाव पर दृष्टि जाने से पर्याय तथा कर्म पर दृष्टि नहीं रहती। ऐसे आत्मा के धर्मों का ज्ञान होने पर – भान होने पर आत्मा की अर्थात् अपनी महिमा आती है और आना चाहिए कि अहो ! यह तो सब मेरे धर्मों का ही वर्णन है, इसमें पर की महिमा कहीं भी नहीं है; यह तो मेरे चैतन्यस्वभाव की ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महिमा है। अनेक नयों की अपेक्षा किया गया वर्णन तो मेरे स्वभाव की विशालता बताता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव की महिमापूर्वक आत्मस्वभाव को समझना चाहिए।

'अष्टकर्मों का अभाव होने पर आत्मा की मुक्ति होती है' – इस कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि कर्मसन्मुख होकर कर्मों का नाश करना है, बल्कि यह समझना चाहिए कि आत्मसन्मुख होकर आत्मा का ही आश्रय करना है; क्योंकि मुक्ति आत्मा की होती है, आत्मा के ही स्वभाव में से मुक्तिपर्याय प्रगट होती है। पुरुषार्थ, दैव आदि जितने भी धर्मों का वर्णन किया है, उनमें पर अथवा विकार के ऊपर वजन (जोर) नहीं दिया है; क्योंकि ये सभी धर्म पर अथवा विकार पर आधारित नहीं हैं। तथा पृथक्-पृथक् एक-एक धर्म पर भी वजन नहीं दिया गया, क्योंकि ये धर्म अलग-अलग होकर भी नहीं रहते; परन्तु अखण्ड आत्मा के आश्रय से ये सभी धर्म एकसाथ रहते हैं। धर्म धर्मी का होता है और धर्मी सम्पूर्ण आत्मा है। अतः शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्ड आत्मा पर वजन (जोर) होना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पर अथवा विकार के आश्रय से निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती, अपितु शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से ही निर्मलपर्याय प्रगट होती है। अतः यहाँ पर अथवा विकार की दृष्टि न कराके शुद्धस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने की बात पर वजन (जोर) दिया गया है।

अखण्ड आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर उसमें ही एकाग्र होना – यही शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है। यहाँ आचार्यदेव आत्मप्राप्ति के उपाय का ही वर्णन कर रहे हैं।

यहाँ यत्नसाध्य और अयत्नसाध्य – ऐसे दो धर्म कहे हैं। ये दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में, चेतनद्रव्य भगवान आत्मा के आश्रित एकसाथ रहते हैं, पर्याय के आश्रित नहीं रहते; इसलिये पर्यायबुद्धि छोड़कर चैतन्यद्रव्य की ओर देखने से – चैतन्यद्रव्य के आश्रय से इन धर्मों का यथार्थज्ञान होता है, पर्यायबुद्धिवाले के इनका यथार्थज्ञान नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुरुषकारनय से कहो अथवा दैवनय से कहो, पर जो जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं; वे सब पुरुषार्थपूर्वक ही करते हैं। यदि अकेले दैव से ही मुक्ति प्राप्त हो और पुरुषार्थ से हो ही नहीं तो जीव में एक दैवधर्म ही रहा, पुरुषार्थ नामक धर्म रहा ही नहीं; इसीप्रकार पुरुषार्थवालों के अकेला पुरुषार्थ नामक धर्म ही रहा दैव नामक धर्म रहा ही नही; पर ऐसा होता नहीं है, दोनों में दोनों ही धर्म रहते हैं।

एक जीव को अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हुई और दूसरे जीव को अकेले दैव से मुक्ति प्राप्त हुई – इसप्रकार दो भिन्न-भिन्न जीवों की बात यहाँ नहीं है, परन्तु एक ही जीव में अनन्तधर्म एकसाथ रहते हैं – उनका यह वर्णन है। कथन में भले ही एकधर्म की मुख्यता आती हो, पर उसीसमय वस्तु में अन्य अनन्तधर्म भी हैं ही। जो एक धर्म को माने और अन्य धर्मों को न माने तो ज्ञान प्रमाण ही नहीं रहता।

वस्तु एकसाथ अनन्तधर्मात्मक है। उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु की दृष्टिपूर्वक अनन्तनय होते हैं। इसलिए इन नयों के द्वारा एक-एक धर्म का ज्ञान करनेवाले की दृष्टि एक-एक धर्म पर नहीं होती, परन्तु उसकी दृष्टि सम्पूर्ण धर्मी पर ही होती है। भले ही कथन में ये धर्म एक के बाद एक आते हों, परन्तु वस्तु में तो सभी ध· एकसाथ ही हैं। आत्मद्रव्य इन समस्त धर्मों का धारक है। ऐसे अनन्तधर्मों के धारक आत्मद्रव्य को अपनी दृष्टि का विषय बनाना – यही इन सम्पूर्ण धर्मों के वर्णन का तात्पर्य है।

यहाँ आचार्यदेव ने नीबू के झाड़ का दृष्टान्त देकर पुरुषार्थ एवं दैवनय का स्वरूप समझाया है।

दृष्टान्त में दैववादी तथा पुरुषार्थवादी दो व्यक्ति अलग-अलग हैं; परन्तु सिद्धान्त में दैवधर्म तथा पुरुषार्थधर्म पृथक्-पृथक् दो आत्माओं के नहीं हैं, वे दोनों धर्म एक ही आत्मा के हैं। जिसने अपने ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होने का पुरुषार्थ किया, उसके कर्मों के अभाव का पुरुषार्थ न होते हुए भी कर्मों का अभाव हो गया और सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यकचारित्र तथा मोक्षरूपी रत्नों की प्राप्ति हो गयी। यह सम्पूर्ण कार्य एक ही जीव में हुआ। किसी जीव का पुरुषार्थ किसी अन्य जीव के काम आ जाय – ऐसा नहीं है।

दैवधर्म पुरुषार्थधर्म का निषेध नहीं करता। यदि कोई अकेला दैवधर्म ही माने और पुरुषार्थधर्म का निषेध करे तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टी है।

हाथी के मस्तक में मोती होते हैं। जब केशरीसिंह हाथी के मस्तक को अपने पंजों से फाड़ता है, तब उस हाथी के मस्तक से मोती जमीन पर बिखर जाते हैं, इसीप्रकार यहाँ आत्मा – पुरुषार्थरूपी सिंह कर्मरूपी कुंजर को फाड़कर सम्यग्दर्शनादि रत्नों की प्राप्ति करता है। इसमें आत्मा ने पुरुषार्थ से जड़कर्मों का अभाव किया – यह कथन निमित्त की अपेक्षा समझना चाहिए और कर्मों के टलने से आत्मा का मोक्ष हुआ – यह कथन भी निमित्त अपेक्षा जानना चाहिए।

आत्मा का पुरुषार्थ आत्मा में है और कर्म की अवस्था जड़ में है आत्मा तो अपने स्वभाव का ही पुरुषार्थ करता है। स्वभाव का पुरुषार्थ करते समय कर्म टल जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। इसमें जीव का यत्न कर्मों के अभाव करने का न होते हुए भी कर्म टल जाते हैं और मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए इसे आत्मा का अयत्नसाध्य धर्म कहा जाता है।

दैव और पुरुषार्थ धर्म को समझने के लिए एक और भी उदाहरण आता है कि "दो मित्र थे, उनमें एक दैववादी और दूसरा पुरुषार्थवादी। एकबार दोनों मित्र एक गाँव में गये। वहाँ उन दोनों को जोर से भूख लगी, तब दैववादी कहने लगा कि 'मेरे भाग्य में भोजन होगा तो मिल जायेगा।' पुरुषार्थवादी ने कहा कि 'मैं गाँव में जाकर अपने पुरुषार्थ से – यत्न से भोजन लाता हूँ।' – ऐसा कहकर पुरुषार्थवादी गाँव में गया और वहाँ से दो लड्डू लाया और आकर दैववादी से कहा कि मैं अपने प्रयत्न से लड्डू ले आया हूँ, अब तुम भी एक लड्डू खा लो – ऐसा कहकर उसने एक लड्डू अपने पास रख लिया और एक दैववादी को दे दिया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तब दैववादी ने कहा कि देखो मेरे भाग्य से मुझे लड्डू मिल गया।"

यहाँ इस दृष्टान्त में वास्तव में तो दैववादी और पुरुषार्थवादी दोनों को अपने-अपने पुण्य से ही लड्डू की प्राप्ति हुई है, पर एक को लड्डू की प्राप्ति में पुरुषार्थ का विकल्प निमित्त है, इसलिए उसे पुरुषार्थ से लड्डू की प्राप्ति हुई – ऐसा कहा तथा दूसरे को पुरुषार्थ का विकल्प नहीं है, इसलिए उसे यत्न बिना भाग्य से लड्डू की प्राप्ति हुई – ऐसा कहा है; परन्तु दोनों को लड्डू की प्राप्ति में कारण एक ही है और वह है दोनों के पुण्य का उदय।

दैवनय से कथन हो अथवा पुरुषार्थनय से – दोनों में मुक्ति का कारण तो एक ही है और वह है उसके उसप्रकार का पुरुषार्थ। स्वभाव सन्मुखता के पुरुषार्थ बिना पुरुषार्थवादी अथवा दैववादी दोनों में से किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

पुरुषार्थ और देव – दोनों धर्मों को धारण करनेवाला आत्मा तो एक ही है, इसलिए दृष्टि में लेने योग्य आत्मा तो एक ही है अर्थात् श्रद्धेय तो एक ही है। अभेद चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेना ही सबका सार है। शुद्ध चैतन्यस्वभावपर दृष्टिपूर्वक उसमें एकाग्र होने पर परिणमन का प्रवाह स्वसन्मुख हो जाता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मद्रव्य प्रमाण का विषय है। उसमें अनंतधर्म हैं, उन अनन्तधर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं। इनमें एक-एक धर्म के लक्ष्य से – आश्रय से ज्ञान प्रमाण नहीं होता, परन्तु सम्पूर्ण धर्मों के धारी धर्मी के आश्रय से प्रमाण होता है तथा प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं।

जिसप्रकार कभी जीव की मुक्ति हो और कभी पुद्गल की मुक्ति हो – ऐसा नहीं है, कभी जीव के आश्रय से मुक्ति हो और कभी जड़ के आश्रय से मुक्ति हो – ऐसा भी नहीं है; इसीप्रकार आत्मा को कभी पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और कभी दैव से मुक्ति प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। आत्मा में पुरुषार्थ तथा दैव दोनों धर्म एक ही साथ होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा के इन धर्मों की प्रतीति कर्मसन्मुख होने से नहीं होती, पर आत्मसन्मुख होने से ही आत्मा के इन धर्मों की प्रतीति होती है।

यदि आत्मा के दैवधर्म को देखा जाय तो भी दैव के आधारभूत धर्मी की दृष्टि हो जाती है और उसमें भी स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। आत्मा के अनन्तधर्मों में से पुरुषार्थ आदि किसी एक धर्म को अलग करके माना जाय तो उसके लक्ष्य से मुक्ति नहीं होती। अकेले पुरुषार्थ धर्म के आश्रय में मुक्ति नहीं होती, इसलिए आत्मा अयत्नसाध्य है; इसीलिए भेददृष्टि छोड़कर अखण्ड आत्मस्वरूप की दृष्टि करना – यही एक तात्पर्य हे। आत्मा को अयत्नसाध्य धर्म द्वारा जानने में भी दृष्टि अखण्ड शुद्ध द्रव्य के ऊपर ही रहती है, क्योंकि अयत्नसाध्य धर्म अखण्डद्रव्य से भिन्न नहीं है।

– इसप्रकार अयत्नसाध्य धर्म को जाननेवाले का ज्ञान भी शुद्धस्वभाव के सन्मुख ही होता है और उसी को दैवनय होता है।

ये सभी नय साधकजीव के होते हैं, क्योंकि साधकजीव के श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं। जिसप्रकार केवली भगवान के नय नहीं होते; उसीप्रकार अज्ञानी को भी नय नहीं होते। केवली भगवान को सभी नयों का ज्ञान होता है, परन्तु उनके केवलज्ञान में नय नहीं होते हैं।

कोई ऐसा कहे कि आत्मा के कार्य में आत्मा का प्रयत्न चलता है, अत: पुरुषार्थनय तो आत्मा में लागू होता है और पर के कार्यों में आत्मा का प्रयत्न नहीं चलता, अत: बाह्य संयोग-वियोग दैव – भाग्य अनुसार होते हैं; अत: दैवनय बाह्य में लागू होता है।

परन्तु भाई ! यह विवक्षा यहाँ लागू नहीं पड़ती। यहाँ तो आत्मा की मुक्ति के लिए पुरुषार्थ और दैव दोनों धर्म एकसाथ एक आत्मा के ही बताये हैं। एक आत्मा में वे दोनों धर्म एक ही साथ रहते हैं, इसलिए यहाँ जिस नय की जो अपेक्षा है, उसे जानना चाहिए।

– इसप्रकार यहाँ दैवनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

ईश्वरनय

ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगने वाला है, धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भांति ।

साधकजीव को स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय का ज्ञान होता है । वह जानता है कि मेरी पर्याय में जितना रागादि होता है, उतनी मेरी परतंत्रता है । वह परतंत्रता पर के कारण नहीं हुई है, परन्तु मेरी पर्याय में ही परतंत्र होने का वैसा धर्म है । अस्थिरता के कारण कर्म के उदय में जुड़ने से विकार होता है, वहाँ धर्मी को अपने चैतन्यस्वभाव की ईश्वरता का प्रभुता का भान है और जो विकार हुआ है, उसमें कर्म को ईश्वरता प्रदान करके कहता है कि कर्म के आधीन विकार होता है । – ऐसा जानना, वह ईश्वरनय है ।

नय वस्तुस्वरूप की दृष्टिपूर्वक ही होते हैं । स्वभाव की स्थिरता के भानपूर्वक ज्ञानी ऐसा जानता है कि पर्याय में कमजोरी है, पर्याय में पराधीनता है, मैं कर्म के आधीन होकर विकार करता हूँ – यह मेरी एकसमय की पर्याय का धर्म है । दृष्टि के विषय में तो ऐसा आता है कि आत्मा विकार को तो करता ही नहीं है; परन्तु यहाँ नयों का वर्णन प्रमाणपूर्वक किया जा रहा है, अतः आत्मा स्वयं पराधीन होकर पर्याय के विकार को करता है । – ऐसा ज्ञान कराया है ।

आत्मा स्वयं परतंत्र होकर पर्याय में विकार करे – ऐसा आत्मा का धर्म है; परन्तु कर्म आत्मा को विकार करावे – ऐसा धर्म न तो पर में है और न ही आत्मा में । साधकजीव को अभी पर्याय में सर्वज्ञता नहीं है, परन्तु साधकदशा है और साधकदशा के साथ बाधकभाव भी होते हैं तथा

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बाधकभाव पराश्रय से होते हैं; इसलिए उतनी आत्मा की परतंत्रता है ऐसा धर्मी जानता है।

जिसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप स्वाश्रयभाव प्रगट हुआ है और चारित्र में आंशिक पराश्रयभाव भी चल रहा है – ऐसे साधकजीव की यह बात है। साधकजोव जब अपनी पर्याय की पराधीनता को जानतो है, तब उसे ईश्वरनय होता है; उस समय साधक की दृष्टि तो शुद्धस्वभाव पर ही रहती है। – इसप्रकार नय साधकजीव को ही होते हैं, अज्ञानी को या केवलज्ञानी को नहीं; क्योंकि जिन्हें सम्पूर्ण स्वाश्रय हो गया हो, उन्हें तो सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है और विकार का लेश भी नहीं रहता, इसलिए उन्हें नय भी नहीं होते। तथा जिन्हें स्वाश्रय बिल्कुल भी नहीं हुआ है, उन्हें मात्र पराश्रयभाव ही रहता है और वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं; इसलिए उन्हें भी नय नहीं होते।

क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के बाद भी धर्मी को राग-द्वेष होता है; परन्तु धर्मी उसे अपनी कमजोरी समझता है। राग- द्वेष पर के कारण हुए – ऐसा नहीं मानता है, बल्कि उसे अपना अपराध मानता है। वह यह जानता है कि ऐसे पराधीन होने की योग्यता अभी मेरे में ही पड़ी है; लेकिन आत्मा में ऐसी परतंत्रता भोगने का धर्म त्रिकालीस्वभावरूप नहीं है, परन्तु क्षणिक पर्याय के आश्रित है।

यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया गया है, उनमें से कितने ही धर्म तो त्रिकालीस्वभावरूप है और कितने ही धर्म क्षायिक पर्यायरूप हैं तथा कितने ही धर्म ऐसे हैं, जो मात्र साधकदशा में होते हैं, बाद में नहीं होते – इसप्रकार ये धर्म सापेक्ष हैं, ये धर्म सभी जीवों के लागू नहीं होते। यहाँ तो यह बात है कि जीव किस नय से किस धर्म को जानता है।

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है और राग मेरा स्वभाव नहीं है, मेरे स्वभाव के आश्रय से राग होता नहीं है, राग तो पर के आश्रय से होता है; इसलिए वह परतंत्रता है तथा आत्मा स्वयं उस परतंत्रता को भोगनेवाला है। – इसप्रकार स्वभाव की स्वतंत्रता और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय की परतंत्रता का ज्ञान करके धर्मी अपने स्वभावसन्मुख हो जाता है और परतंत्रता का अभाव कर देता है।

जैसे बालक माता की गोद में हो, तो उसे जब दूध पीना हो तब पिये – यह तो बालक का दूध पीना स्वतंत्रपने हुआ; परन्तु जब वही माता की गोद से दूर परदेश में गया, वहाँ धायमाता की दुकान में धायमाता जब दूध पिलाती है, तभी दूध पीता है – यह बालक का दूध पीना परतंत्रपने हुआ। इसीप्रकार सिद्धान्त में माता अर्थात् शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव उसकी गोद में रहे अर्थात् स्वभाव का आश्रय करके स्वभाव में ही लीन रहे तो आत्मा परतंत्र नहीं होता और अपने आनंद को स्वाधीनपने भोगता है; परन्तु जब स्वभाव की गोद में से बाहर निकलकर पर का आश्रय किया, तब परतंत्रपने रागादि को भोगता है। इसलिए ईश्वनय से आत्मा परतंत्रता को भोगनेवाला है। यदि स्वभाव के आश्रयपूर्वक सम्पूर्ण ईश्वरता प्रगट हो जाये तो परतंत्रता नहीं रहे और तब ईश्वरनय भी लागू नहीं पड़े।

धर्मी जीव ने अपने चैतन्यस्वभाव की ईश्वरता को जानकर उसका आश्रय तो लिया है; पर अभी पूर्ण आश्रय नहीं है; अतः आंशिक पराश्रय भी होता है। जितना पराश्रय होता है, उतनी पराधीनता है। जो जीव स्वतंत्र वस्तुस्वभाव को जानता है, वह इस पराधीनता को भी जानता है। पर्याय की पराधीनता ईश्वरनय का विषय है और सम्पूर्ण आत्मद्रव्य प्रमाण का विषय है।

प्रमाण से जाने या नय से जाने, परन्तु इन सबका सार तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव की तरफ ढलना ही है।

पर्याय में परतंत्रता भोगने की योग्यता भी आत्मा की ही है। वह भी आत्मा का एक धर्म है, ऐसा नहीं है कि जीव को कर्मोदयानुसार विकार करना ही पड़े। कर्म आत्मा को पराधीन नहीं करते, किन्तु यह आत्मा स्वयं पर को ईश्वरता प्रदान कर (पर का आश्रय) करके पराधीनता भोगता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यद्यपि धर्मी की दृष्टि में शुद्ध चैतन्यपिण्ड का ही आश्रय रहता है, तथापि अभी जो चारित्र में विकार होता है, वह निमित्त के आश्रय से होता है। निमित्त के आश्रय में जितना विकार होता है, उतनी निमित्त की ईश्वरता है और आत्मा की पराधीनता है। स्वभावदृष्टि से अपनी ईश्वरता का भान होते हुये भी पर्याय में जितना विकार होता है, वह मेरी पराधीनता है – ऐसा धर्मीजीव जानते हैं। किन्तु परद्रव्य जीव को बलात् विकार करावे – ऐसा कोई धर्म न तो जीव में है और न परद्रव्यों में ही।

जो स्वभाव की ईश्वरता – प्रभुता को भूलकर मात्र अकेले निमित्त को ईश्वरता प्रदान कर निमित्त की तरफ ही देखता रहता है, उसे ईश्वरनय नहीं होता। तथा जिसे आत्मस्वभाव का भान हुआ है – ऐसा ज्ञानी कभी ऐसा भी कहे कि यह वर्तमान में होनेवाला राग-द्वेष मेरे स्वभाव की ईश्वरता से नहीं, परन्तु निमित्त की – कर्म की बलवत्ता से हो रहा है। इसकारण जितनी पराधीनता है, उतना पराधीनताजन्य दुःख भी वह भोगता है; परन्तु ऐसा कहनेवाले की दृष्टि तो विकाररहित शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही होती है और वह स्वभावदृष्टि के बल से ही विकार को कर्म की बलजोरी के कारण हुआ कहता है। – ऐसे ज्ञानी को ही ईश्वरनय होता है।

जिसप्रकार धायमाता के यहाँ दूध पीनेवाला राहगीर बालक पराधीनता भोगता है, इसीप्रकार अनन्तधर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा यद्यपि स्वभाव से तो रागादि को भोगनेवाला नहीं है, तथापि पर्याय में रागादिभावों को पराधीनपने भोगता है; इसलिए ईश्वरनय से आत्मा को परतंत्रता भोगनेवाला कहा है।

ईश्वरनय से अपनी पराधीनता जाननेवाला ज्ञानी जीव उसीसमय स्वयं के स्वभाव की स्वाधीनता को भी जानता है। यदि अकेली पराधीनता को ही माने और स्वाधीनता को न जाने तो वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टी है। तथा यदि अकेली स्वाधीनता ही मान ले, पर्याय में जो पराधीनता है, उसे जाने ही नहीं तो भी मिथ्यादृष्टि ही है। द्रव्य और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय दोनों ही ओर से वस्तु को जानना चाहिए। जो द्रव्य और पर्याय दोनों को यथार्थपने जानता है, उसकी दृष्टि का जोर शुद्धद्रव्य की ओर ही होता है। 'स्यात्' के साथ आत्मा को किसी भी नय से अथवा प्रमाण से देखो; परन्तु दृष्टि तो अंतरंग में आत्मा को शुद्धचैतन्यमात्र ही देखती है।

प्रत्येक धर्म भी सम्पूर्ण आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है और यही नयज्ञान का वास्तविक फल है। नय विकल्प में अटकने के लिए नहीं हैं, परन्तु वस्तु को साधने के लिए हैं। 'ईश्वरनय से आत्मा पराधीन है' – ऐसा देखनेवाले के भी उस समय अन्तर में शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा की दृष्टि छूटती नहीं है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा अनंतधर्मों का पिण्ड है। एकमात्र शुद्ध चैतन्यद्रव्य की दृष्टि कराना ही उन अंनतधर्मों का तात्पर्य है। आरंभ में भी यह बात कही थी कि वास्तव में तो आत्मा चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनंतधर्मों का आधारभूत धर्मी एक द्रव्य है। भाई ! तू अपने अन्तर में शुद्धचैतन्यद्रव्य को देख, इसी उद्देश्य से यहाँ यह बात कही है। वर्तमना पर्याय में कमजोरी के कारण रागादि होते हैं, इसलिए ईश्वरनय से पराधीनता का ज्ञान कराया है; परन्तु पराधीनता परसन्मुख होने के लिए नहीं कही है, पराधीनता तो क्षणिक अंश है और पराधीनता के समय ही सम्पूर्ण अंशी शुद्धचैतन्यशक्तिपने विराजमान है। इसलिए तू अपने आत्मा को शुद्धचैतन्यपने अंतरंग में देख, यही उपदेश का तात्पर्य है।

– इसप्रकार ईश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३५

अनीश्वरनय

अनीश्वरनयेन स्वच्छंददारितकुरंगकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ।

आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दपने – स्वतन्त्रपने फाड़कर खानेवाले सिंह की तरह स्वतन्त्रता से भोगनेवाला है ।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव ! तेरा आत्मा सिंह के समान स्वतन्त्र है । अनीश्वर अर्थात् जिसके ऊपर कोई दूसरा ईश्वर नहीं हो ।

जैसे सिंह जंगल का राजा है, उसके ऊपर कोई नहीं है; उसीप्रकार आत्मा स्वयं अनन्त शक्तियों का प्रभु है, वह अपनी प्रभुता अपने सिवाय किसी दूसरे को नहीं देता । जैसे जंगल में सिंह हिरण को स्वतन्त्रपने फाड़कर खा लेता है, उसे यह भय नहीं रहता कि कोई हिरण का साथी आकर मुझे मारेगा । अरे ! बड़े-बड़े हाथियों का झुण्ड का झुंण्ड आ जाय तो सिंह उनसे भी नहीं डरता । उसीप्रकार अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधनेवाला आत्मा सिंह के समान निशंक है – निर्भय है, उसे किसी भी कर्म, निमित्त, परीषह आदि परद्रव्य का ऐसा भय नहीं होता कि यह मेरी प्रभुता को लूट लेगा ।

– इसप्रकार वह स्वयं ही स्वतंत्रपने आत्मा के आनन्द को भोगता है, आत्मा का स्वभाव ऐसा अनीश्वर – स्वतन्त्र है कि वह अन्य किसी को भी ईश्वरता नहीं देता । आत्मा की स्वतंत्रता का प्रताप अखण्डित है ।

समयसार के परिशिष्ट में आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है; उनमें एक 'प्रभुत्वशक्ति' है, जिसके द्वारा आत्मा की प्रभुता बताई है । और यहाँ प्रवचनसार परिशिष्ट में ४७ नयों में अनीश्वरनय से आत्मा की स्वतंत्रता का वर्णन करके आत्मा की प्रभुता बताई है । स्वतन्त्रता से शोभित होना प्रभुता का लक्षण है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञानी के अन्तर में स्वयं की प्रभुता का विश्वास नहीं है और भिखारिन की भाँति पराश्रयबुद्धि – पर से मांगने की बुद्धि छूटती नहीं है। एक भिखारिन को राजा ने अपनी रानी बनाकर राजमहल में बुला लिया; परन्तु उसकी माँगने की आदत नहीं गई, अतः वह राजमहल में भी भोजन को एक कोने में रखकर उस कोने से ही भीख मांगती, कहती – 'कोई मुझे खाने को दे दो, तुम्हारा भगवान भला करेगा आदि-आदि।' इसप्रकार भीख मांगने के बाद भोजन करती। इसीप्रकार अज्ञानी जीव भगवान के समोशरणरूपी महल में गया और भगवान ने उसे उसकी प्रभुता बताई और कहा – 'हे आत्मा ! तेरी प्रभुता तेरे पास है, इसलिए पराश्रय से लाभ होता है – ऐसा भिखारीपन छोड़'; परन्तु उस अज्ञानी जीव को आत्मा की स्वाधीन प्रभुता रुचती नहीं है और परद्रव्य से – व्यवहार से लाभ होता है – ऐसी पराश्रयरूप बुद्धि मिटती नहीं है।

यहाँ अनीश्वरनय से आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता समझा रहे हैं कि हे भाई ! तू स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है, तू स्वयं ही स्वयं का प्रभु है, तेरे आत्मा का स्वामी तेरे अलावा दूसरा कोई नहीं है। तेरे आत्मा में कर्म की ईश्वरता तो है ही नहीं, पर तीर्थंकर भगवान की प्रभुता भी तेरे आत्मा में नहीं है। उनकी प्रभुता उनमें है और तेरी प्रभुता तुझमें है।

आत्मा की पर्याय में जितना परवशपने अर्थात् जितना पर के आश्रय से विकार होता है, उतनी पराधीनता है; पर उसीसमय स्वभाव की स्वाधीन प्रभुता भी आत्मा में पड़ी ही है। ईश्वरनय से आत्मा की परतन्त्रता को जानते समय भी ज्ञानी के स्वभाव की स्वतन्त्र प्रभुता का भान छूटता नहीं है और पर्यायबुद्धि होती नहीं है। तथा अज्ञानी स्वभाव की प्रभुता को नहीं जानता, मात्र पर्याय को ही जानता है; अतः उसके पर्यायबुद्धि ही बनी रहती है।

वह सम्पूर्ण आत्मा को पर्यायमात्र ही मानता है, इसलिए उसे नय या प्रमाण कुछ भी नहीं होता है।

एक आत्मा में स्वाधीनरूप धर्म हो और दूसरे आत्मा में पराधीनरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म हो – इसप्रकार ये दो धर्म पृथक्-पृथक् दो आत्माओं में नहीं हैं; बल्कि ये दोनों धर्म एक ही आत्मा में हैं। ईश्वरनय से देखो या अनीश्वरनय से देखो या प्रमाण से देखो; परन्तु अन्तरंगदृष्टि में तो आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वरूप ही दिखाई देता है।

आत्मा के धर्म तो अनन्त हैं, पर आत्मा तो एक ही है – ऐसे आत्मा को प्रमाण से अथवा प्रमाणपूर्वक किसी नय से देखो तो अन्तरंग में शुद्धचैतन्यमात्र ही दिखाई देता है। 'कर्म के आधीन होकर आत्मा संसार में रखड़ रहा है' – ऐसा ईश्वरनय से आत्मा को पराधीन कहा है; परन्तु यहाँ अकेली मात्र पराधीनता बताने का उद्देश्य नहीं है, बल्कि यहाँ तो मात्र क्षणिक पराधीनता का ज्ञान कराके शुद्धचैतन्यद्रव्य के सन्मुख कराने का तात्पर्य है।

भाई ! परद्रव्य से तेरा कल्याण होता है या परद्रव्य से तेरा कल्याण रुकता है, तुझे ऐसी मिथ्याबुद्धि छोड़ दे। तुझे कोई दूसरा डुबा देगा या उबार लेगा, वस्तु के स्वरूप में ऐसा है ही नहीं। तेरे आत्मा में ऐसी स्वन्तत्र प्रभुता है कि वह किसी दूसरे से बड़ा नहीं होता और ना ही कोई दूसरा उसका स्वामी होता है। अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्यायरूप जो शुद्ध कार्य हुआ, उसके कारणरूप स्वयं ही कारणपरमात्मा है। अन्य कोई उसका कारण नहीं है। – इसप्रकार अनीश्वरनय से तू अपने आत्मा की स्वतन्त्रता – ईश्वरता को जान।

वर्तमानपर्याय स्वभावसन्मुख ढलते ही अन्तर की आनन्द शक्ति को चीरकर, प्राप्तकर आत्मा स्वयं स्वतन्त्रपने उस आनन्द को भोगता है। जिसप्रकार सिंह स्वतन्त्रपने हिरण को चीरकर खाता है, उसीप्रकार अनन्त पराक्रम का स्वामी आत्मा स्वयं स्वयं की स्वतन्त्रता से निजानन्द को भोगनेवाला है। उसके ऊपर दूसरा कोई ईश्वर – प्रभु नहीं है अर्थात् आत्मा अन्य किसी के आधीन नहीं है।

आत्मा को अपने आनन्द को भोगने में विघ्न करनेवाला इस ब्रह्माण्ड

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में कोई है ही नहीं। जिसप्रकार जंगल का राजा शेर जंगल की डरपोक हिरणियों को मारकर स्वेच्छापूर्वक खाता है, उसीप्रकार चैतन्यराजा अन्तर्स्वरूप में एकाग्रतापूर्वक मोह को मारकर स्वेच्छापूर्वक अपने आनन्द को भोगता है – ऐसा आत्मा का एक धर्म है। जो ऐसे अपने आत्मा को देखता है, वह फिर पराश्रित नहीं रहता।

धर्मी जीव जानता है कि जगत में किसी भी द्रव्य, गुण या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि जो मेरी स्वतन्त्रता को लूट ले। मैं अनीश्वर हूँ – इसका तात्पर्य यह है कि मेरे ऊपर कोई ईश्वर नहीं है। मैं ही मेरे घर का ईश्वर हूँ। मेरे से बड़ा ऐसा कोई ईश्वर जगत में नहीं है, जो मेरे स्वाधीन स्वभाव को लूटकर मुझे पराधीन बनाबे।

देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा के केवलज्ञानादि पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो गया है, इसलिए वे परमेश्वर है; परन्तु उनकी ईश्वरता उनके आत्मा में है, मुझमें उनकी कोई ईश्वरता नहीं है। शक्ति-अपेक्षा तो मेरा आत्मा और तीर्थंकर भगवान का आत्मा एक से ही हैं। मेरे आत्मा में भी तीर्थंकर भगवान जैसा ईश्वरपना स्वभावतः विद्यमान है।

विनय से धर्मात्मा भी ऐसा कहते हैं कि अहो ! हमारे नाथ तो तीर्थंकर परमात्मा हैं, हमें तीर्थंकर परमात्मा जैसा स्वामी मिल गया है, अब हमें चिन्ता किस बात की ? परन्तु उसी समय उनके अन्तर में ऐसा भान वर्तता है कि परमार्थ से तो मेरा स्वामी मैं ही हूँ। – ऐसे अनुपचार स्वरूप के भान सहित भगवान को स्वामी कहना वह उपचार है।

हे वीतराग चैतन्यमूर्ति आत्मा ! जब मैंने अन्तर्दृष्टि से तुझे देखा, तुझे स्वीकार किया अर्थात् जब चैतन्य परमेश्वर भगवान को दृष्टि में लिया; तब मेरा दुःख तथा दुर्भाग्य सब दूर हो गया और मुझे मेरे आत्मा की आनंदसम्पदा प्राप्त हो गई – ऐसी दृष्टिपूर्वक भगवान को स्वामी कहे तो ईश्वरनय लागू पड़ता है। परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का धनी अथवा स्वामी है – ऐसा ही माने तो उसे द्रव्य की स्वतन्त्रता का भान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं रहता; क्योंकि यह तो एकान्त है अर्थात् ऐसे जीव के तो नय भी लागू नहीं होते।

आत्मा के द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों स्वतन्त्र हैं – इसप्रकार स्वतन्त्रता की प्रतीतिपूर्वक शुद्धचैतन्यद्रव्य का अनुभव करना ही सभी नयों का फल है।

जिसप्रकार जंगल में हिरण को फाड़कर खानेवाला सिंह किसी अन्य के आधीन नहीं है, उसीप्रकार स्वभावसन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द को भोगनेवाला आत्मा किसी अन्य के आधीन नहीं है; काल के आधीन नहीं है, धर्मद्रव्य के आधीन नहीं है, निमित्त के आधीन नहीं है; बल्कि स्वाधीन है – इसप्रकार आत्मा अनीश्वनय से स्वयं ही स्वयं का नाथ है, अन्य कोई उसका नाथ नहीं है।

प्रश्न – स्त्री के माथे तो धनी – स्वामी होता है, तब फिर उस पर यह बात कैसे लागू पड़ेगी।

उत्तर – अरे भाई ! यह बात सभी आत्माओं को लागू पड़ती है। सभी आत्मा स्वभाव से स्वाधीन चैतन्यमूर्ति हैं। स्त्री तथा पुरुष – ये तो दोनों देह के नाम हैं, परन्तु स्त्रीदेह में रहनेवाला आत्मा भी अपने स्वभाव का इसप्रकार भान कर सकता है कि अनीश्वयनय से मैं स्वाधीन हूँ, मेरा कोई धनी – स्वामी नहीं, राग के कारण जगत में दूसरे को धनी कहा जाता है; परन्तु उसी समय ज्ञानी के अन्तरंगदृष्टि में तो निरन्तर एक ही प्रतीति वर्तती है कि मैं स्वयं चैतन्य परमेश्वर हूँ। मेरे आत्मा के सिवाय अन्य कोई मेरा ईश्वर या स्वामी नहीं है।

अरे, आठ बरस की बालिका को जब सम्यग्दर्शन होता है, तब उसे भी इसप्रकार का भान रहता है कि मैं लड़की– स्त्री नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ, मेरी प्रभुता मेरे में है, जगत में अन्य कोई मेरी आत्मा का स्वामी नहीं है। उस सम्यग्दृष्टि बालिका को ऐसा भान होते हुए भी वह शादी-ब्याह भी करती है और अपने पति को स्वामी कहकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संबोधती भी है, पर उसके अन्तर से अपनी आत्मा की ईश्वरता – प्रभुता का भान नहीं मिटता।

सेठ मिथ्यादृष्टि हो और नौकर सम्यग्दृष्टि हो अथवा राजा मिथ्यादृष्टि हो और दीवान सम्यग्दृष्टि हो। तो सम्यग्दृष्टि नौकर मिथ्यादृष्टि सेठ से और सम्यग्दृष्टि दीवान राजा से ऐसा भी कहें कि तुम हमारे स्वामी हो; परन्तु पर्याय में राग होने से जितनी पराधीनता है, उसका ज्ञान धर्मी जीव को रहता है, साथ में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का ज्ञान रहता है; क्योंकि ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। जहाँ अपने द्रव्यस्वभाव की त्रिकाली ईश्वरता से चूके बिना मात्र पर्याय की पराधीनता सम्बन्धी ईश्वरता पर को देता है, वहाँ तो ईश्वरनय सच्चा है; परन्तु जो स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करे, उसे ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है, वह तो पर्याय में मूढ़ ही होने से मिथ्यादृष्टि है।

स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करनेवाला तो स्वभावसन्मुख होता ही नहीं है।

आरम्भ में आचार्यदेव ने कहा था कि आत्मा श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभवपूर्वक जाना जाता है। इसप्रकार जो आत्मा को जानता है, उसे ही सम्यक्नय होते हैं; क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। जिसने अन्तर्मुखदृष्टि करके अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मा का अनुभव किया है, उसने ही निज ईश्वर का साक्षात्कार किया। अपना शुद्धात्मा ही चैतन्य परमेश्वर है; स्वसंवेदन अनुभव से उसका अनुभव करना ही ईश्वर का साक्षात्कार है। इसके अलावा अन्य कोई ईश्वर दर्शन देने नहीं आता।

इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमेश्वर साक्षात् विराजमान हैं, उनकी समोशरण सभा में बैठे गणधरदेव भी भक्ति से भगवान को ऐसा कहते हैं कि हे नाथ! हे प्रभो!! आप हमारे तीर्थपति हो, आप ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हमारे ईश्वर हो; परन्तु ऐसा कहते हुए भी उनकी दृष्टि अपने निज चैतन्यस्वभाव पर ही रहती है। उनकी मान्यता तो ऐसी ही होती है कि मैं तो अनंतधर्मों का पिण्ड शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ, स्वाधीन हूँ, मेरा मेरे सिवाय अन्य - दूसरा कोई नाथ नहीं है।

–ऐसा भान अंतरंग में धर्मात्मा को ईश्वरनय के समय भी वर्तता है।

जो प्राप्त हुए की रक्षा और अप्राप्त की प्राप्ति कराता है, उसे नाथ कहा जाता है।

आत्मा अपने स्वाश्रय से प्राप्त सम्यग्दर्शन आदि की स्वभावदृष्टिपूर्वक स्वयं की रक्षा करता है एवं जो अभी प्राप्त नहीं हुआ है – ऐसा सम्यक्चारित्र व केवलज्ञान आदि स्वयं ही अन्तःस्वभाव में एकाग्र होकर प्राप्त करता है। – इसप्रकार आत्मा स्वयं ही स्वयं का हित करनेवाला है, इसलिए भगवान आत्मा स्वयं ही स्वयं का नाथ है।

ज्ञानी जीव भी भक्ति आदि के समय तीर्थंकर भगवान को भी अपना नाथ कहते हैं, पर वह निमित्त अपेक्षा किया गया कथन है। स्याद्वाद अनुसार कथन चाहे जिस नय से किया गया हो, उसमें कोई विरोध नहीं आता। स्याद्वादी ज्ञानी धर्मात्मा किसी भी नय से अथवा प्रमाण से देखें, उन्हें तो अपना आत्मा शुद्धचैतन्यमात्र स्वरूप ही अन्तर में दिखाई देता है। जो अन्तर्दृष्टि पूर्वक ऐसे आत्मा को देखते हैं, उसे ही आत्मा दिखाई देता है।

– इसप्रकार अनीश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३६

गुणीनय

गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद् गुणग्राहि ।

आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है । शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार की भांति ।

जिसप्रकार छात्र का यह धर्म है – स्वभाव है कि शिक्षक उसे जो सिखाता है, वह उसे सीख लेता है अर्थात् छात्र में ऐसी योग्यता है कि अध्यापक जो शिक्षा देता है, छात्र उसे ग्रहण कर लेता है । इसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानी गुरु के निमित्त से जो बोध – ज्ञान पाता है, वह उसे ग्रहण कर लेता है । – ऐसा गुणग्राही आत्मा का एक धर्म है और वह गुणीनय का विषय है ।

सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रहण करने में ज्ञानी गुरु तो निमित्त हैं, परन्तु यह गुणग्रहण करने का नैमित्तिक धर्म तो आत्मा में ही है । अमुक गुरु के पास सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और अमुक गुरु के पास सम्यक्चारित्र प्राप्त किया – ऐसा कहा जाता है; परन्तु गुणों को ग्रहण करने की सामर्थ्य किसकी है ? गुणग्राही धर्म तो जीव का ही है । इसलिए गुणीनय में भी निमित्ताधीनपना नहीं है । – यह नय् भी आत्मा के ही धर्म को देखता है, दिखाता है ।

यहाँ जो गुणग्राही कहा है, सो गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रादि गुण ही जानना चाहिए । इन गुणों को गुरु के पास से ग्रहण करने की सामर्थ्य आत्मा की है । जिस गुरु के निमित्त से इन गुणों का ग्रहण किया जाता है, उस गुरु के पास भी तो सम्यक्त्वादि गुण होना चाहिए । अज्ञानी – मिथ्यादृष्टि कुगुरु के पास तो सम्यग्दर्शनादि कोई भी गुण नहीं होते हैं, इसलिए उसके पास से तो गुणों का ग्रहण कहाँ से होगा ?

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो ऐसा मानता है कि अज्ञानी के पास भी कोई न कोई गुण तो होता ही है; अतः हमें तो उससे गुणग्रहण करना चाहिए, उसके दोषों पर ध्यान नहीं देना चाहिए । परन्तु ऐसा माननेवाला वास्तविक गुणों को नहीं जानता है और वह आत्मा के गुणग्राही धर्म को भी नहीं जानता – ऐसे जीव को गुणीनय नहीं होता ।

जिसने सम्यग्दर्शनादि गुणों को ग्रहण किया हो, वह निमित्त अपेक्षा यह कह सकता है कि अहो ! मैंने अपने गुरु के पास से गुणग्रहण किया, मेरे गुरु ने मुझे सम्यदर्शन दिया और ऐसे जीव को ही गुणग्राहीनय होता है; परन्तु जिसने अभी सच्चे गुरु को ही नहीं जाना, कोई गुण ही ग्रहण नहीं किया, उसके तो 'गुणों का ग्रहण किया' – ऐसा कहना उपचार से भी नहीं होता अर्थात् उसके गुणग्राहीनय नहीं होता ।

देखो, यहाँ ऐसा भी कहा है कि श्रीगुरु जो कुछ भी समझाते हैं, उस सबको ग्रहण करने की ताकत आत्मा की है । अर्थात् 'अत्यन्त सूक्ष्म बात को आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता हो' – ऐसा नहीं है । तात्पर्य यह है कि चाहे जितनी सूक्ष्म बात हो, उसे समझने की ताकत आत्मा की है। सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक सभी गुणों को ग्रहण करने की ताकत आत्मा में है ।

'आत्मा गुणग्राही है' – इसलिए गुण को ग्रहण करने का तो उसका स्वभाव है, पर दोष को या पर को ग्रहण करने का उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा दोषों को तथा निमित्तों को जानता तो है, पर ग्रहण नहीं करता । वह तो सम्यग्दर्शनादि गुणों को ग्रहण करता है; क्योंकि इन गुणों का ग्रहण तो स्वभाव के आश्रय से ही होता है । इसलिए गुणीनय में भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय करने का ही अभिप्राय प्रगट किया गया है ।

'निमित्त अपेक्षा शिष्य गुरु से ग्रहण करता है' – इससे यह समझना चाहिए कि 'गुरु जैसा समझता है, वह वैसा समझ जाता है । वह ज्ञानी गुरु के अभिप्राय से किंचित् भी विपरीत नहीं समझता । श्रीगुरु कहें कुछ और शिष्य ग्रहण करे कुछ – ऐसा नहीं होता है; परन्तु जैसा श्रीगुरु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहते है, शिष्य भी वैसा ही ग्रहण करता है । – ऐसा उसका गुणग्राही धर्म होता है । श्रीगुरु आत्मा के शुद्धास्वभाव पर वजन देते हैं तो शिष्य भी शुद्धास्वभाव को समझकर ग्रहण कर लेता है । श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव तूने स्वयं की भूल से अनंतभवों में परिभ्रमण किया है, परन्तु अभी तेरी सामर्थ्य ऐसी है कि तू एक अर्न्तमुर्हूत आत्मा में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है । अतः तू ऐसे निजस्वभाव का विश्वास कर ! तेरा भवभ्रमण मिट जायेगा । यहाँ तो यह कह रहे हैं कि श्रीगुरु द्वारा दिये इस उपेदश को ग्रहण करने की सामर्थ्य शिष्य की है । जैसे ब्लेटिंक पेपर (स्याही चट्टा) का स्वभाव स्याही को सोक लेने का – पी लेने का है । इसीप्रकार आत्मा का ऐसा गुणग्राही स्वभाव है कि श्रीगुरु जो भी उपेदेश देते हैं, शिष्य उसे ग्रहण कर अपने में गुण प्रगट कर लेता है।

गुणीनय से ऐसा कहा गया है कि आत्मा गुरु से गुण ग्रहण करे – ऐसा गुणग्राही है; परन्तु ऐसा कहे जाने पर भी धर्मी ऐसा जानता है कि यह गुणग्राही धर्म भी मेरे आत्मद्रव्य का ही है । मेरा धर्म कोई गुरु के आधार से नहीं रहता । इसलिए मुझे मेरे आत्मसन्मुख ही होना चाहिए ।

इसप्रकार धर्मीजीव नयों द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण धर्मों को स्वसन्मुख करके अन्तर में अपने आत्मा को शुद्धचैतन्यस्वरूप ही देखता है । जो जीव शुद्धचैतन्य मात्र आत्मा पर दृष्टि करता है, उसे ही नयों का ज्ञान सच्चा होता है ।

जैसे उष्णता अग्नि का ज्ञान कराती है, क्योंकि उष्णता अग्नि का स्वभाव है । इसीप्रकार यह गुणग्राही धर्म वस्तु को बताता है, क्योंकि यह वस्तु का धर्म है – स्वभाव है । यह धर्म निमित्त को नहीं बताता है, यह निमित्त का धर्म नहीं है । यह धर्म तो धर्मी ऐसे आत्मद्रव्य को ही बताता है ।

'यह धर्म इस आत्मा का है' – इसप्रकार नयों का ध्येय भी शुद्धात्मा को ही लक्ष्य में लेने का है । किसी भी नय का काम पराश्रित करने का नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'आत्मा गुणग्राही है' – इसका अर्थ यह नहीं है कि परद्रव्य में से गुण ग्रहण करना है, क्योंकि परद्रव्य में तो आत्मा का कोई गुण है ही नहीं। 'परद्रव्य में से मेरा गुण आयेगा' – ऐसा मानकर पर की तरफ ही देखा करे तो उसे कभी भी सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट नहीं हो सकते।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि सामनेवाला जीव भले मिथ्यादृष्टि हो, परन्तु अपने को तो सभी में से गुण ही ग्रहण करना है; परन्तु इसका नाम गुणग्राहीपना नहीं है – यह तो विनयमिथ्यात्व है।

– ऐसे जीव को तो सच्चे-झूठे का भी विवेक नहीं है।

श्रीगुरु के बताये अनुसार समझकर अपने स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट करना – इसका नाम गुणग्राहीपना है।

गुणीनय की अपेक्षा शिष्य ऐसा कहता है कि 'हे प्रभो ! हम कुछ जानते नहीं थे, आपने सूक्ष्म चैतन्यतत्त्व की शिक्षा देकर हमारा उद्धार कर दिया। आपने हमें आत्मविद्या सिखाई है। परन्तु ऐसा कहते हुए भी उसे सदा ही इसका ध्यान रहता है कि गुणों को ग्रहण करने का स्वभाव तो मेरा ही है। इसप्रकार वह स्वाश्रयपूर्वक अपने में गुण प्रगट कर लेता है।

यहाँ तो चारों ही ओर से जीव को स्वाश्रित करने का उद्देश्य प्रगट किया गया है। आत्मा को देखनेवाला श्रुतज्ञान अनन्तनयात्मक है। उनमें से यथार्थ दृष्टिपूर्वक किसी भी नय से देखो तो आत्मा अनन्त केवलज्ञान का कन्द ही दिखाई देगा, आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड शुद्ध चैतन्यमूर्ति ही दिखाई देगा।

विनयवान शिष्य गुणीनय से ऐसा कहता है कि हे प्रभो ! हम कहाँ खड़े थे और धीरे-धीरे वहाँ से हटाकर आप हमें कहाँ ले आये, आपने तो हमारा जीवन ही बदल दिया है। यदि आप न मिले होते तो हम धर्म कैसे पाते। दर्शनसार में आचार्य देवसेन ने भी कहा है कि 'श्री सीमन्धर भगवान से प्राप्त तत्त्वज्ञान द्वारा यदि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने हमें बोध न दिया होता, तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते।' – ऐसे गुणीनय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के समय भी धर्मी जीव के अन्तर में ऐसा भान रहता है कि गुणों को ग्रहण करनेवाला धर्म तो मेरा स्वयं का है। धर्म को देखनेवाला नय वर्तमान ज्ञान है, और वर्तमान ज्ञान द्वारा त्रिकालीस्वभाव को लक्ष्य में लेना, वह नय का फल है।

मूल ध्येय तो अखण्डानन्द ध्रुव चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा है, उसके अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। उसी के अवलम्बन से ही पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञान होता है। चाहे जिस नय तथा धर्म का वर्णन किया गया हो, पर मूल ध्येय को लक्ष्य में रखकर ही सम्पूर्ण बात की गई है।

गुणीनय से ऐसा कहा है कि आत्मा गुरु के पास से गुण ग्रहण् करता है, आत्मा में ऐसा गुणग्राही धर्म है।

यहाँ एक प्रश्न है कि वह धर्म किसका है, गुरु का या आत्मा का ? तो इसका उत्तर इसप्रकार है कि यह धर्म आत्मा का है। तात्पर्य यह हुआ कि गुण प्राप्त करके के लि आत्मसन्मुख ही होना है, भले ही कथन निमित्त की तरफ से किया गया हो। इसलिए धर्मीजीव की दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही आश्रय होता है।

गुणीनय में द्रष्टान्त शिक्षक द्वारा कुमार को शिक्षा देने का दिया गया है। उसमें शिक्षा लेनेवाला तो कुमार है न ? अत: शिक्षा ग्रहण करने की ताकत तो कुमार में है। इसीप्रकार सिद्धान्त में समझना चाहिए कि गुरु सिखाता है और शिष्य उन गुणों को ग्रहण कर लेता है। वहाँ गुणों को ग्रहण करने का धर्म शिष्य का है, शिष्य ही अपनी ताकत से गुरु के उपदेश द्वारा गुण ग्रहण कर लेता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जैसी शिक्षा गुरु देते हैं, शिष्य उसे उसीप्रकार ग्रहण करे – ऐसा आत्मा का एक धर्म है। ऐसे धर्म को देखनेवाले का भी अनन्तधर्मों के धर्मी आत्मद्रव्य की ओर झुकाव होना चाहिए, परद्रव्य तथा निमित्त की ओर नहीं। यहाँ निमित्त का ज्ञान कराके निमित्त से भेदज्ञान कराया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विकल्प के समय गुणीनय से शिष्य ऐसा कहता है कि गुरु के पास से गुण ग्रहण किये । अब आगे अगुणीनय में यह कहेंगे कि विकल्प के समय भी आत्मा उस विकल्प को अथवा निमित्त को ग्रहण नहीं करता, परन्तु उसीसमय विकल्प तथा निमित्त दोनों को साक्षीपने जानने का धर्म भी जीव में है ।

अभी यहाँ गुणीनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ ।

आत्मा का अद्‌भुत वैभव

(पृथ्वी)

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतः द्यृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्‌भुतं वैभवम् ।।

श्लोकार्थ : अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्‌भुत वैभव है कि - एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त करता है और एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है, एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है ।

आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश - २७३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३७

अगुणीनय

अगुणीनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि।

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है, जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है – ऐसे कुमार को देखने वाले पुरुष की भांति।

यहाँ अगुणीनय का अर्थ दोषसूचक नहीं है, परन्तु वह तो साक्षीपने का सूचक है। गुरु महाराज से ज्ञान करूँ – ऐसा निमित्त का विकल्प आता है, पर आत्मा मात्र उसके विकल्प ही किया करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। विकल्प तथा वाणी दोनों के साक्षीपने रहने का आत्मा का धर्म है।

भगवान या सन्तों की वाणी झेलकर (सुनकर) आत्मा गुण ग्रहण करता है – ऐसा कहनेवाला गुणीनय भी आत्मा को ही बताता है और यह आत्मा किसी अन्य द्रव्य से कुछ भी सीखता नहीं है – ऐसा कहनेवाला यह अगुणीनय भी आत्मा को ही बताता है।

त्रिलोकीदेव तीर्थंकर भगवान की दिव्यवाणी को सुनकर पात्र-जीवों को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो जाती है, गणधरदेव द्वादशांग की रचना कर देते हैं, वहाँ तो आत्मा ने परद्रव्य में से गुण ग्रहण किया ?

नहीं; उस समय भी आत्मा का स्वभाव साक्षी रहने का है। दिव्यध्वनि का भी साक्षी, गुरु के उपदेश का भी साक्षी और उस समय जो विकल्प वर्तता हो, उसका भी साक्षी – ऐसा आत्मा का स्वभाव है – धर्म है। पर में कुछ तो गुण मिलेंगे – धर्मी ऐसा नहीं मानता और ना ही वह पर के लिए विकल्प खड़े करता है। विकल्प के समय भी उसे अपने साक्षी स्वभाव की प्रतीति रहती है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साक्षीपना और गुणग्राहीपना दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही हैं सम्यक्नय की अपेक्षा देखने पर परस्पर विरुद्ध धर्मों को एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं आता, परन्तु यथार्थ वस्तुस्वरूप की सिद्धि में कारण है। नयों की विवक्षा विरोध की कारण नहीं है, परन्तु विरोध को मिटाकर ज्ञान की स्पष्टता में ही कारण है।

आत्मद्रव्य अनन्तधर्मात्मक है। श्रुतज्ञानप्रमाण अनन्तनयात्मक है। – ऐसे श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभवपूर्वक आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।

अनन्तधर्मों–स्वरूप चैतन्यद्रव्य को जाननेवाले अनन्तनय हैं, उनमें से यहाँ अगुणीनय से आत्मा के साक्षीधर्म का वर्णन चल रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक द्वारा कुमार शिक्षा प्राप्त करता हो और उसीसमय कोई दूसरा मनुष्य वहाँ खड़ा-खड़ा देख रहा हो, उसमें कुमार तो शिक्षा ग्रहण करनेवाला है और उसे देखनेवाला दूसरा मनुष्य तो मात्र साक्षी है। कुमार की समझ में आता है तो वह प्रसन्न होता है और यदि उसकी समझ में नहीं आता तो वह दुखी होता है; परन्तु जो मध्यस्थस्वभाव से देखनेवाला दूसरा पुरुष है, वह तो दोनों ही अवस्थाओं का साक्षी है अर्थात् वह तो उसे साक्षीभाव से मात्र जानता ही है।

उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा साक्षीपने जाननेवाला है। विकल्प उठने पर गुरु आदि निमित्तों पर ध्यान जाता है – इसलिए गुणग्राही कहा – ऐसा एक आत्मा में धर्म है। तथा विकल्परहित मात्र साक्षीपने रहे, शुद्धचेतनापने रहे – ऐसा साक्षी स्वभाव भी आत्मा में है। गुणग्राहीपने में विकल्प है तथा साक्षीपने में विकल्प नहीं है। वाणी का साक्षी, विकल्प का साक्षी, सम्पूर्ण जगत का साक्षी – ऐसा आत्मा का स्वभाव है, जो कि अगुणीनय का विषय है।

यहाँ ३७वें नय में साक्षीपने की अपेक्षा यह है कि आत्मा पर से गुणग्रहण नहीं करता, बल्कि उसको मात्र साक्षीभाव से जानता है।

३९वें नय में साक्षीपने की अपेक्षा यह है कि आत्मा राग का कर्त्ता नहीं है, बल्कि उसे मात्र साक्षीभाव से जानता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४१वें नय में साक्षीपने की अपेक्षा यह है कि आत्मा हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है, बल्कि उसे मात्र साक्षीभाव से जानता है।

– इसप्रकार इसमें तीनप्रकार से आत्मा को साक्षी बताया है।

देखो, आत्मा का साक्षीस्वभाव ! निमित्त का साक्षी, कर्म का साक्षी, उदय का साक्षी, देह के ऊपर घोर उपसर्ग आ जाय, उसका भी साक्षी, अल्प राग-द्वेष हो, उसका भी साक्षी – इसप्रकार आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण जगत को साक्षीपने जानने का है, जगत में कुछ फेर-बदल करने का नहीं। 'राग-पर्याय का क्रम बदल दूँ' – यह बात भी साक्षीपने में नहीं रहती।

अहो ! ऐसे साक्षीस्वभाव को स्वीकार करके जैसा साक्षीपना है, उसे देखो, उसमें कहीं फेर-फार नहीं होना है। यदि तेरा फेर-फार करने का अभिप्राय है, तो तेरा ज्ञान मिथ्या हो जायेगा।

परद्रव्य में तो फेर-फार होता ही नहीं है, परन्तु पर्याय में भी फेर-फार नहीं होता, वह भी अपने क्रम में जो होनी होगी, वही होगी, उसे आगे-पीछे करना सम्भव नहीं है; क्योंकि जो पर्याय हो चुकी है, वह तो फिरती नहीं है। और जो पर्याय अभी हुई ही नहीं है, उसमें कुछ फेर-फार करना सम्भव नहीं है। इसलिए हे भव्य ! तू तो साक्षीपने प्रेक्षक ही रह, क्योंकि ऐसा तेरा स्वभाव है – धर्म है।

यहाँ साक्षीपना कहकर आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वभाव ही बताया है।

आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि वह किसी दूसरे से गुणों का ग्रहण नहीं करता; परन्तु साक्षीपने ही रहता है और आत्मा के इस धर्म को विषय बनानेवाला अगुणीनय है।

गुणीनय से गुण ग्रहण करने का विकल्प होता है, परन्तु उसीसमय धर्मी को साक्षीस्वभाव का भान वर्तता है। इसलिए उसे विकल्प की मुख्यता नहीं होती, परन्तु साक्षीस्वभाव की ही मुख्यता होती है। अतः उसकी पर्याय में प्रतिक्षण साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है और विकल्प टूटते जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साधकजीव को अगुणीनय हमेशा भले न रहता हो, पर साक्षीपने का परिणमन तो सदा ही वर्तता है; क्योंकि नय तो उस तरफ उपयोग लगाने पर ही होता है।

– इसप्रकार यहाँ अगुणीनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

समय का सार

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति॥

अर्थ : दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो यह एक नियत (निश्चय) मोक्षमार्ग है, उसी में जो पुरुष स्थित रहता है, उसी का निरन्तर ध्यान करता है, उसी को चेतता है - उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है वह पुरुष जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समय के सार को अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

- आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश - २४०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

कर्तृनय

कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ।

आत्मद्रव्य कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादिपरिणाम का कर्ता है ।

'मैं अनंतगुणों का पिण्ड शुद्ध चिदानंदस्वभावी हूँ, मेरे शुद्धचैतन्यद्रव्य में राग का अंश भी नहीं है, इसलिए मेरे स्वरूप में राग का कर्त्तापना भी नहीं है' – ऐसी अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, साधक-जीव पर्याय में होनेवाले अल्पराग को अपना परिणमन जानता है; इस अल्पराग के परिणमन वाले साधकजीव के कर्तृनय होता है ।

जो रागरहित चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से रहित मात्र अकेले राग के कर्तृत्व में ही अटक जाता है, उसे कर्तृनय नहीं होता ।

आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सके – आत्मा में ऐसा धर्म त्रिकाल नहीं है, इसीप्रकार परद्रव्य जीव को रागादिरूप परिणमावे – ऐसा धर्म भी आत्मा में नहीं है और ना ही ऐसा कोई धर्म परद्रव्य में ही है ।

जो राग जीव की पर्याय में होता है, उसका कर्ता कौन है ? यहाँ तो यह बात चल रही है कि राग जीवद्रव्य का परिणमन है, इसलिए उसका कर्ता जीव ही है । कर्म के उदय में विकार होता है – शास्त्रों में निमित्त की अपेक्षा ऐसा कथन भले किया गया हो, पर वहाँ यह विचार करना चाहिए कि विकार होने का धर्म किसमें है और विकाररूप परिणमा कौन है ? आत्मा स्वयं पर्याय में विकाररूप परिणमा है, इसलिए वह आत्मा का ही धर्म है और आत्मा ही उसका कर्ता है; कर्म उसका कर्ता नहीं है ।

यह साधक के नयों की बात है, सिद्ध भगवान को तो राग भी नहीं है और नय भी नहीं है । जिसे अभी कमजोरी के कारण पर्याय में राग होता है, वह साधकजीव कर्तृनय से ऐसा जानता है कि जो मेरी पर्याय में यह

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राग होता है, 'उसका कर्ता मैं ही हूँ अन्य दूसरा कोई उसका करनेवाला अथवा करानेवाला नहीं है। इसीप्रकार मेरे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में इस राग का कर्तापना भी नहीं है। – ऐसा जानना अनेकान्त है।

समयसार के परिशिष्ट में जो ४७वें शक्तियों का वर्णन किया है, वे शक्तियाँ तो त्रिकाली स्वभावरूप धर्म है; वहाँ भी ४२वीं शक्ति में कर्तृत्त्वशक्ति का वर्णन किया है, वह कर्तृत्त्वशक्ति तो संसारी तथा सिद्ध सभी जीवों में है। और यहाँ कर्तृत्त्वनय से जो कर्तापने का वर्णन किया, उसमें तो मात्र राग के कर्तापने की बात है, वह त्रिकाली-स्वभावरूप धर्म नहीं है, पर वह तो एक क्षणवर्तीपर्याय का धर्म है और वह पर्याय आत्मा की है, इसलिए उसे आत्मा का धर्म कहा जाता है।

प्रश्न – राग करना तो दोष है, फिर यहाँ उसे आत्मा करता है – ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर – राग आत्मा का त्रिकाली स्वभावरूप धर्म नहीं है और ना ही राग मोक्षमार्गरूप धर्म है; परन्तु राग आत्मा की पर्याय में होता है, इसलिए राग को आत्मा का धर्म कहा। जबतक राग जीव की अपनी पर्याय में रहता है, तबतक राग आत्मा का अपना धर्म है और उस राग का कर्ता आत्मा है। कर्तृनय से राग के कर्तापने को जाननेवाला, वास्तव में तो राग का साक्षी ही होता है; क्योंकि आत्मा की दृष्टि क्षणिक पर्यायगत राग के कर्तत्त्व के समय भी अपने अन्य अनन्तधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यपिण्ड पर ही रहती है, राग पर नहीं रहती।

'जिस समय शुभ–अशुभ भाव होना है, वे तो उस समय होंगे ही, उनका काल नहीं बदलता' – ऐसा जानकर जो जीव उनका ज्ञाता – साक्षी रहता है अर्थात् वह राग में न अटककर शुद्धचैतन्यस्वभाव के सन्मुख हो जाता है, उसके रागादिक स्वयमेव घटते जाते हैं। अतः वे जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं और जो शुभ-अशुभ भावों को बदलने की मिथ्याबुद्धि करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि होते हैं।

चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टिपूर्वक राग को साक्षीभाव से जानते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहने पर राग टूट जाता है। आत्मा की पर्याय में राग होता है, अत: आत्मा राग का कर्त्ता है और राग आत्मा का धर्म है; परन्तु उस राग को साक्षी भाव से जानते रहना भी आत्मा का धर्म है।

यहाँ प्रमाण के विषयभूत सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को बताया जा रहा है; परन्तु उन सामान्य-विशेषात्मक दोनों धर्मों को जानते हुए ज्ञान का बल त्रिकाली शुद्धद्रव्य पर ही रहता है और पर्याय में से राग का कर्त्तापना टल जाता है।

राग का कर्त्ता व्यवहार है और राग का अकर्ता अर्थात् साक्षी निश्चय है।

प्रश्न – पहले व्यवहार होता है या निश्चय ?

उत्तर,– साधकजीव को दोनों एकसाथ होते हैं; परन्तु उनमें निश्चय की मुख्यता होती है, व्यवहार गौण होता है; इसीलिए साधक के स्वभावदृष्टि के सहारे पर्याय में राग का कर्तापना टलता जाता है और साक्षीभाव बढ़ता जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा में अनंतधर्म हैं, उनमें एक कर्ता नाम का धर्म है, उससे आत्मा रागादि के कर्तापने परिणमता है, कोई परद्रव्य उसे रागादिरूप परिणमा देता हो – ऐसा नहीं है। 'कर्म आत्मा को विकार कराता है' जिसकी ऐसी मान्यता है, वह आत्मा के कर्तृत्वधर्म को नहीं जानता।

प्रश्न – रागादि के करनेरूप धर्म यदि आत्मा का है, तब फिर रागादि का अभाव कैसे होगा ? वे तो सदा ही होते रहेंगे।

उत्तर – नहीं; ऐसा नहीं है। आत्मा का रागादि के करनेरूप धर्म अनादि-अनंत नहीं है, परन्तु मात्र साधक अवस्था के समय ही है। तथा 'यह धर्म आत्मा का है' – ऐसा जाने तो आत्मद्रव्य को भी जाने और रागादि का साक्षी हो जाय। 'आत्मा रागादिरूप होता है' – ऐसे आत्मा के धर्मपूर्वक आत्मा को जाननेवाले की दृष्टि एक गुण पर नहीं रहती, अपितु अनंतगुणों के पिण्ड चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पर स्थिर हो जाती है और वह रागादि का भी साक्षी हो जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो राग के कर्तापनेरूप क्षणिक धर्म को जानता है, वह त्रिकाली धर्मी को भी जानता है और त्रिकालीद्रव्य में तो राग का अकर्तापना है; अत: उसकी मुख्यता में राग का कर्तापना पर्याय में से अल्पकाल में टल जाता है। जबतक पर्याय में राग होता है तबतक ही यह धर्म होता है, इसके बाद कर्तृनय भी नहीं होता और राग का कर्तृत्त्व भी नहीं होता।

जिसप्रकार रंगरेज रंग के कार्य का करनेवाला है, उसीप्रकार आत्मा अपनी पर्याय में जबतक राग से युक्त है, तबतक वह राग का कर्ता है – ऐसा उसका कर्तृधर्म है; ऐसे कर्तृधर्म को स्वीकार करनेवाले की दृष्टि अनन्तधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर होती है।

सिद्ध भगवान के कर्म का उदय नहीं है, अत: उन्हें विकार नहीं होता और संसारी के कर्म का उदय है, अत: उसे विकार होता है; इसलिए 'कर्म के उदयानुसार ही विकार होता है' – ऐसा माननेवाले की मान्यता सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि यदि कर्म के उदयानुसार ही विकार हो तो तीव्र मिथ्यात्व के उदय में मंद मिथ्यात्वरूप परिणमन करना जीव के हाथ में न रहे, अशुभ के उदय में शुभरूप परिणमन करना जीव के हाथ में न रहे। अरे ! अनादि निगोद में से निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त होना भी संभव न रहे; क्योंकि निगोदवासी जीव के तो सदा ही स्थावर नामकर्म का उदय वर्तता है, अत: वह तो निगोद से निकलकर कभी भी त्रस हो ही नहीं सकता। इसलिए यह मान्यता तो महाविपरीत है कि जीव को विकार कर्मोदयानुसार ही होता है। – ऐसी मान्यतावाले जीव का अभिप्राय तो ऐसा है कि 'यदि मेरे तीव्र मिथ्यात्व का उदय हो, तब तो मुझे तीव्र मिथ्यात्व करना ही पड़ेगा।' पर यह सर्वथा मिथ्या है।

यहाँ आचार्य अमृतचंद्रदेव ने तो स्पष्ट खुलासा किया है कि 'कर्म के उदयानुसार विकार नहीं होता'; परन्तु जीव के कर्तृधर्म के अनुसार ही विकार होता है अर्थात् जीव अपने रागपरिणामन का ही कर्ता है। 'कर्म विकार कराता है' – ऐसा तो नहीं है, परन्तु "मैं राग का कर्ता हूँ" इसप्रकार राग को मुख्य करने की भी बात नहीं है। यहाँ तो मात्र इतनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बात है कि 'साधकजीव अनंतधर्मात्मक शुद्धचैतन्यद्रव्य को जानता है और वह उस शुद्धद्रव्य की दृष्टिपूर्वक पर्यायगत राग का ज्ञान करता है।' उसकी दृष्टि का जोर शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही होने से उसके अल्पकाल में परिणमन छूटकर दिव्यमहिमायुक्त केवलज्ञान प्रगट हो जाता हे।

यथार्थनय से धर्म को देखने पर धर्म का आधारभूत धर्मी भी दृष्टि में आता ही है अर्थात् स्वभावसन्मुखता होने से अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती – इसप्रकार सम्यक्नयों का फल मोक्ष है।

'कर्तृनय से आत्मा विकार का कर्ता है' – ऐसा कहा; परन्तु विकार सन्मुखता से यह धर्म नहीं जाना जाता, यह तो आत्मसन्मुखता से ही जाना है; क्योंकि यह धर्म भी तो आत्मा से बाहर नहीं है। इसलिए आत्मा के किसी भी धर्म को स्वीकार करनेवाले की बाह्यदृष्टि नहीं रहती।

विकार का परिणमन पर के कारण नहीं, वह आत्मद्रव्य के कर्तृधर्म के कारण होता है; – ऐसे नयज्ञानपूर्वक ज्ञानी आत्मसन्मुख होता है। अतः उसके राग के कर्तापने की प्रमुखता नहीं रहती, उसे तो आत्मद्रव्य की ही मुख्यता रहती है। – इसप्रकार जो शुद्धस्वभावसन्मुख दृष्टिपूर्वक पर्याय में राग के कर्तापने का ज्ञान करता है, उसे कर्तृनय होता है; अन्य किसी के भी कर्तृनय नहीं होता।

'नय' सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य की किरण है। नय अज्ञानी के नहीं होता। शरीर आदि परद्रव्य का कर्ता तो आत्मा कर्तृनय से भी नहीं है। वह तो मात्र अपनी पर्याय में रागादि का कर्ता है और यह कर्तापना भी त्रिकाली स्वभाव नहीं है। जबतक जीव रागपने परिणमता है, तबतक ही उसके कर्तापना है और स्वभावदृष्टि में तो उस समय भी शुद्धचेतना का कर्तापना वर्तता है। आत्मा को कर्तृनय से देखनेवाला भी यह रागादि का कर्ता ही रहेगा। कर्तृनयवाले के भी प्रतिक्षण रागादि का कर्तापना घटता जाता है और साक्षीपना बढ़ता जाता है।

'राग के करनेरूप भी आत्मा का एक धर्म है' – ऐसा कर्तृनय से जाननेवाला भी अन्तर में उस धर्म द्वारा धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यतत्त्व को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखता है – जानता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृनय का फल राग का कर्तापना नहीं है, पर शुद्धचैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से राग का अभाव करना है।

प्रश्न – समयसार में तो ऐसा कहा है कि 'आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, वह राग का कर्ता नहीं है; राग का कर्ता तो पुद्गल है।' और यहाँ कहा है कि 'राग का कर्तापना, वह आत्मा का धर्म है' – इन दोनों कथनों का सुमेल किसप्रकार है ?

उत्तर – समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्गल का कार्य कहा है और यहाँ प्रमाण के विषय में पर्याय का ज्ञान कराने के लिए राग को आत्मा का कार्य कहा; परन्तु दोनों में विपरीतता नहीं है, दोनों का तात्पर्य एक ही है। 'राग का कर्ता आत्मा नहीं है'– ऐसा कहकर समयसार में शुद्ध द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन है और यहाँ 'कर्तृनय से राग का कर्ता आत्मा है' – ऐसा कहकर उस धर्म द्वारा भी धर्मी ऐसे शुद्धचैतन्यद्रव्य का ही लक्ष्य कराने का प्रयोजन है।

शास्त्रों की कथनशैली में भले अन्तर हो, पर उनके फल में अन्तर नहीं होता। फल तो अन्तर में शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति ही है। यहाँ कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा; पर यहाँ राग के कर्तापने में अटकने का प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन तो उस धर्म के धारक त्रिकाली आत्मद्रव्य के अनुभव रूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कराने का ही है।

प्रश्न – कर्तृनय से रागादि का करनेवाला कौन है ?

उत्तर – कर्तृनय से रागादि का करनेवाला आत्मद्रव्य है।

प्रश्न – तो कर्तृनय से देखनेवाले की दृष्टि किस पर गई ?

उत्तर – कर्तृनय से देखनेवाले की दृष्टि अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य पर गई है।

यही बात पहले भी अनेक स्थानों पर अत्यन्त स्पष्ट एवं विशेषरूप से कहते आये हैं कि 'अनन्तधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि करना – अनुभव करना ही सम्पूर्ण नयों का परमार्थ तात्पर्य है।'

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में लिया, तब राग का कर्तापना अधिक काल तक रहे – ऐसा होता ही नहीं है, उसके तो अल्पकाल में ही राग का परिणमन छूट जाता है।

कर्तृनय से आत्मा राग का कर्ता है, अतः आत्मा अनादि-अनंत राग का ही कर्ता रहेगा – ऐसा नहीं है, क्योंकि इस धर्म को जाननेवाला भी अकेले धर्म को ही नहीं जानता; परन्तु धर्मी – ऐसे शुद्धात्मा को भी जानता है और शुद्धात्मा को जाननेवाला राग में अटकता नहीं अर्थात् 'मैं रागरूप ही रहूँगा' – ऐसी प्रतीति नहीं करता, उसे तो ऐसी निशंकता है कि 'मैं मेरे चैतन्यस्वभावपने परिणमन से अल्पकाल में ही राग का अभाव करूँगा। अभी जितना रागपने परिणमन है, उतना मेरा धर्म – पर्यायगत स्वभाव है। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि 'राग जीव का भाव है' बल्कि रागरूप आत्मा स्वयं परिणमा है, अतः उसे आत्मा का धर्म कहा है। – ऐसा धर्मी जानता है। परन्तु 'मैं सदा रागरूप ही परिणमन करूँगा। – ऐसा नहीं है। धर्मी जीव अन्तर में निजात्मद्रव्य को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है और उसे राग अत्यन्त तुच्छ भासित होता है। इसलिए उसका राग टल ही जाता है। आत्मद्रव्य की दृष्टिपूर्वक कर्तृनय से राग का कर्ता माननेवाले के राग अधिक कालतक नहीं रहता, बल्कि स्वभावदृष्टि के कारण अल्पकाल में ही छूट जाता है।

यहाँ कोई यह कहे कि 'कर्म आत्मा को विकार तो नहीं कराता, परन्तु कर्तृनय से आत्मा विकार करता है' – ऐसा हमने मान लिया। तो उससे पूछना चाहिए कि हे भाई ! तूने किस के आश्रय से ऐसा माना है, विकार के आश्रय से या आत्मद्रव्य के आश्रय से ? विकार के ऊपर दृष्टि रखने से तो आत्मा का यथार्थज्ञान होता नहीं है और आत्मद्रव्य सम्मुख दृष्टि करने से आत्मा के अनन्तधर्मों का यथार्थज्ञान होता है। इसलिए कर्तृनय से राग का कर्तापना जाननेवाले की दृष्टि भी शुद्धात्मद्रव्य पर ही रहती है और जिसकी दृष्टि शुद्धात्मा पर होती है, उसके विकार के कर्तृत्व का अभाव होकर अल्पकाल में वीतरागता प्रगट हो जाती है। इसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्तधर्मों के पिण्डरूप शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में रखकर समझने पर सम्पूर्ण नयों का – कथनों का यथार्थ तात्पर्य समझ में आ जाता है।

– इसप्रकार कर्तृनय से आत्मद्रव्य का वर्णन पूर्ण हुआ।

जैसा कर्म वैसा कर्ता

(सवैया इकतीसा)

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
दुहूं कौ करतार जीव ओर नहि मानिये।
कर्मपिंड कौ विलास वर्न रस गंध फांस,
करता दुहूं कौ पुद्गल परवानिये॥
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुद्गलरूप जानिये।
समल बिमल परिनाम जे जे चेतन के,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये॥

अर्थ : शुद्ध चैन्यभाव और अशुद्ध चैतन्यभाव दोनों भावों का कर्त्ता जीव है, दूसरू नहीं है। द्रव्यकर्म परिणति और वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इन दोनों का कर्त्ता पुद्गल है; इससे वर्ण-रसादि गुण सहित और शरीर और ज्ञानावरणादि कर्म-स्कंध इन्हें अनेक प्रकार की पुद्गल पर्यायें जानना चाहिये। आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध जो-जो परिणाम हैं वे सब अमूर्तिक आत्मा के हैं, ऐसा परमेश्वर ने कहा है।

- पण्डित बनारसीदास, समयसार नाटक,
कर्त्ता-कर्म-क्रियाद्वार, छन्द - १२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३९

अकर्तृनय

अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि।

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष की भांति केवल साक्षी है।

जिसप्रकार रंगरेज अपने रंगाई के काम में प्रवृत्त हो और उसे कोई अन्य पुरुष देखता हो तो देखनेवाला पुरुष रंगाई के कार्य को जानता तो है, पर वह उसका कर्ता नहीं होता, वह तो उसका साक्षी ही रहता है। उसीप्रकार अकर्तृनय से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं, साक्षी ही रहता है।

यहाँ परद्रव्य की बात नहीं है, आत्मा पर का तो अकर्ता ही है; परन्तु जो अपनी पर्याय में राग होता है, उसका भी अकर्ता – साक्षी ही है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। राग के समय भी राग का अकर्तारूप स्वभाव आत्मा में विद्यमान है।

पहले राग का कर्तारूप धर्म कहा था और यहाँ राग का अकर्तारूप धर्म कहा जा रहा है। ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न आत्माओं के धर्म नहीं हैं, एक ही आत्मा में दोनों धर्म एक ही साथ रहते हैं। जिससमय पर्याय में राग है, उसीसमय द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा रागादिरूप परिणमा ही नहीं है।

यहाँ आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है, आत्मा अनन्तधर्मों के स्वभाववाला शुद्ध चैतन्यस्वरूप धर्मी है, ऐसे धर्मी आत्मा की दृष्टिपूर्वक प्रत्येक धर्म का ज्ञान ही नय है।

समयसार में जो यह कहा गया है कि अज्ञानदशा में मिथ्यादृष्टि जीव राग का कर्ता होता है और भेदविज्ञान होने पर सम्यग्दृष्टि जीव रागादि का अकर्ता होता है। यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि सम्यग्दृष्टि जीव भी स्वयं पर्याय में होनेवाले राग का कर्ता है और उसीसमय उस राग का अकर्ता भी है – इसप्रकार दोनों धर्म उसमें एकसाथ ही हैं।

जिससमय कर्तृनय से ज्ञानी पर्याय के राग का कर्तापना जानता है, उस समय भी उसकी दृष्टि में आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वभाव भासित होता है अर्थात् उस समय भी उसके राग का अकर्तापना वर्तता है। विकार मेरा अंश है, पर विकार पूर्ण अंशी नहीं है। पूर्ण स्वरूप अंशी तो अनंतधर्मात्मक चैतन्यपिण्ड है – ऐसा जाननेवाला चैतन्यस्वभाव की प्रधानता में राग का साक्षी ही रहता है और उसी के अकर्तृनय होता है।

सम्पूर्ण धर्मों के आधारभूत निजात्मद्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मीजीव अपने आत्मा के धर्मों को जानता है। अकर्तृनय से आत्मा को राग का अकर्ता – साक्षीरूप भी जानता है और कर्तृनय से राग परिणाम का कर्ता भी जानता है; परन्तु उसकी दृष्टि में तो शुद्धचैतन्य की ही प्रधानता होने से पर्याय में से राग का कर्तापना छूटता जाता है और साक्षीपना बढ़ता जाता है।

रंगरेज की रंगाई का काम अच्छा हो तो उसे राग होता है ओर खराब हो तो उसे द्वेष होता है; परन्तु जो उस काम को मध्यस्थपने देखनेवाला पुरुष है, उसे न राग होता है और न द्वेष; वह तो मात्र साक्षीपने जानता ही है। इसीप्रकार आत्मा में एक ऐसा अकर्तास्वभाव है कि वह राग का कर्ता नहीं होता, मात्र साक्षी ही रहता है। वह तो मात्र जिस समय जैसा राग होता है, उस समय वैसे राग को जान लेता है, परन्तु 'इस समय ऐसा ही राग हो' ऐसा अभिप्राय नहीं करता, मात्र जानता ही रहता है।

कर्तृनय से राग का कर्ता और उसीसमय अकर्तृनय से राग का साक्षी – इसप्रकार दोनों धर्मों को एक साथ धारण करनेवाला आत्मा अनेकान्त स्वभावी है। ऐसे धर्मों से आत्मा को जानने पर वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है, परन्तु मात्र राग के कर्तापने से वीतरागी दृष्टि प्रगट नहीं होती।

एक आत्मा में एकसाथ अनंतधर्म रहते हैं। जिससमय आत्मा पर्याय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपेक्षा रागपने परिणमता है, उसीसमय द्रव्यस्वभाव से रागपने नहीं परिणमता । 'आत्मा रागपने परिणमता ही नहीं है' इसप्रकार सर्वथा एकांतशुद्ध माननेवाला अज्ञानी है और आत्मा सर्वथा रागपने ही परिणमता है, राग के अकर्तारूप रहना आत्मा का साक्षीस्वभाव ही नहीं है – ऐसा माननेवाला भी अज्ञानी ही है ।

साधकजीव ऐसा जानता है कि मेरी पर्याय में राग का परिणमन है और उसीसमय स्वभावदृष्टि से मैं रागपने परिणमा ही नहीं हूँ । अतः उससमय भी वीतरागी साधकदशा का परिणमन बढ़ता जाता है । साधकजीव जिस क्षण राग परिणाम के कर्तापने को जानता है, उसी क्षण स्वभाव के आधारभूत रहनेवाला राग का अकर्तापन वीतरागी साक्षीपन बढ़ता जाता है; क्योंकि यदि राग के कर्तापने के समय ही राग के अकर्तारूप वीतरागता का परिणमन न वर्तता हो तो साधकपना ही न रहे ।

प्रश्न – ३७वें नय द्वारा भी साक्षीधर्म कहा था और इस ३९वें नय द्वारा भी साक्षीधर्म कहा – इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर – ३७वें नय में तो गुणग्राहीपने के विकल्प के विरुद्ध साक्षीपना बताया था और यहाँ ३९वें नय में राग के कर्तापने के विरुद्ध साक्षीपना बताया है तथा आगे ४१वें नय में जो साक्षीपना कहेंगे, वहाँ हर्ष-शोक के भोक्तापने के विरुद्ध साक्षीपना कहा है – इसप्रकार ३७, ३९ व ४१ नम्बर के नयों में कहे हुए तीनों साक्षीधर्मों में विवक्षा भेद है; पर तात्पर्य तो तीनों का एक ही है ।

(१) गुणग्राहीपने के विकल्प के समय शुद्धस्वभाव की दृष्टि से साधकजीव को साक्षीपना बढ़ता जाता है, वहाँ विकल्प की मुख्यता नहीं होती ।

(२) राग के कर्तापने को जानते समय शुद्धस्वभाव की दृष्टिपूर्वक साधकजीव को साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, वहाँ राग की मुख्यता नहीं होती ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(३) ४०वें नय में हर्ष-शोक का भोक्तापना कहेंगे, उसको जानते समय भी साधक को स्वभाव दृष्टिपूर्वक साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, वहाँ उसके हर्ष-शोक के भोक्तापने की मुख्यता नहीं होती।

नय कथन में मुख्यता-गौणता होती है, पर परिणमन में मुख्यता - गौणता नहीं होती। जैसे कर्तानय और अकर्तानय ऐसे दो नय एकसाथ नहीं होते, पर इन दोनों नयों के विषयरूप धर्म एकसाथ होते हैं।

साधकजीव जब कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता देखता है, तब भी अकर्ता – साक्षीभावरूप वीतरागता का परिणमन तो वर्त ही रहा है। उससमय अकर्तानय भले न हो, पर साक्षीधर्म तो है ही। सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभ राग के समय उसके अकर्तापने का परिणमन तो हो ही रहा है।

प्रश्न – उक्तप्रकार से अकर्तापने का परिणमन किस कारण होता है?

उत्तर – त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी द्रव्य राग का अकर्ता और पर्याय अपेक्षा क्षणिक राग का कर्ता – इसप्रकार जब दोनों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक पर्याय ज्ञायकस्वभावसन्मुख हुई, तब उसके आश्रय से अकर्तापने परिणमन शुरु हुआ और राग का कर्तापना छूटने लगा। साधकजीव को दृष्टि अपेक्षा तो राग का कर्तापना सर्वथा छूट गया है, परन्तु परिणमन में क्रम-क्रम से छूटता है; अतः साधक के नय हैं। तथा अज्ञानी सर्वथा राग के कर्तापने में ही अटका रहता है। और उसके अकर्तापना – साक्षीपना किंचित् भी नहीं होता। अतः वह एकान्तदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है, इसलिए उसके एक भी नय सच्चा नहीं है – एक भी नय नहीं है; क्योंकि एक नय के समय अन्य दूसरे नयों की विवक्षा का ज्ञान भी साथ में होता है, अतः वे ही नय सम्यक् होते हैं।

आत्मा का रागरूप परिणमना तथा रागरूप नहीं परिणमना – दोनों पृथक्-पृथक् धर्म हैं। उनमें से राग के कारण नहीं, बल्कि राग के अकर्ताधर्म के कारण आत्मा निश्चय रत्नत्रयरूप परिणमता है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के राग से निश्चय रत्नत्रय प्राप्त करता है – ऐसा नहीं है; क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय का राग तो कर्ताधर्म में जाता है और निश्चय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रत्नत्रय तो राग के अकर्ताधर्मरूप है। इसलिए वे दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं। आत्मा में अनंतधर्म हैं, वे पर के कारण तो हैं ही नहीं, एक धर्म के कारण भी दूसरा धर्म नहीं है।

कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा था। वहाँ जितना राग है, उतना बाधकपना है; परन्तु उसीसमय साधकपना – राग का अकर्तापना भी मौजूद ही है। राग का कर्तापना वह बाधकपना है और उसीसमय चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक राग के साक्षीपनेरूप साधकपना भी है – ऐसे साधकपने में ही नय होते हैं और साधकजीव उन नयों द्वारा वस्तु को साधते हैं।

अनंतधर्मात्मक वस्तु की अपेक्षा तो सभी धर्म सापेक्ष हैं और धर्म की अपेक्षा प्रत्येक धर्म निरपेक्ष है। तात्पर्य यह है कि एक धर्म दूसरे धर्म के कारण नहीं होता। यदि धर्मों में परस्पर ऐसी निरपेक्षता न हो तो अनंतधर्म ही साबित नहीं हों अर्थात् वस्तु ही साबित नहीं हो। कर्ताधर्म के कारण अकर्ताधर्म नहीं है, अकर्ताधर्म स्वतन्त्र है। आत्मा का रागपने परिणमन तो कर्ताधर्म है और उसीसमय रागरहित ज्ञायकपने – साक्षीपने परिणमन अकर्ताधर्म है – इन दोनों का एकसाथ स्वतन्त्र परिणमन हो रहा है।

वस्तु का परिणाम वस्तु से जुदा नहीं होता। जिस क्षण परिणाम (पर्याय), होता है, उसी क्षण आत्मा उसका कर्ता होता है; उसके कर्ता देव-शास्त्र-गुरु अथवा कर्मोदय आदि निमित्त नहीं होते और इसीप्रकार राग के कर्तापने के कारण अकर्ताधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनादि नहीं होते।

केवली-श्रुतकेवली के समीप क्षायिकसम्यग्दर्शन होता है, वह कहीं निमित्त या राग के कारण नहीं होता; परन्तु वह तो अपने अकर्तारूप स्वभाव से ही होता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन होने से पूर्व जितनी मलिनता थी, उतना कर्ताधर्म था और क्षायिकसम्यक्त्व की निर्मलता होते ही उस मलिनता का अभाव होकर अकर्तारूप साक्षीपने का परिणमन हुआ। क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होने पर शुद्धता के साथ-साथ कुछ अंशों में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशुद्धता भी रहती है। शुद्धता व अशुद्धता दोनों जीव के धर्म होने पर भी शुद्धता के कारण अशुद्धता नहीं होती। राग के परिणमन के समय ही ज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से राग का अकर्तारूप परिणमन भी रहता ही है। यदि उसका राग के समय अकर्तारूप साक्षीधर्म का परिणमन न हो तो उस जीव को शुद्ध द्रव्यस्वभाव का ही ज्ञान नहीं है और वह साधक भी नहीं है – ऐसा जानना।

आत्मा पर की क्रिया का तो साक्षी है ही, अपने आत्मा में शुभाशुभ राग का भी साक्षी है। राग के समय ही जिसे ऐसा ज्ञान होता है कि मेरा ज्ञायकस्वभाव इस राग से भिन्न है, वही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से राग का साक्षी रह सकता है। मिथ्यात्वी जीव तो एकांत परसन्मुखता या रागसन्मुखता में ही अटका है, अतः उसे साक्षीपने का भान नहीं है और नय भी नहीं है। साधकजीव अपने आत्मा की ओर दृष्टि रखकर राग का साक्षी रहता है। अतः उसे ही नय होते हैं।

'राग का होना' पर्याय का स्वभाव है, जो राग जिस पर्याय में होता है, वह उसी पर्याय का स्वभाव होता है, उसके अलावा अन्य पर्यायों में उसका अभाव है। क्षणिक पर्यायधर्म होने से राग का अभाव हो जाता है। यदि वह आत्मा का नित्यस्वभाव हो तो उसका कभी अभाव ही न हो। राग को क्षणिक पर्याय का धर्म कहने में यह बात भी आ गई कि राग पर के या कर्मोदय के कारण नहीं होता।

एक द्रव्य का धर्म – स्वभाव अन्य द्रव्य से नहीं हो सकता। पर्याय में राग और उसी समय राग का साक्षीपना – ये दोनों धर्म साधक के एक साथ होने पर भी एक के कारण दूसरा धर्म नहीं है।

राग है, इसलिए आत्मा उसे जानता है ?

नहीं, राग के कारण साक्षीधर्म नहीं है, साक्षीपना एक स्वतन्त्र धर्म है।

जो जीव मोक्षमार्ग की साधना करते हैं – ऐसे मोक्षमार्ग के साधकों की यह बात है। जो केवल परसन्मुखता में ही अटके हैं, उन्हें तो राग के साथ एक-मेकरूप मिथ्यात्व ही होता है, उन्हें साक्षीपना नहीं है; अतः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नय भी नहीं हैं।

जिस समय राग होता है, साधक उसी समय राग से भिन्न रहकर राग के साक्षीपने परिणमता है, उसमें राग के कारण साक्षीपना नहीं है; क्योंकि यदि कोई धर्म किसी अन्य धर्म के कारण हो तो उस अन्य धर्म के अभाव में उस धर्म का भी अभाव होगा अर्थात् वह धर्म स्वतंत्र सिद्ध नहीं होता। वस्तु की अपेक्षा तो सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, परन्तु वे सभी धर्म अपने आप में स्वतन्त्र हैं – निरपेक्ष हैं।

' जिसप्रकार आत्मा स्वपने है और परपने नहीं हैं ' – इसप्रकार का भेद दोनों के धर्मों को पृथक्-पृथक् जानने से होता है। अर्थात् मेरे धर्म मेरे में हैं और परवस्तु के धर्म पर में हैं। इसप्रकार दोनों के धर्मों की भिन्नता का निर्णय करे तो उन दोनों के बीच विद्यमान भिन्नता दिखाई देती है। वस्तु के धर्म वस्तु को पर से भिन्न दिखाते हैं; परन्तु जो ऐसा मानता है कि मेरे धर्म पर के कारण है और पर के धर्म मेरे कारण हैं, उसे दो वस्तुओं के बीच भेद दिखाई नहीं देता।

इसीप्रकार एक वस्तु के दो धर्मों के बीच विद्यमान भेद को इसप्रकार जाना जा सकता है कि दोनों धर्म एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु में एक साथ अनेक धर्म हैं, परन्तु उन अनेक धर्मों में एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है ऐसे अनन्तधर्मात्मक आत्मा को न देखकर जो मात्र अकेले राग के कर्तापने को ही देखता है और साक्षीरूप अकर्तास्वभाव को नहीं देखता, उसने तो आत्मा को देखा ही नहीं है, एकान्त राग को ही देखा है। इसलिए उसे आत्मा की सिद्धि – अनुभूति नहीं होती।

नय सम्यग्ज्ञान के अंश होते हैं। राग के कर्तापने को जाननेवाला जो ज्ञान का अंश है, वह भी राग का साक्षी ही रहता है। वह ज्ञान राग के साथ एकमेक नहीं हो जाता, पर राग से भिन्न ही रहता है और उसी समय राग के अकर्तारूप निश्चयस्वभाव का भान भी साथ में ही रहता है। इसप्रकार साधक जीव के निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ होते हैं। पहले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यवहार हो और बाद में निश्चय हो – ऐसा नहीं है। क्षणिकपर्याय में राग का कर्ता वह व्यवहार है और त्रिकाली स्वभाव से राग का अकर्ता, वह निश्चय है। यह दोनों अपने-अपने कारण एकसमय में ही होते हैं।

यहाँ कोई ऐसा कहे कि पहले व्यवहार होता है, फिर वही व्यवहार निश्चय का कारण होता है, तो उससे कहते हैं कि यह बात मिथ्या है।

राग के कर्तारूप व्यवहार के समय ही जो अकर्तास्वभाव का भान न वर्तता हो तो उसे राग के साथ एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व ही वर्तता है। उसकी दृष्टि एकांत राग के ऊपर ही पडी है। इसलिए उसके नय भी सच्चे नहीं होते। मात्र राग का ही कर्ता होकर कर्ता-अकर्ता दोनों ही धर्मों को नहीं जाना जा सकता; परन्तु निज शुद्धचैतन्य की दृष्टि करने से आंशिक राग का अकर्ता हो जाता है और आंशिक राग का कर्ता भी होता है – इसप्रकार साधक को दोनों धर्मों का यथार्थज्ञान होता है।

प्रश्न – यह बात किसकी समझ में आती है ?

उत्तर – जो शिष्य जिज्ञासापूर्वक पूछता है कि हे प्रभो ! आत्मा कौन है, उसका क्या स्वरूप है व उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसे आसन्नभव्य आत्मार्थी आत्म-पिपासु जीव को ही यह बात समझ में आती है, वही इस बात को रुचिपूर्वक सुनता है – समझता है। जिसे आत्मा की जिज्ञासा – रुचि नहीं है, वह तो यह बात सुनने खड़ा ही नहीं होता अर्थात् सुनने को ही तैयार नहीं होता।

आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसप्रकार विनय से पूछनेवाले शिष्य को आत्मा समझने की जिज्ञासा है। सच्चे गुरु की श्रद्धा है, उसके कुदेवादि की मान्यता छूट गई है, स्वर्गादि की इच्छा रही नहीं है। उसे तो मात्र एक आत्मा के आनंद की ही भावना है। ऐसे सुपात्र जीव को यहाँ आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप समझाते हैं तथा इस उपदेश के अनुसार आत्मा का स्वभाव समझकर वह जीव साधक हुए बिना नहीं रहता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! देख तो सही, तेरी पर्याय में जिस क्षण राग होता है, उसी समय उस राग से भिन्न साक्षीपने रहने का भी तेरा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव है । राग का कर्तृत्व तो क्षणिक है, वह तेरा सदा रहनेवाला स्वभाव नहीं है । हे भाई ! तुम तो अनंतधर्मों के पिण्डस्वरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्य हो । कर्तृनय से राग के कर्तृत्व का धर्म कहा – इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि जो राग होना होता है, वह होता है; आत्मा सदा ही राग का कर्ता नहीं रहता; क्योंकि यदि एकांत राग को ही देखे और उसी समय मौजूद अनंतधर्मों के पिण्ड आत्मा को नहीं देखे, तो वह तो एकांतवादी मिथ्यादृष्टि है । उसे तो कर्तृनय की भी खबर नहीं है । जो जीव अनंतधर्म सम्पन्न चैतन्यपिण्डरूप आत्मस्वभाव को देखता है, वह जीव अकेले राग में नहीं अटकता है, वह भले ही कर्तृनय से राग का कर्तापना जानता हो, पर उसमें अटकता नहीं है ।

जिस क्षण राग होता है, उसी क्षण स्वद्रव्य का वजन होने से आत्मा राग से भिन्न साक्षीपने परिणमता है । इसप्रकार साधकजीव को दोनों धर्म एकसाथ ही परिणमते हैं; परन्तु उसमें भी साक्षीपना तो बढता जाता है, रागांश घटता जाता है तथा अल्पकाल में कर्तृत्वभाव टल जाता है और साक्षात् अकर्ता – साक्षीस्वरूप हो जाता है ।

समयसार परिशिष्ट में वर्णित ४७ शक्तियों में भी अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि 'आत्मा ज्ञाता है, ज्ञाता के अलावा रागादि परिणामों का कर्ता नहीं है' – ऐसी आत्मा में एक अकर्तृत्वशक्ति है ।

जिसप्रकार यहाँ ३८ व ३९वें नय द्वारा कर्ताधर्म तथा अकर्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन किया । इसीप्रकार आगे ४० व ४१वें नय द्वारा भोक्ताधर्म तथा अभोक्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन करेंगे ।

यहाँ ३९वें अकर्तृनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४०

भोक्तृनय

भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुखादिभोक्तृ ।

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुख-दुखादि का भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भांति ।

जो भावलिंगी मुनिदशा में वर्त रहे हैं, जो अन्दर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोग कर रहे हैं, जो क्षणभर पहले निर्विकल्प होकर आत्मा के आनंदस्वरूप में झूल रहे थे – ऐसे दिगम्बर संतों का यह कथन है ।

यहाँ ४७ नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन चलता है । जिसे अन्तर्मुख आत्मस्वभाव के अवलम्बन से सम्यक् भावश्रुतज्ञान हुआ हो, उसे ही सच्चे नय होते हैं । अभी तो यहाँ भोक्तानय से आत्मा का वर्णन किया जा रहा है ।

भोक्तानय से आत्मा सुख-दुख को भोगता है । लोक में हर्ष को सुख व शोक को दुख कहा जाता है । ये सुख–दुख दोनों ही विकार हैं । जिसप्रकार रोगी हितकारी-अहितकारी अन्न खाता है और उनके फलरूप साता-असाता को भोगता है, उसीप्रकार आत्मा हर्ष-शोक के विकारी परिणाम करता है और उनके फलरूप सुख-दुख को भोगता है ।

'कर्मोदय के निमित्त से हर्ष-शोक का भोगना होता है'– ऐसा नहीं है; परन्तु जीव की पर्याय में ही वैसा भोक्ताधर्म है । जड़कर्म्म का कोई धर्म आत्मा में नहीं है और आत्मा का कोई धर्म जड़कर्म में नहीं है ।

जो जीव हर्ष-शोक जड़कर्म के कारण मानते हैं, वे आत्मा के धर्म को पर के कारण मानते हैं; अत: उन्होंने तो आत्मा को जाना ही नहीं है । इसीप्रकार 'आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तापना सर्वथा है ही नहीं'– ऐसा माने तो उसने भी आत्मा के भोक्ताधर्म को नहीं माना, वह

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी मिथ्यादृष्टि है।

जिसप्रकार आत्मा का भोक्ताधर्म पर के कारण नहीं है, उसीप्रकार आत्मा पर का भोक्ता भी नहीं है; परन्तु अपनी अवस्था में हुए हर्ष-शोक ही भोगता है – ऐसा उसका एक धर्म है।

कोई कहता है कि आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का भोगना किस कारण होता है ? क्या कर्मोदय के कारण होता है ?

नहीं, कर्मोदय के कारण नहीं होता; परन्तु उस समय (वर्तमान में) आत्मा में ही ऐसा भोक्ताधर्म है तथा वह किसी अन्य के कारण नहीं है।

यहाँ पुनः कोई पूछता है कि यह धर्म किस कारण है ?

तो कहते हैं कि जैसे आत्मा सत् है, उसीप्रकार उसके धर्म भी सत् हैं। पर्याय में भी एक-एक समय का सत्पना है। सत् के सन्दर्भ में 'ऐसा क्यों' इसप्रकार प्रश्न नहीं होता।

यहाँ प्रमाण के विषयरूप वस्तु का वर्णन है। इसलिए द्रव्य तथा पर्याय दोनों के धर्मों का वर्णन किया जा रहा है। इन धर्मों में कितने ही धर्म तो त्रिकाल होते हैं और कितने ही धर्म त्रिकाल नहीं होते, मात्र पर्यायविशेष के अनुसार ही होते हैं; त्रिकाली धर्म हो या पर्यायविशेषरूप धर्म हो, दोनों धर्म आत्मा के ही हैं; कोई भी धर्म पर का नहीं है, पर के कारण नहीं है।

जब द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से आत्मा का वर्णन चलता है, तब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा अपने शांत, अनाकुल, अतीन्द्रिय, आनन्दस्वभाव का भोक्ता है, विकार का भोक्ता नहीं है।

सम्यग्दर्शन में तो शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति है। उसके ध्येयरूप भगवान आत्मा में विकार नहीं है और वह तो एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वभाव को ही स्वीकार करती है; परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, वह सामान्य-विशेष रूप वस्तु को जानता है। पर्याय की अशुद्धता को भी वह आत्मा जानता है। पर्याय में जो हर्ष-शोकरूप विकार होता है, उसका भोक्ता भी आत्मा है। – ऐसा भोक्तृनय से सम्यग्ज्ञानी जानता है। सामान्य ध्रुव चैतन्यस्वभाव शुद्ध है, उसके निर्णय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूर्वक हुआ सम्यग्ज्ञान हर्षादिभावों का वेदन भी अपनी पर्याय में धर्म तरीके करता है – जानता है। स्वभावदृष्टि की प्रधानता में तो विकार वह कर्म का ही कार्य है, आत्मा का धर्म नहीं है – ऐसा भी कहा जाता है; परन्तु प्रमाणज्ञान तो जैसी पर्याय है उसे वैसा ही जानता है। 'भोक्तृनय से आत्मा ही विकार का भोक्ता है' – ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है। इसीप्रकार जिस अपेक्षा जहाँ जैसा कथन किया गया हो, वहाँ वैसा जानना चाहिए।

' विकार जड़ का है ' ऐसा कहनेवाले की दृष्टि अपने ज्ञानानंदस्वभाव पर होनी चाहिए। अकेले जड़ या विकार के ऊपर दृष्टि रखकर विकार को जड़ का कहे और अपनी पर्याय का विवेक भी न करे तो उसका तो ज्ञान ही खोटा है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है; परन्तु ज्ञान तो द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय बनाकर वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा देखता है। पर्याय में विकार है, उसे भी जानना है और अविकारी स्वभाव को भी जानना है – इसप्रकार दोनों को जानकर शुद्धनय के अवलम्बन के बल से सम्यग्ज्ञानी स्वभाव को साधता जाता है और विकार को टालता जाता है।

भोगने में आनेवाला कर्म तो जड़ है, आत्मा से भिन्न है। आत्मा उसे नहीं भोगता; परन्तु आत्मा अपनी पर्याय में हर्ष-शोक को भोगता है – ऐसा आत्मा का भोक्ताधर्म है। इस भोक्ताधर्म को जाननेवाला ज्ञानी ऐसा जानता है कि हर्ष-शोक को भोगने का मेरा त्रिकाली धर्म नहीं है, पर यह तो क्षणिक पर्यायधर्म है। मेरा त्रिकालीस्वभाव तो चैतन्यस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है – इसप्रकार स्वरूप के भानपूर्वक अल्पभोक्तापने के साथ उसका साक्षीपना भी वर्तता है। ज्ञानी को भी हर्ष-शोक होता है; परन्तु उसके हर्ष-शोक के भोगते समय ही ज्ञातास्वभाव का, अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव वर्तता है। इसलिए उसके हर्ष-शोक के साक्षीपनेरूप अभोक्ताधर्म का भी परिणमन वर्त रहा है।

आत्मा ही आत्मा के धर्मों का स्वामी है और पर के धर्मों का स्वामी पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है । आत्मा के धर्मों का स्वामी पर नहीं है और पर के धर्मों का स्वामी आत्मा नहीं है । आत्मा का अपने धर्मों के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध है, आत्मा का पर के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है । आत्मा के धर्मों का स्वामी आत्मा है और जड़कर्मों के धर्मों का स्वामी जड़ है । कोई भी एक-दूसरे का स्वामी नहीं है ।

भोगकर्म के तीव्र उदय के कारण जीव को चारित्र से भ्रष्ट होकर भोग में रुकना पड़ता है – ऐसा अज्ञानी जीव मानता है; परन्तु भाई ! वह कर्म तो जड़ है, आत्मा से जुदा है, उसका स्वामी जड़ है । अतः उसका भोक्ता आत्मा नहीं है ।

भोक्तृनय से आत्मा हर्ष-शोकरूप अपने परिणामों का भोक्ता है – इसप्रकार जो आत्मा के भोक्ताधर्म को जानता है, उसकी दृष्टि कर्मसन्मुख नहीं होती, आत्मसन्मुख होती है । वह स्वभाव को भूलकर पर की – भोग की तरफ नहीं देखता अर्थात् उसके भोग की तीव्र आसक्ति का परिणाम तो होता ही नहीं है । द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता में उसके भोग की रुचि भी छूट गई है ।

अस्थिरता से ही हर्ष-शोक का परिणाम होता है, परन्तु ज्ञानी के यह अत्यन्त अल्प है और चैतन्यस्वभाव की अधिकता है । आत्मा के धर्मों की सच्ची पहचान होने के बाद भी ज्यों के त्यों पूर्ववत् तीव्र विषय भोग के परिणाम बने रहें – ऐसा कभी नहीं होता । आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद जानने पर इन्द्रिय विषयों का अत्यन्त तुच्छत्व भासित हुए बिना नहीं रहता । – इसप्रकार पर्यायों में से हर्ष-शोक का भोक्तापना क्रम-क्रम से टलता जाता है और अनाकुल शांति का वेदन बढ़ता जाता है । – यह भोक्तृनय के जानने का फल है ।

सर्वज्ञ की श्रद्धा कहो, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा कहो, आत्मा के धर्मों की या आत्मा की श्रद्धा कहो; सभी का सार – तात्पर्य तो चैतन्यद्रव्य की सन्मुखता करना ही है । चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता बिना सर्वज्ञ की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, किसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म की पहचान भी सच्ची नहीं होती। इसलिए उसके कोई सच्चा नय भी नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि भले ही अपनी पर्याय में हर्ष-शोक के भोक्तापने को जानता है, पर उसकी दृष्टि तो सदा निज शुद्धचैतन्यस्वभाव के ही सन्मुख रहती है। वह निज चैतन्यस्वभाव के सन्मुख दृष्टि रखकर ही हर्ष-शोक के भाव को जानता है। इसलिए उसे भोक्तापने की प्रधानता नहीं रहती, पर शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ही प्रधानता रहती है।

पर के भोक्तापने की तो ज्ञानी के मान्यता ही नहीं है, जिसे अभी पर के भोक्तापने की मान्यता है, उसके तो आत्मा के धर्मसम्मुख लक्ष्य ही नहीं है। पर से भिन्न आत्मा के धर्मों का तो उसे भान ही नहीं है।

अज्ञानी को आत्मस्वरूप की खबर नहीं है अर्थात् उसे एकान्त मिथ्याज्ञान है। उस मिथ्याज्ञान का अभाव होकर अनेकांतरूप प्रमाणज्ञान कैसे प्रगट हो ? – यहाँ यह बात चलती है।

प्रमाणज्ञान अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसरूप ज्ञान करना। जगत में मिथ्याज्ञान का विषय ही विद्यमान नहीं है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी – मिथ्याज्ञानी जैसा वस्तु को मानता है वैसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। और वस्तु के स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान बिना नयज्ञान सच्चा नहीं होता। पदार्थ के स्वरूप को यथार्थरूप से जानने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान का विषय यथार्थ है। जहाँ वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान होता है, वहीं नयज्ञान सच्चा होता है।

यहाँ भोक्तृत्वनय की अपेक्षा आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहा गया है, अतः कोई आत्मा को मात्र इतना ही मान ले और अनन्तधर्म के पिण्डरूप चैतन्यतत्व को न पहिचाने तो उसने आत्मा के स्वरूप को तो जाना ही नहीं है, आत्मा के धर्म को भी नहीं जाना। साधक सम्यग्ज्ञानी तो सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु के ज्ञानपूर्वक भोक्तृत्वधर्म को भी उसके एक क्षणिक अंश के रूप में जानता है अर्थात् हर्ष-शोक के भोक्तापन के समय भी अभोक्तारूप साक्षीधर्म भी उसमें गर्भित ही है। यदि भोक्ता के समय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभोक्ता धर्म न वर्तता हो और एकान्तपने हर्ष-शोक़ का भोक्तापना ही वर्तता हो तो वहाँ अनन्तधर्मस्वरूप आत्मवस्तु ही दृष्टि में नहीं आती। इसलिए एकान्तमिथ्यात्व होने से उसे भोक्तृत्वनय भी नहीं होता।

हर्ष-शोक के क्षणिक भोक्तापने को जानते हुये जिसे अभोक्तारूप साक्षीभाव का भी भान वर्तता है – ऐसे ज्ञानी को ही भोक्तृत्वनय होता है। भोक्तृत्व तथा अभोक्तृत्व – ये दोनों धर्म आत्मा में एक ही साथ हैं – इन्हें यथार्थ जानने पर ही अनेकांत होता है और अनेकांतपूर्वक ही नय होते हैं।

भोक्तृत्वनय से भी आत्मा संयोग का भोक्ता नहीं है, किन्तु अपने में होनेवाले हर्ष-शोक का भोक्ता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में होनेवाला क्षणिक हर्ष-शोक का वेदन दुःखदायक है और मैं मात्र इतना ही नहीं हूँ, मैं तो अनंतगुणात्मक चैतन्यपिण्ड हूँ, सिद्ध भगवान के समान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर हूँ। बाह्य सुन्दर आहारादि अनुकूल सामग्री का वेदन आत्मा को नहीं होता और न ही शरीर में रोगादिरूप प्रतिकूलता का वेदन होता है। संयोगों के कारण आत्मा को हर्ष (सुख) का वेदन नहीं होता। स्वर्ग की इन्द्राणी के कारण आत्मा को हर्ष (सुख) अथवा क्रूरसिंह द्वारा शरीर को फाड़कर खा जाने के कारण आत्मा को शोक (दुःख) नहीं होता। आत्मा किन्हीं भी संयोगों के कारण सुख:दुख को नहीं भोगता, किन्तु अपने ही भोक्तृत्वधर्म के कारण सुख:दुख को भोगता है, अपनी पर्याय का ऐसा धर्म है कि आत्मा उस धर्म के कारण हर्ष-शोक रूप सुख-दुःख को भोगता है। यह धर्म साधक धर्मात्मा के भी होता है, उसे भी अभी पर्याय में हर्ष-शोक़ के भावों का किंचित् वेदन होता है; किन्तु इस भोक्तृत्वधर्म को यथार्थपने जाननेवाले को अनंतधर्मों के आधारभूत शुद्ध चैतन्यवस्तु का सम्यग्ज्ञान होता है। अर्थात् क्षणिक विकारीभाव के वेदन में और त्रिकाली शुद्ध चैतन्यभाव – इन दोनों में भेदज्ञान होता है। अत: उसे इन हर्ष-शोकरूप विकारी भावों का तो साक्षीपना वर्तता है और उसीसमय अपने ज्ञान में ऐसी प्रतीति होती है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि मेरा सम्पूर्ण चैतन्यतत्त्व इन हर्ष-शोक के वेदन मात्र नहीं है और न ही मुझे किन्हीं संयोगों अथवा निमित्तों के कारण हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, किन्तु मुझे अपने पर्यायगत भोक्तृत्वधर्म के कारण ही हर्ष-शोक का वेदन होता है, वह भोक्तृत्वधर्म भी मेरा ही है। अज्ञानी यह मानता है कि सुख-दुःख भोगना शरीर का धर्म है, किन्तु शरीर तो जड़ है। अतः सुख-दुःख का भोगना उसके नहीं होता, सुख-दुःख को भोगे – ऐसा आत्मा का ही एक धर्म है।

प्रश्न – 'भोक्तृनय से आत्मा सुख को भोगता है' – ऐसा आत्मा का भोक्ताधर्म है तो फिर आत्मा सुख-दुःख को भोगने से रहित कैसे हो सकता है ?

समाधान – इस सन्दर्भ में कर्ता धर्म का वर्णन करते समय विस्तार से कहा था, उसीप्रकार यहाँ भोक्ताधर्म के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

विकार का कर्ता-भोक्तारूप धर्म अनादि नहीं है, परन्तु पर्यायविशेष के समय ही है। जो आत्मा के ऐसे कर्ता और भोक्ताधर्म को जानता है, वह आत्मद्रव्य को भी जानता है और सुख-दुःख का साक्षी हो जाता है तथा उसके हर्ष-शोक का भोक्तापना भी क्रमशः घटता जाता है।

भोक्तृनय से जो हर्ष-शोक का भोक्तापना कहा, वह तो आत्मा का एक धर्म है। उस धर्म को देखनेवाली दृष्टि अकेले धर्म पर नहीं रहती, परन्तु उसकी दृष्टि धर्मी ऐसे अनन्तधर्मों के धारक चैतन्यद्रव्य के ऊपर होती है। तात्पर्य यह है कि शुद्ध द्रव्यसन्मुख दृष्टि के बल से वह अल्पकाल में हर्ष-शोक के भोक्तापने से रहित हो जाता है। फिर उसके यह भोक्ताधर्म नहीं रहता, अपितु अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का भोग वर्तने लगता है।

अज्ञानी पर-पदार्थ को तो नहीं भोगता, परन्तु पर में सुख-दुःख की कल्पना करके मात्र हर्ष-शोक को ही भोगता है। और ज्ञानी तो अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य के अनुभवपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते हुए पर्याय में हर्ष-शोक रूप सुख-दुःख को मैं भोगता हूँ – इसप्रकार भोक्ता-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म को जानता है। इसलिए उसके हर्ष-शोक के भोगने में साक्षीपना भी शामिल ही रहता है और अज्ञानी पर्यायदृष्टि से मात्र हर्ष-शोक के भोगने पर ही दृष्टि रखता है। इसलिए उसके साक्षीपना नहीं रहता। ज्ञानी पर्याय ऊपर दृष्टि रखकर इस धर्म को नहीं जानता है, परन्तु शुद्धद्रव्य ऊपर दृष्टि रखकर ही इस धर्म को जानता है। इसलिए उसकी दृष्टि में भोक्तापने की मुख्यता नहीं होती, परन्तु विशुद्ध आत्मद्रव्य की मुख्यता होती है। शुद्ध आत्मा की मुख्यता में उसके हर्ष-शोक का भोक्तापना छूटता जाता है।

उदयागत कर्म के कारण आत्मा भोगों के पीछे पड़ता है, भोग भोगता है – यह बात कहाँ रही ? जो अपने आत्मा में मात्र हर्ष-शोक के वेदन को ही जानता है, उसकी दृष्टि भी उल्टी है। आत्मा का भोक्ताधर्म पर के कारण नहीं है। भोक्ताधर्म के साथ आत्मा को देखने पर – दृष्टि में लेने पर भोक्तापना अधिक काल तक नहीं रहता। जो सम्पूर्ण आत्मा को न देखकर अकेले भोक्तापने को ही देखता है, वह हर्ष-शोक का भोक्ता होकर चार गति चौरासी लाख योनियों में ही रखडता है तथा उसे भोक्तानय भी नहीं होता।

'जितने प्रमाण में कर्म का उदय आता है, उतने प्रमाण में एकबार तो उसमें जुड़ना ही पड़ता है' जो ऐसा मानता है, वह तो अत्यन्त मूढ़ है; उस जीव को तो कर्म से छूटकर किञ्चित् भी आत्मसन्मुख होने का अवसर नहीं है। जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर नीचे आ जाता है, वह अपनी ही पर्याय के उस धर्म के कारण आता है, जड़कर्म के कारण नहीं। कर्म आदि परद्रव्य का बहाना लेकर जो मात्र भोक्तापना मानता है, वह तो अज्ञानी है।

'मैं चिदानन्दमूर्ति अनन्तधर्मों का पिण्ड हूँ' – इसप्रकार स्वद्रव्य के सन्मुख होकर ज्ञानी अपने भोक्ताधर्म को भी जानता है। तथा ऐसे ज्ञानी के भोक्तापना (हर्ष-शोक का वेदन) भी अत्यन्त क्षीण होता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में मेरे भोक्ताधर्म के कारण ही हर्ष-शोक का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोक्तापना है, पर के कारण नहीं; परन्तु मेरी पर्याय में ही वैसा भोक्ताधर्म है। मैं उस भोक्ताधर्म जितना मात्र नहीं हूँ, मैं तो अनन्त-धर्मात्मक चैतन्य पिण्ड हूँ। – इसप्रकार स्वद्रव्य को देखनेवाला धर्मीजीव साक्षी रहकर अल्पकाल में भोक्तापने का अभाव करके वीतरागी हो जाता है।

किसी भी नय से आत्मा को जाननेवाले की दृष्टि स्वसन्मुख ही रहती तथा स्वसन्मुख दृष्टिवाले के ही नय सच्चे होते हैं। नय सम्यक्-श्रुतज्ञान के अंशरूप हैं और वे साधक को ही होते हैं।

प्रश्न – नयज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की दृष्टि कर्म की ओर होती है या आत्मा की ओर ?

उत्तर – सभी नय आत्मसन्मुख होकर ही उस-उस धर्म को जानते हैं, परसन्मुख होकर नहीं; क्योंकि परसन्मुख होकर आत्मा के धर्म की यथार्थ स्वीकृति नहीं हो सकती।

आत्मसन्मुख होकर आत्मा के भोक्ताधर्म को जाननेवाला साधकजीव स्वभाव के अवलम्बन से भोक्तापने का अभाव करके अल्पकाल में परमानन्द का भोक्तृत्व प्रगट करता है और सिद्ध परमात्मा हो जाता है। यही भौक्तृनय का परमार्थ फल है।

– इसप्रकार भोक्तृनय से आत्मद्रव्य का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अभोक्तृनय

अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि।

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति सुख-दुःखादि को भोगनेवाला नहीं है, मात्र उनका साक्षी ही है – जाननेवाला ही है।

जिसप्रकार रोगी सुख-दुःख को भोगता है, परन्तु वैद्य तो उसका साक्षी ही है; उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोकरूपी जो रोग है, ज्ञानी उसका भोक्ता नहीं है, परन्तु मात्र साक्षी ही है। ऐसे साक्षीधर्म से आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाले नय का नाम अभोक्तृनय है।

भोक्तापना तथा अभोक्तपना दोनों ही धर्म आत्मा में एकसाथ ही हैं। शुद्धचैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्तधर्मों को धारण करनेवाला है तथा वह भोक्तानय से हर्ष-शोक का भोक्ता भी है और उसी समय अभोक्तानय से उन हर्ष-शोक का साक्षी भी है। शरीरादिक परपदार्थ का भोक्ता तो आात्मा भोक्तानय से भी नहीं है।

आत्मा भोक्तानय से हर्ष-शोक का भोक्ता है और अभोक्तानय से हर्ष-शोक का अभोक्ता – साक्षी है, भोक्ता नहीं है। आत्मा ज्ञाताभाव से भिन्न रागादि विकारीभावों के भोक्तापने से रहित है। ऐसी अभोक्तृत्व शक्ति आत्मा में त्रिकाल है, जिसका वर्णन समयसार परिशिष्ट में वर्णित शक्तियों में किया गया है।

आत्मा के ऐसे अभोक्ता स्वभाव की प्रतीति करते ही साधकजीव की पर्याय में हर्ष-शोक का अल्पभोग होते हुए भी उसके साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है।

एक आत्मा भोक्ताधर्मवाला तथा दूसरा आत्मा अभोक्ताधर्मवाला –

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा नहीं है, इसीप्रकार एक आत्मा में कभी भोक्ता धर्म हो व कभी अभोक्ता धर्म हो – ऐसा भी नहीं है। एक ही आत्मा में दोनों धर्म एक साथ ही हैं। यह साधकजीव की बात है, साधक के भोक्तापने के साथ अभोक्तापना भी वर्तता है – ऐसा समझना चाहिए।

पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तापना और उसीसमय उसका अभोक्तापना – इसप्रकार दोनों धर्मों से आत्मद्रव्य को देखे, तो अकेले हर्ष-शोक के वेदन में न अटके; बल्कि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर हर्ष-शोक का साक्षी हो जाये और तब हर्ष- शोक से पार चैतन्यस्वभाव आनन्द का अनुभव प्रगट हो। इसका नाम धर्म है।

भोक्तानय से आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहने का तात्पर्य भी द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर जानते-देखते रहना है, हर्ष-शोक के भोग में ही अटके रहना नहीं है; क्योंकि भोक्तृनय के समय भी आत्मा में अकेला भोक्ताधर्म ही नहीं है, उस समय ही अभोक्ताधर्म भी है। आत्मा के अभोक्ताधर्म को जाननेवाला साधकजीव अल्प हर्ष-शोक के काल में भी अभोक्ता ही रहता है। वह हर्ष-शोक के भोगने में तन्मय नहीं होता – एकाकार नहीं होता।

हे भाई ! तू ऐसे धर्मों से युक्त अपने आत्मा को देख ! आत्मसन्मुख होने पर तुझे तेरा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र स्वभाव भासित होगा।

जिसने शरीर को ही धर्म का साधन माना है, उसके तो शरीर पुष्ट होने पर हर्ष और शरीर में रोगादि होने पर शोक होता है तथा वह हर्ष-शोक के ही वेदन में लीन होकर आत्मा को भूल जाता है। शरीर में धर्म मानने का अर्थ है, शरीर के अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व मानना। इसलिए वह मात्र शरीर के लक्ष्य से होनेवाले भोग में ही लीन रहता है, साक्षी नहीं रहता। हर्ष-शोक का वेदन करते समय आत्मा में उसके साक्षीपनें रूप अभोक्ता धर्म है अर्थात् भोक्तापने के समय ही अभोक्तास्वभाव विद्यमान है, जो ऐसा जानता है उसके साधकपना हुए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बिना नहीं रहता। उसकी पर्याय में भी आंशिक साक्षीपना - अभोक्तापना वर्तता है।

'हर्ष-शोक का वेदन करते समय ही मेरे में साक्षीपना है' – ऐसा जाननेवाला ही अनेकांतस्वरूप वस्तु को जानता है।

तात्पर्य यह है कि जो हर्ष-शोक के समय आत्मा को मात्र हर्ष-शोक का भोगनेवाला ही अनुभव करता है, उस समय भी आत्मा में हर्ष-शोक के साक्षी रहनेरूप अभोक्तास्वभाव है – ऐसा नहीं जानता, वह अनेकांतस्वरूप वस्तु को नहीं जानता; परन्तु वस्तु के साक्षीधर्म को न मानकर मात्र हर्ष-शोक के भोक्तारूप भोक्ताधर्म को ही मानने के कारण वह एकांती है; अतः मिथ्यात्वी है और जो आत्मा में हर्ष-शोक की उत्पत्ति पर के कारण मानता है अथवा आत्मा को परद्रव्य का भोक्ता मानता है, वह तो महामिथ्यात्वी है; क्योंकि हर्ष-शोक के समय यदि आत्मा हर्ष-शोक को भोगनेवाला ही हो, हर्ष-शोक को जाननेवाला न हो तो आत्मा अनेकांतरूप नहीं रहेगा, एकान्त हर्ष-शोक के भोक्तारूप ही रह जायेगा और इसीप्रकार यदि शरीरादि परद्रव्य में रोग होने के कारण आत्मा हर्ष-शोक को भोक्ता हो, तो भोक्ताधर्म आत्मा का नहीं शरीरादि परद्रव्य का कहलायेगा।

इसीलिए आत्मा हर्ष-शोक का भोक्ता भी पर के कारण नहीं है और हर्ष-शोक का भोग करते समय भी मात्र हर्ष-शोक का ही भोक्ता नहीं है, अपितु उसी समय हर्ष-शोक का साक्षी-अभोक्ता भी है।

ऐसे भोक्ता-अभोक्ता आदि अनंतधर्मों के पिण्डस्वरूप धर्मी आत्मा के आश्रय से साधकजीव के हर्ष-शोक के समय भी हर्ष-शोक का साक्षीपना वर्तता है।

देखो, यह आत्मा की प्राप्ति का मार्ग है। आत्मा को जाने बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए यहाँ आत्मा की पहचान करने हेतु आत्मा का ४७ नयों की अपेक्षा वर्णन कर रहे हैं।

संसारभ्रमण से थका हुआ जीव आत्मा का सही स्वरूप समझने के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लिए श्रीगुरु के पास आकर पूछता है कि हे प्रभो ! मैं आत्मा के भान बिना अनन्तभवों में रखड-रखड कर अब तो बुरी तरह थक गया हूँ। अत: अब मैं निज-आत्मा को समझकर भवभ्रमण से छूटना चाहता हूँ, मेरा भवभ्रमण से छुटकारा हो, कोई ऐसी विधि बताओ, मुझे आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझाओ।

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई ! यदि तुझे सचमुच आत्मा को जानने की तीव्र जिज्ञासा है, तो हम तुझे आत्मा का स्वरूप बताते हैं, तू उसे धैर्यपूर्वक सुन। इस बात के स्वीकारपूर्वक रुचि करने पर इसमें परिणमन हुए बिना नहीं रहता और यह बात आत्मा के अनन्तधर्मों द्वारा आत्मा को जानने की है : आत्मा के अनन्तधर्मों से आत्मा को जानना और उसकी रुचि तथा एकाग्रता करना – यह आत्मा की आराधना का मार्ग है और यदि अनादि के विराधकपने के नाश करने का उपाय है।

जो जीव अभी साधक है। प्रमाण-नय द्वारा आत्मा की साधना करता है। ऐसे साधक की पर्याय में भोक्तृत्व तथा अभोतृत्व दोनों धर्मों का वेदन एकसाथ होता है। 'भोक्तापना तथा अभोक्तापना' इत्यादि अनन्तधर्मों के आधाररूप चैतन्यवस्तु को जानकर जिसे प्रमाणज्ञान हुआ है, उसे ही भोक्तानय तथा अभोक्तानय होते हैं। जिन्हें अभी आत्मा का भान ही नहीं है – ऐसे अज्ञानी के नय नहीं होते तथा जिन्होंने आत्मा की पूर्णसाधना करके केवलज्ञान–परमात्मदशा प्राप्त करली है – ऐसे पूर्णज्ञानी के भी नय नहीं होते; क्योंकि अब उन्हें कुछ साधने के लिए शेष नहीं रहा, वे तो हर्ष-शोक के भोक्तापने का अभाव करके सर्वथा अभोक्ता – साक्षी स्वरूप ही हो गये हैं। तथा अज्ञानी एकांत भोक्तापने में ही अटका हुआ है; परन्तु साधकजीव के आंशिक भोक्तापना है एवं आंशिक अभोक्तापना भी है। इसलिए साधक प्रमाणपूर्वक नयों द्वारा उसका ज्ञान करता है और शुद्धात्मा की साधना करता है। वह मात्र हर्ष-शोक के वेदन की मुख्यता नहीं होने देता; परन्तु सम्पूर्ण चैतन्य वस्तु के सन्मुख होकर उसका साक्षी रहता है और हर्ष-शोक के वेदन का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभाव करता हुआ अभोक्तृत्व धर्म परिपूर्ण प्रगट कर लेता है।

राजा श्रेणिक का जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ अभी नरक में है। वहाँ उन्हें शोक का वेदन भी होता है, परन्तु शोक के वेदन के समय ही उन्हें अपने अन्तर में ऐसी प्रतीति है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, मेरा स्वभाव तो ज्ञानानन्दमयी है तथा वह स्वभाव हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है। ऐसी प्रतीति होने से उन्हें शोक के समय भी आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का आंशिक वेदन भी वर्तता है। अहा ! साधक की ऐसी दशा होती है।

'भोक्तापना तथा उसीसमय उसका साक्षीपना' जिस जीव के ये दोनों धर्म एक साथ नहीं है, वह जीव या तो केवली होगा या अज्ञानी; क्योंकि केवली भगवान के हर्ष-शोक का भोक्तापना सर्वथा समाप्त हो गया है, मात्र साक्षीपना ही रहा है। और अज्ञानी के मात्र हर्ष-शोक का भोक्तापना ही वर्तता है, साक्षीपना किंचित् भी प्रगट नहीं हुआ है।

अज्ञानी के आत्मा में भी अभोक्तारूप साक्षीस्वभाव तो है, परन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। इसलिए उसकी पर्याय में साक्षीपने का परिणमन नहीं होता और साधकजीव अभोक्तास्वभाव को जानता हुआ हर्ष-शोक के काल में ही हर्ष-शोक का साक्षी बना रहता है अर्थात् उसे हर्ष-शोक में हर्ष-शोक नहीं होता, वह तो उसका साक्षी ही रहता है।

इसप्रकार ४१ वें अभोक्तानय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(४२)

क्रियानय

क्रियानयेनस्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्य सिद्धि : ।

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा है ।

जिसप्रकार किसी अन्धे व्यक्ति का माथा पत्थर के खम्भे से टकरा कर फूट जाये, तो उसके माथे में से खराब खून निकल जाने के कारण तो उसे आँखों की ज्योति प्राप्त हो जाती है और खम्भा टूट जाने से खम्भे में भरा निधान प्राप्त हो जाता है । इसीप्रकार क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा आत्मा है ।

यहाँ क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है और आगे ४३वें ज्ञाननय में विवेक की प्रधानता कहेंगे । आचार्यदेव ने इन दोनों नयों में 'प्रधानता' शब्द का प्रयोग किया है – इससे से यह स्पष्ट सिद्ध है कि उसी समय गौणपने दूसरा कारण भी वर्त रहा है ।

यहाँ क्रियानय में अनुष्ठान की – शुभ की प्रधानता कही है, प्रधानता शब्द यह बताता है कि उसीसमय गौणपने सम्यग्ज्ञान का विवेक भी वर्त रहा है । शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा क्रियानय से कहा, उसीसमय गौणपने शुद्धता भी है – ऐसा ज्ञान रहे, तो ही क्रियानय सच्चा कहलाता है, परन्तु शास्त्र में जहाँ व्यवहारनय की प्रधानता से कथन आता है, वहाँ अज्ञानी उसका ऐसा उल्टा अर्थ करते हैं कि 'व्यवहार/शुभराग करते-करते उसके आश्रय से परमार्थ की प्राप्ति हो जायेगी; परन्तु शास्त्र का आशय ऐसा नहीं है ।

आशंका – पंचास्तिकाय की १७२वीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि भिन्न साध्य-साधनरूप व्यवहार को नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है ।

समाधान–साधक अवस्था में आंशिक शुद्धता के साथ भूमिकानुसार

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुभराग भी आता है। वहाँ इसका ज्ञान कराया है। तथा उपचार से राग को व्यवहार साधन कहा है, उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है, उसका ऐसा आशय नहीं है; परन्तु साधक को वे दोनों साधन एकसाथ वर्तते हैं – इसका ज्ञान कराने के लिए यह कथन किया गया है। साधकजीव को वे दोनों एकसाथ वर्तते हैं – ऐसा नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और व्यवहार साधन के अवलम्बन से निश्चय की प्राप्ति हो जावेगी – ऐसा माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

जिसे निश्चय का भान नहीं है और भिन्न साध्य-साधन को मानता नहीं है, स्वछन्दपने पाप में प्रवर्तता है – ऐसे जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है। इसी के साथ वहाँ ऐसा भी कहा है कि "जो निश्चय को तो जानता नहीं है और मात्र व्यवहार का अवलम्बी है, वह मात्र भिन्न साध्य-साधन भाव को ही देखनेवाला सदा खेद-खिन्न रहता है और शुभरागरूप व्यवहार साधन में ही वर्तता है। वह जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकत्व परिणति रूप ज्ञानचेतना को कभी भी प्राप्त नहीं करता है; परन्तु क्लेश की परम्परा को पाकर संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

पंचास्तिकाय की १७२वीं मूल गाथा इसप्रकार है –

"तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि॥

इसलिए हे मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग मत करो; – ऐसा करने से भव्यजीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है।"

मूल में तो आचार्यदेव ने एकदम वीतरागता की ही बात की है; परन्तु अभी साधकजीव को राग होता है, इसलिए टीका में टीकाकार आचार्य अमृतचंद्रदेव ने भिन्न साध्य-साधन की बात करके राग का ज्ञान कराया है। ' किंचित् भी राग मत करो ' ऐसा उस राग को भिन्न साधन बताया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का वीतरागी रत्नत्रयरूप जो परमार्थ साधन है, उससे उस राग को भिन्न जानो – ऐसा उपेदश है।

देखो, यहाँ पहले तो 'वीतरागता ही एक उपादेय है' – इस बात को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्थापित किया; बाद में राग का ज्ञान कराने के लिए राग को भिन्नसाधन कहा है। भिन्नसाधन कहते ही 'वह साक्षात् साधन नहीं है' – यह आ जाता है साक्षात् कारण तो वीतरागभाव ही है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र स्वरूप जो वीतरागभाव है, वही मोक्ष का साक्षात् कारण है। राग तो अन्तर में दाह उत्पन्न करनेवाला है।

जिसप्रकार चंदन का स्वभाव तो सुगंधित और शीतल है; परन्तु उस चंदन के वन में आग लग जाय, तब वह आग तो दाह ही उत्पन करती है। उसीप्रकार वीतरागभावरूप चंदनवन में रागरूपी आग तो दाह ही उत्पन्न करती है। इसीलिए उत्तमपुरुषों ने उस राग को उपादेय नहीं कहा, उसे हेय ही कहा है और एकमात्र वीतरागभाव को ही उपादेय कहा है। यह वीतरागभाव शुद्ध आत्मद्रव्य के अवलम्बन से ही होता है, इसीलिए शुद्धात्मा ही उपादेय है। – ऐसा समझना।

साधकजीव के राग आये बिना नहीं रहता, परन्तु वह उसे भिन्न साधन मानता है। इसलिए यहाँ राग को भिन्न साधन कहकर स्वभाव से भिन्न बताया है। जो राग को ही उपादेय मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह पामर तो मिथ्यादृष्टि ही है।

चैतन्यस्वभाव की शांत-अनाकुल अमृतधारा के बीच में जो राग उत्पन्न होता है, वह तो विपरीत है, आकुलता है, अशांत है। अहो ! अन्तर में वीतरागी आनंद से भरपूर सम्पूर्ण चैतन्यसमुद्र बह रहा है, उसमें रागांश से लाभ मानना विपरीतता है। जिसने सम्पूर्ण चैतन्यस्वरूप का अनादर करके, आश्रय छोड़ करके राग का आदर किया है, वह क्लेश को प्राप्त होकर संसार में परिभ्रमण करता है। जिसने आत्मा के अरागी स्वभाव में राग से लाभ माना है, उसने चंदन के वन में आग लगाने के समान काम किया है।

राग को व्यवहार साधन तो कहा, पर किसके लिए ? जिसके अन्तर में निश्चयसाधन वर्त रहा है। जिसके त्रिकाली चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से वीतरागी परमार्थ प्रगट हुआ है, उसके साथ वर्तते हुए राग में उपचार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करके उसे व्यवहारसाधन कहा है। जिसके त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं है, उसके राग को तो व्यवहारसाधन भी नहीं कहते – इसप्रकार राग को व्यवहार साधनपने का आरोप भी निश्चय दृष्टिवंत समकिती जीव के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं।

जहाँ, राग को व्यवहारसाधन कहा है वहाँ भी, जो शुद्धद्रव्य के आश्रय से वीतरागभाव होता है, वही उपादेय है। जो राग है, वह उपादेय नहीं है। इसलिए आचार्य भगतान कहते हैं कि मोक्षमार्ग का सारभूत एवं शास्त्र का तात्पर्यभूत यह वीतरागभाव जयवंत वर्ते ! यह वीतरागभाव ही साक्षात् साधन है और यह वीतरागभाव वस्तुस्वभाव की यथार्थदृष्टि हुए बिना होता नहीं है।

भाई ! वस्तुस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ही वस्तुतत्त्व की प्राप्ति होती है, वस्तुस्वभाव में दृष्टि नहीं जमे तो कुछ भी हाथ नहीं आता। – ऐसी बात है। यहाँ ४२वें क्रियानय में जो अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होने की बात कही है, उस बात की संधि उक्त बात के साथ बैठती है; इसलिए तो यहाँ उसका विवेचन किया है।

शुभरागरूप अनुष्ठान की प्रधानता से आत्मा की सिद्धि होती है – इसप्रकार क्रियानय में व्यवहार की बात की; परन्तु ऊपर किये गये विश्लेषण के अनुसार वीतरागी तात्पर्य लक्ष्य में रखकर अर्थात् वस्तुस्वभाव को दृष्टि में रखकर ही इस कथन का तात्पर्य समझे, तो ही क्रियानय यथार्थ कहलायेगा। यदि वह राग के ही आश्रय से लाभ मानता है, तो उसके क्रियानय भी सच्चा नहीं है।

जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का वर्णन चलता हो, वहाँ पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष तो साध्य है तथा अपूर्ण शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग उसका साधन है। उस अपूर्ण शुद्धपर्याय के साथ राग भी रहता है, इसलिए उस अपूर्ण पर्याय को जानते समय वह राग भी जानने में आता है; परन्तु द्रव्यदृष्टि के विषय में तो शुद्ध एकाकार आत्मद्रव्य ही साध्य है। तथा ज्ञानप्रधान कथन में पूर्ण शुद्धपर्याय को भी साध्य कहा जाता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और अपूर्णशुद्धपर्याय को साधन कहा जाता है। तथा व्यवहाररत्नत्रय रूप शुभभाव को भी उपचार से साधन कहा जाता है; क्योंकि साधक के निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ होते हैं। यही यहाँ बताना है।

साधकजीव के शुद्धता के साथ-साथ राग का परिणमन भी है, क्योंकि यदि राग का परिणमन न रहे तो वह साधक भी नहीं रहता और उसी समय अविकारी ज्ञानचेतनारूप परिणमन न हो तो भी साधकपना नहीं रहता। अभी पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई है; परन्तु कुछ अंशों में ही शुद्धता का उघाड़ हुआ है और उस शुद्धता के साथ कुछ रागादिक अशुद्ध अंश भी वर्तते हैं। यदि उस राग को तो जाने ही नहीं और आंशिक शुद्धता को ही संपूर्ण शुद्धता मान ले तो उसे मोक्ष की, साधकभावना की अथवा बाधकभावना की ही पहिचान नहीं होती।

साधकजीव के जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, वह निश्चयसाधन है और वह निर्जरा का कारण है तथा जो राग शेष है, उसे व्यवहारसाधन कहा, सो वह मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है; परन्तु बंध का ही कारण है।

आंशिक शुद्धि और आंशिक राग – इसप्रकार साधकजीव के दोनों भाव एकसाथ ही होते हैं। निश्चयसाधन प्रगट किये बिना एकांत राग को ही साधन मानकर उससे लाभ माने तो वह अकेले बंधभाव में अटका होने से मिथ्यादृष्टि ही है।

परमशुद्धनिश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से तो शुद्धद्रव्य ही कारण परमात्मा है, वही मोक्ष का निश्चयकारण है और वही साध्य है तथा ज्ञानप्रधान कथन में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपर्याय निश्चयकारण है और उस समय होनेवाले शुभराग को उपचार से व्यवहारकारण कहा। इसप्रकार तीन कारण हुए; जो निम्नप्रकार है –

(१) शुद्धद्रव्यरूप कारणपरमात्मा,
(२) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप शुद्धपर्याय और
(३) साधकदशा में वर्तता हुआ शुभराग।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयस्वभाव एक समय में परिपूर्ण है, उसके साधन बनाने से अर्थात् उसका आश्रय करने से जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय प्रगट हुआ, वह मोक्ष का निश्चयसाधन है और उसके साथ होनेवाले शुभराग में उपचार करके उस राग को व्यवहारसाधन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन में शुद्ध ध्येयरूप तो शुद्धद्रव्य ही है, अतः वही साध्य है और पर्याय-अपेक्षा मोक्ष साध्य है, मोक्ष भी द्रव्य के आश्रय से ही होता है। द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन करने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय द्रव्य में ही एकाग्र हो गई। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की दृष्टि में साधन तथा साध्य का भेद नहीं रहता। द्रव्य ही साधन है और द्रव्य ही साध्य है। साधक की दृष्टि में साध्य-साधन के भेद का विकल्प भी नहीं होता है। वह तो ऐसा जानता है कि आत्मा में एक कारणशक्ति त्रिकाल है, इसलिए आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष तक साधन होता है – ऐसा उसका स्वतन्त्र स्वभाव है। अभेद-अपेक्षा से देखा जाय तो आत्मा स्वयं ही साध्य-साधन है और पर्याय-अपेक्षा मोक्ष साध्य है एवं निर्विकल्परत्नत्रय साधन है तथा व्यवहाररत्नत्रय उपचार से साधन है। पर को साधन कहना यह तो निमित्त-अपेक्षा किया गया कथन है, क्योंकि वास्तव में पर का तो आत्मा में अभाव है।

शुद्धद्रव्य की अपेक्षा तो निश्चयरत्नत्रय भी व्यवहारसाधन है, क्योंकि निश्चयरत्नत्रय भी द्रव्य के ही आश्रय से प्रगट होता है। अतः द्रव्य ही निश्चयकारण है।

साधन के नाम पर समाज में बहुत भ्रम हैं। लोग कहते हैं कि जड़ की क्रिया, शुभराग, आदि साधन तो है।

अरे भाई ! जिसे परमार्थ साधन की खबर नहीं है, उनके रागादि को तो उपचार से भी साधन नहीं कहा जाता; आचार्यों ने उसके शुभराग को तो क्लेश की प्राप्ति का और संसार में परिभ्रमण का ही कारण कहा है।

सर्वशास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता प्रगट कराना है और वीतरागता शुद्धद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होती है। इसलिए शुद्धद्रव्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का आश्रय करना ही शास्त्रों का सार हुआ। जो जीव शास्त्र पढ़-पढ़कर भी शुद्धात्मद्रव्य के सन्मुख नहीं होते, वे शास्त्रों का तात्पर्य नहीं जानते। शास्त्र में भले ही कई स्थानों पर व्यवहारनय से राग को साधन कहा है; परन्तु वहाँ कहने का तात्पर्य राग सिद्ध करना है या वीतरागता ? सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिये। जब राग को भिन्नसाधन कहा है, तब फिर अभिन्नसाधन कौन है ? यह भी तो देखना चाहिये।

शुद्धद्रव्यस्वभाव का आश्रय करने पर जो निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ है, वह अभिन्नसाधन है, वही परमार्थसाधन है; परन्तु अभी साधकजीव को जो विकल्प आता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उस शुभराग को व्यवहारसाधन/ भिन्नसाधन कहा है; परन्तु उस शुभराग के कारण वह सम्यग्दृष्टि है, अरागी है – ऐसा नहीं है अर्थात् राग कारण और वीतरागता कार्य – ऐसा नहीं है; क्योंकि राग के कारण मोक्षमार्ग हो तो राग और मोक्षमार्ग दोनों एक हो जायें। तात्पर्य यह है कि फिर रागरहित निश्चय मोक्षमार्ग भिन्न नहीं रहेगा, उसका अभाव हो जायेगा।

इसप्रकार राग से मोक्षमार्ग माननेवाले की पर्याय में रागरहित निश्चय मोक्षमार्ग का अभाव ही है। निश्चयरत्नत्रयरूप वीतरागी मोक्षमार्ग के साथ होनेवाले राग को उपचार से साधन कहा है, वास्तव में तो राग बंधमार्ग ही है।

वस्तुतः तो निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग भी पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता, परन्तु त्रिकालीद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होता है। इसलिए मोक्षमार्ग का मूलकारण तो द्रव्य ही है। उसके आश्रय से ही अभिन्न साधन-साध्य प्रगट होता है। ऐसा निर्णय करने पर द्रव्य के अवलम्बन से जिसके निश्चयसाधन की शुरुआत हुई है, उसके भी अभी द्रव्य का अखण्ड अवलम्बन नहीं है, इसलिए उसके राग भी वर्तता है और उस राग को उपचार से साधन कहा जाता है।

गुरु के सान्निध्य में इस मूलवस्तु को समझकर लक्ष्य में लिए बिना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शास्त्रों का यथार्थ समझ में नहीं आता। यहाँ ४२वें क्रियानय में सिद्धि हेतु अनुष्ठान की प्रधानता बताई है – इसका कोई उल्टा अर्थ न लगाले, इसलिए यहाँ विशेष खुलासा किया गया है।

पंचास्तिकाय में तो, जो वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं करता, पर्याय में होनेवाले राग को नहीं स्वीकारता तथा स्वच्छन्दपने पाप में प्रवर्तता है – ऐसे एकान्त निश्चयाभासी जीव को दोनों पक्ष समझाने के लिए व्यवहार साधन की बात की है; परन्तु जो अकेले व्यवहारसाधन को ही (शुभ-अनुष्ठान को ही) मानता है और द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से निश्चयसाधन प्रगट नहीं करता, वह जीव एकांत व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

साधक धर्मात्मा के अपने ज्ञानानंदस्वभाव के अवलम्बनपूर्वक सम्यग्दर्शनादि निश्चयसाधन तो प्रगट हुआ है, परन्तु अभी द्रव्यस्वभाव के परिपूर्ण आश्रयपूर्वक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है; इसलिए शुभराग होता है और वह शुभराग अशुभ से बचाता है। इसलिए उसे व्यवहारसाधन कहा है। यहाँ रागरहित दृष्टि की मुख्यता होने से शुभ में व्यवहार का आरोप किया।

'शुभराग अशुभ से बचने के लिए होता है।' – ऐसा कहना भी व्यवहार है, वास्तव में तो उस समय उस शुभभाव का ही काल होता है। ऐसा नहीं है कि होना तो अशुभराग था, परन्तु बीच में शुभ ने आकर उसे नहीं होने दिया और स्वयं हो गया। इसीप्रकार इस शुभ को साधन कहा, सो इसका अर्थ भी यह नहीं है कि शुद्धभाव शुभ के कारण प्रगट हुआ। फिर भी जो शुभराग को निश्चय का शुद्धभाव का कारण मानता है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि का राग तो व्यवहार -साधन भी नहीं कहलाता।

यहाँ तो साधकजीव की बात चल रही है। साधकजीव को स्वभाव की दृष्टि तो है, परन्तु द्रव्य का अखण्ड आश्रय नहीं है। इसलिए उसे देव शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान, उल्लास एवं व्रतादि का भाव आता है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु उसकी अन्तरदृष्टि में तो मात्र ज्ञानानंदस्वभाव के सिवाय किसी दूसरे का बहुमान नहीं होता। तथा स्वभाव में अखण्ड अभेदता होने पर द्रव्य और मोक्षपर्याय में कोई अन्तर नहीं रहता और राग भी नहीं रहता। अभी स्वभाव में अखण्डपने अभेदता नहीं हुई, अतः निचली दशा में जो राग आता है, ज्ञानी उसे भी मात्र जानता है और क्रियानय से उस राग में मोक्ष के साधन का आरोप भी किया जाता है; परन्तु उसे उस क्रियानय के समय ही ज्ञाननय का भान भी सदा मौजूद रहता है।

इसलिए चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन पूर्वक ही व्यवहार के अवलम्बन को उपचार से साधन कहा है। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन बिना अकेले व्यवहार का अवलम्बन तो व्यवहार से भी साधन नहीं है। राग के काल में धर्मी को अकेला राग ही नहीं वर्तता, अपितु राग के काल में भी दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही आश्रय वर्तता है। तात्पर्य यह है कि रागरहित स्वभाव में रमणता भी वर्तती है, यदि ऐसी दशा न हो तो साधकपना ही नहीं रहता।

जिसप्रकार अंक के बिना चाहे जितनी बिन्दियाँ हों, उनकी कोई कीमत नहीं होती; उसीप्रकार एक समय में परिपूर्ण प्रभुतासम्पन्न ज्ञायकद्रव्य के आश्रयभूत श्रद्धान-ज्ञानरूप अंक बिना व्यवहार का सम्पूर्ण राग अंकरहित बिन्दी के समान है। राग के आश्रय से मोक्षसाधन प्रगट नहीं होता। शुद्धचैतन्यद्रव्य में एकाग्रता से ही निर्विकल्पशांतदशा प्रगट होती है; पर, राग, या पर्याय के आश्रय से निर्मलपर्याय नहीं होती। इसलिए एक ज्ञायकद्रव्य को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र होना ही धर्म प्रगट करने की मूल चाबी है। इसके अलावा अन्य जो कुछ भी धर्म का साधन कहा जाता हो, वह सब उपचार से समझना।

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में मोक्षसाधन की शुरुआत हुई, उसके बाद की कई भूमिकायें होती हैं और उन भूमिकाओं में कैसा व्यवहार होता है, उनको भी ज्ञानी जान लेता है। ज्ञानी जानता है कि मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव एक समय में परिपूर्ण है और उसी के आश्रय से मेरा मोक्षसाधन प्रगट

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है।

क्रियानय से 'अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि कही' – इसका अर्थ यह है कि अन्तरस्वभाव के आश्रय से साधक को आंशिक शुद्धता के साथ जो शुभरागरूप अनुष्ठान वर्तता है, उस शुभराग को जानते समय जो अरागी परिणमन है, उसे गौण करके अनुष्ठान की प्रधानता से कथन किया है और उसमें साधन का उपचार किया है, उससमय साधक को भान तो ऐसा ही रहता है कि द्रव्य की प्रधानता से ही मुक्ति है। अतः साधक की दृष्टि में निरन्तर शुद्धद्रव्य की ही मुख्यता रहती है, दृष्टि में से यदि किसी भी समय द्रव्य की प्रधानता छूटकर पर्याय या राग की प्रधानता हो जाय तो वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं रहता। इसलिए शुद्धस्वभाव की दृष्टि अविरलपने धाराप्रवाह रखकर ही यह बात है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता के समय शुद्धता के कथन में गौणता होती है, परन्तु दृष्टि में तो उस समय की शुद्धचैतन्यस्वभाव की ही मुख्यता है।

जिसप्रकार बारह भावनाओं को संवर कहा है, वहाँ 'शरीरादि अनित्य है, संसार अशरण है' इत्यादि प्रकार से बारह भेदों के अवलम्बन में तो परलक्ष्य और राग होता है, वह कोई संवर तो नहीं है; परन्तु उस समय जो अन्तर चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि वर्तती है, उस दृष्टि के जोर से राग घटता जाता है और वीतरागता बढ़ती जाती है, यही संवर है। अतः वहाँ निमित्त-अपेक्षा बारह भावनाओं को संवर कहा है।

इसीप्रकार यहाँ भी विकल्प तोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही सच्चा मोक्षसाधन है। स्वभाव का आश्रय लेने से पूर्व जो शुभ-अनुष्ठान का विकल्प होता था, यहाँ उसे भी आरोप करके व्यवहार साधन कह दिया है। परन्तु ऐसा आरोप उसी के किया जा सकता है, जो राग का अभाव करके अभेदस्वभाव में स्थिर होता है। राग के अवलम्बन में ही लाभ मानकर उसी में रुक जानेवाले के राग में साधन का आरोप भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि यथार्थ वस्तु प्रगट हुए बिना आरोप किसका ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसप्रकार किसी अन्धे पुरुष के खम्बे से टकरा जाने से उस अन्धे का सिर और खम्बा दोनों फूट गये हों और उसे विकारी खून निकल जाने से आँखों की रोशनी तथा खम्बा टूट जाने से खम्बे में छिपे निधान की प्राप्ति देखकर कोई अन्य अन्धा पुरुष एकांततः यही मानले कि खम्बे से टकराने के कारण आँखों की रोशनी तथा निधान दोनों की प्राप्ति होती है और ऐसा मानकर खम्बे से माथा मारे तो उसे आँखों की रोशनी और निधान की प्राप्ति तो नहीं होगी, उल्टा उसका सिर ही फूटेगा।

इसीप्रकार अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा – इससे अज्ञानी जीव एकांत शुभराग के अवलम्बन से ही यथार्थदृष्टि एवं चैतन्यनिधान प्राप्त होना माने तो उसे मोक्ष का साधन नहीं होता; परन्तु मिथ्यात्व का सेवन होने से संसार भ्रमण ही होता है।

जिसप्रकार अन्धे के खून का विकार दूर होने से उसे दृष्टि एवं निधान प्राप्त हुआ; उसीप्रकार हे भाई ! तू रागादि विकार की रुचि छोड़ और शुद्ध चैतन्यद्रव्य का आश्रय कर, तो उसके आश्रय से तेरी दृष्टि निर्मल हो और तुझे तेरा चैतन्यनिधान प्राप्त हो। अन्धे की आँखें तो वास्तव में खून का विकार दूर होने से खुली एवं निधान मिला। खम्बे से टकराना तो निमित्तमात्र है। इसीप्रकार स्वभाव के आश्रय से राग की रुचिरूपी विकार का अभाव हुआ और अरागी दृष्टि खुलते ही चैतन्य निधान दिखा है। वहाँ शुभ-अनुष्ठान को भी निमित्त-अपेक्षा उपचार से साधन कहा है। – ऐसा जानना ही क्रियानय है।

वस्तुतः तो द्रव्य के आश्रय से ही दृष्टि खुलती है, राग के अवलम्बन से नहीं और इसप्रकार सम्यक्निर्णय ज्ञान बिना क्रियानय भी सच्चा नहीं होता।

नय के समय प्रमाण तो शामिल होता ही है, यदि प्रमाण न हो तो नय भी सच्चा नहीं होता। जिस समय क्रियानय में अनुष्ठान को प्रधान करके उसे व्यवहारसाधन कहा, उसीसमय अभेदस्वभाव के आश्रय से जो रागरहित शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है, वह निश्चयसाधन है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साधकजीव को उस समय उसका ज्ञान भी वर्तता है, यदि उसका ज्ञान न हो तो प्रमाण ही नहीं रहता।

व्यवहारसाधन के समय द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चय साधन भी होता है। यदि निश्चयसाधन को न जाने और अकेला व्यवहारसाधन से ही कल्याण माने तो एकांत मिथ्यात्व ही रहेगा।

प्रवचनसार परिशिष्ट के आरम्भ में ही कहा था कि आत्मा प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा जाना जाता है और अन्त में भी कहेंगे कि स्याद्वाद-अनुसार नयों से अथवा प्रमाण से किसी भी अपेक्षा देखो, अन्दर में निजात्मद्रव्य तो अनंतधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है; क्योंकि तात्पर्य तो एकमात्र शुद्ध चैतन्यद्रव्य को ही जानना है। क्रियानय का फल भी अन्तर में राग से पार शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अनुभव करना है। अकेले शुभराग में मग्न रहे और शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अनुभव न करे, तो वह क्रियानय भी मिथ्या है।

वस्तुस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) स्वयं ही पुकार-पुकार कर कहता है कि मैं प्रतिसमय अनंतधर्मों से भरपूर हूँ, क्षणिक राग बराबर नहीं हूँ/मेरी चैतन्य प्रभुता अनंतधर्मों से परिपूर्ण है। – ऐसी चैतन्यवस्तु को जानकर उसका अनुभव करे तो आत्मा की सम्यक् प्रतीति हो तथा आत्मा की प्राप्ति का उपाय हाथ आवे।

यहाँ एक-एक धर्म की मुख्यता से वर्णन किया गया है, परन्तु यह बात एक धर्म की मुख्यता के समय में ही अनन्तधर्मात्मक चैतन्यवस्तु को लक्ष्य में रखकर समझनी है।

भगवान आत्मा जड़ से भिन्न चैतन्यमूर्ति है, उसमें एकसाथ अनंतधर्मों को धारण करने की सामर्थ्य है तथा इसीप्रकार ज्ञानगुण में अनंतधर्मों को एकसाथ जानने की सामर्थ्य है; परन्तु छद्मस्थ की वाणी में अनंतधर्मों को एकसाथ नहीं कहा जा सकता।

केवलीभगवान की वाणी के साथ तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि उनकी वाणी द्वारा एकसाथ कहा जाता है, परन्तु छद्मस्थ के तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि वाणी में भी एकसाथ सबको नहीं कहा जा सकता। साधकजीव की प्रतीति में तो अनंतगुणात्मक सम्पूर्ण द्रव्य आ गया है, परन्तु अभी ज्ञानपर्याय पूर्ण विकसित नहीं हुई है; इसलिए वाणी में भी सबका कथन नहीं आता, लेकिन जितना भी आता है, उसमें विपरीतता नहीं होती। ज्ञानी होने पर भी वाणी का योग न हो – ऐसा तो हो सकता है; परन्तु वाणी होने पर यथार्थ प्ररूपणा ही होती है, वाणी द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वों की विपरीत प्ररूपणा नहीं होती – ऐसा नियम है।

जिसकी वाणी में प्रगटपने मूलतत्त्वों की प्ररूपणा विपरीत आती हो, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है – ऐसा जानना। अज्ञानी जीव के ज्ञान का उघाड़ चाहे जितना हो, तो भी उसका सम्पूर्णज्ञान मिथ्या ही है; क्योंकि उसने मूलवस्तु को नहीं पहिचाना तथा ज्ञानी के कदाचित् ज्ञान का उघाड़ कम भी हो तो भी उसका सम्पूर्णज्ञान सम्यक् है; क्योंकि उसने मूलवस्तु को स्वानुभव पूर्वक सम्यक्प्रकार से जाना है – पहिचाना है। इसलिए अन्तर में चैतन्यस्वभाव से भरी हुई चैतन्यवस्तु को जानने-पहिचानने का ही मूलभूत प्रयत्न करना चाहिये – यही कर्त्तव्य है।

यहाँ आचार्यदेव जिज्ञासु जीव को आत्मा का स्वरूप समझा रहे हैं। जिस जीव को आत्मा का स्वरूप समझने की वास्तविक जिज्ञासा जगी है, उस जीव को यह समझ में नहीं आये – ऐसा नहीं है। आत्मा में अनंतधर्म हैं, वे सभी चैतन्य-सामान्य में व्याप्त हैं अर्थात् किसी भी धर्म को जानते समय उसके चैतन्य-सामान्य का भान रहता ही है। एकसमय में अनंतधर्मात्मक आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है।

नय हो या प्रमाण हो – दोनों अवस्थाओं में प्रयोजन तो एकमात्र जागृत चैतन्यसत्ता का अनुभव होना ही है। स्वानुभव प्रमाण द्वारा अनंतधर्मात्मक आत्मा को जानने के बाद उसके एक-एक धर्म का ज्ञान करना नय है। नय से एक-एक धर्म का ज्ञान करने के बाद उन सभी नयों का ज्ञान एकसाथ मिलकर प्रमाण होता हो – ऐसा नहीं है; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनंतधर्मोंरूप अभेद ऐसी चैतन्यवस्तु को जानने पर जो ज्ञान होता है, उसे प्रमाण कहते है तथा उस प्रमाणपूर्वक वस्तु के एक धर्म को प्रधान करके जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। क्षणिकपर्याय का विकार और उसी समय अनंतधर्मात्मक शुद्ध चैतन्यद्रव्य – इसप्रकार दोनों का अस्तित्व जानते ही प्रमाणज्ञान होकर आत्मा का स्वानुभव होता है। जो ज्ञान क्षणिक राग तथा त्रिकाली शुद्धद्रव्य दोनों की जानता है, वह ज्ञान त्रिकाली शुद्धद्रव्य की ही महिमा करके उसके सन्मुख हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उसे शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है।

इसप्रकार जिसको प्रमाणपूर्वक स्वानुभव होता है, उसे ही आत्मा का वास्तविक जानना होता है और उसे ही सच्चे नय होते हैं। आत्मा को प्रमाण से जाने बिना अकेले राग को जाने तो राग के साथ एकत्वबुद्धि होकर एकांत मिथ्यात्व हो जाये। धर्मीजीव को सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान होने से राग को जानते समय भी राग के साथ एकत्वबुद्धि नहीं होती, बल्कि अनंतधर्मों के अखण्ड पिण्डस्वरूप शुद्ध-चैतन्य के साथ ही एकत्वबुद्धि वर्तती रहती है। धर्मी जानता है कि क्रियानय की अपेक्षा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है। – ऐसा आत्मा का एक धर्म है।

अभी स्वयं की पर्याय में व्यवहार रत्नत्रय आदि का शुभराग वर्तता है, परन्तु उसके साथ शुद्धचैतन्यस्वभाव की दृष्टि वर्तती है तथा इसके बल पर अधिकांश राग तो टल ही गया है और शेष राग का भी क्रम-क्रम से अभाव होकर पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जायेगी। इसलिए धर्मी के उस शुभ-अनुष्ठान को निमित्त गिनकर उसकी प्रधानता से सिद्धि होना कहा है। – ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है – ऐसा शुद्ध-उपादान पर दृष्टि रखकर धर्मीजीव जानता है।

धर्मीजीव दृष्टि को सामान्य चैतन्यस्वभाव पर कायम रखकर नयों द्वारा धर्मों को मुख्य-गौण करके जानता है और इसप्रकार जानकर वस्तु की शुद्धता को ही साधता है।

साधकजीव के जो शुभराग है, वह भी आत्मा की पर्याय का अंश है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा का है। जब शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत द्रव्य के आश्रय से साधकजीव अपना कल्याण साधता है, तब अशुद्धनिश्चयनयरूप शुभराग को जानते हुये उसकी प्रधानता से सिद्धि होना कहा जाता है; क्योंकि वीतरागी दृष्टिपूर्वक उस शुभ के समय अशुभराग के अभाव की अपेक्षा शुभ को भी साधन कह दिया है – यह नय विवक्षा का कथन है। परन्तु अन्तर के शुद्धस्वभाव की दृष्टि बिना मात्र शुभराग से सिद्धि हो जायेगी – ऐसा कभी नहीं बनता – यह बात नहीं भूलना चाहिये।

आत्मा के परमार्थस्वभाव का आश्रय लेना ही सिद्धि का साधन है, परन्तु साधक को राग के समय अशुभ से बचने के लिए व्यवहाररत्नत्रय आदि का शुभराग होता है, इसलिए क्रियानय में व्यवहार की प्रधानता से ऐसा भी कहा जाता है।

यहाँ व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है।

क्रियानय से ऐसे धर्म को जानते समय भी, शुद्धचैतन्यद्रव्य के अवलम्बन द्वारा निश्चयसाधन का परिणमन भी शामिल ही रहता है। इसप्रकार साधकदशा में जो निश्चयसहित व्यवहाररत्नत्रय वर्तता है, क्रियानय उसका ज्ञान कराता है।

शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में अनंतधर्म हैं, नय उन धर्मों को मुख्य-गौण करके जानता है; वे धर्म वस्तु में मुख्य-गौणपने नहीं रहते, वस्तु में तो सभी धर्म एकसाथ ही रहते हैं। शुद्धस्वभाव के अवलम्बनपूर्वक जब साधकदशा प्रगट होती है, तब शुभराग होता है तथा वह शुभराग भी धीरे-धीरे घटता जाता है और शुद्धात्मारूप निधान की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ शुभ की प्रधानता से सिद्धि होना कहा जाता है – आत्मा का ऐसा एक धर्म है और उसे जाननेवाला क्रियानय है।

क्रियानय में शुभ की प्रधानता के साथ गौणपने सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप शुद्धता तो शामिल ही है। यदि शुद्धता न हो, मात्र अकेला शुभराग ही हो, तब तो शुभ की 'प्रधानता' कहना भी सम्भव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है, क्योंकि 'प्रधानता' शब्द ही दूसरे का अस्तित्व बताता है।

क्रियानय से शुभ-अनुष्ठान की प्रधानता के समय ही अन्य अनंतधर्म आत्मा में रह रहे हैं। किसी आत्मा को शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है और किसी को ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि होती है – इसप्रकार पृथक्-पृथक् आत्मा में पृथक्-पृथक् धर्म नहीं है; परन्तु एक ही आत्मा में एकसाथ सभी धर्म होते हैं। वहाँ क्रियानय से देखने पर आत्मा को शुभ-अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हुई – ऐसा कहा।

यहाँ मात्र एक-एक धर्म को बताने का उद्देश्य नहीं है; परन्तु अनंतधर्म के पिण्डरूप चैतन्यवस्तु का यथार्थ निर्णय करके उसका स्वानुभव कराने का तात्पर्य है। एक-एक धर्म की प्रधानता से कहना तो वाणी का विलास है और उसमें राग का विकल्प है। एक धर्म को लक्ष्य में लेने से मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो अनंतधर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य के सन्मुख होकर उसी में एकाग्र होने से ही होती है। आत्मा कहीं एक ही नय का विषयमात्र नहीं है। आत्मा में तो अनंतधर्म है, अतः वह अनंतनयों का विषय होता है। तात्पर्य यह है कि अनंतनयस्वरूप जो श्रुतज्ञानप्रमाण है, उसके द्वारा आत्मा का स्वानुभव होता है। इसप्रकार अनंतधर्मात्मक आत्मा को जाने बिना जो आत्मा को मात्र क्रियानय के विषयरूप ही मानता है, वह एकांती है – मिथ्यादृष्टि है।

प्रमाण सम्पूर्ण आत्मा को जानता है और नय उसके एक धर्म को प्रधान करके जानता है तथा नय प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। इसप्रकार अनंतधर्मात्मक आत्मा को प्रमाणपूर्वक जाने बिना मात्र एक धर्म को ही मानें तो वह नय नहीं, नयाभास है।

इस संबंध में इसी प्रवचनसार के पेज नं. ४४७ पर आचार्यदेव ने कहा है कि 'परसमयों अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के वचन सर्वथा एकांत होने से वास्तव में मिथ्या हैं और सम्यग्दृष्टियों के वचन अपेक्षासहित होने से वास्तव में सम्यक् है।'

अनन्तधर्मों के पिण्डस्वरूप धर्मी को लक्ष्य में लिये बिना, उसके एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता और एक धर्म के लक्ष्य से मोक्ष का पुरुषार्थ भी नहीं होता । एक धर्म को यथार्थपने लक्ष्य में लेने पर अनन्तधर्मों का धनी आत्मा लक्ष्य में आता है और उस चैतन्यस्वरूप आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ हो जाता है ।

एक-एक धर्म को देखने पर धर्म का विकास नहीं होता, परन्तु अनन्त धर्मों से अभेद ऐसा आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है; उसके सन्मुख होने पर सम्पूर्ण धर्म निर्मल हो जाते हैं । अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण द्रव्य के लक्ष्यपूर्वक अनेकान्त प्रमाण हुए बिना द्रव्य के एक अंग का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता । प्रमाण के विषयरूप सम्पूर्ण वस्तु को देखने पर ही उसके अंश के ज्ञान को सच्चा नय कहा जाता है । प्रमाण के बिना सच्चा नय नहीं होता ।

'अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है' – जब इसप्रकार क्रियानय जानता है, तब नय के साथ रहनेवाला प्रमाणज्ञान अनन्तधर्मात्मक शुद्धात्मद्रव्य को भी जानता है । नय के साथ जो प्रमाणज्ञान होता है, वह मात्र एक धर्म को ही नहीं जानता; परन्तु अनन्तधर्मों के पिण्डस्वरूप शुद्धात्मद्रव्य को जानता है, अनुभव करता है। यदि वह शुद्धात्मद्रव्य को न देखे और अकेले राग को ही देखे तो उसे, प्रमाणज्ञान नहीं, परन्तु मिथ्याज्ञान है और उसके नय भी मिथ्या है ।

यह जो अनन्तधर्म कहे गये हैं, वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् अंश है और उन समस्त धर्मों को धारण करनेवाला एक भगवान आत्मा है । भावश्रुतज्ञान प्रमाण से आत्मा के ज्ञानपूर्वक उसके एक धर्म का ज्ञान करनेवाला नय है ।

जिसप्रकार स्वर्ण की जाँचपूर्वक उसके पीलेपन का ज्ञान करे तो पीलेपन का ज्ञान सच्चा होता है; परन्तु यदि सोने का जाने बिना मात्र उसके पीलेपन को जानना चाहे तो पीलेपन का ज्ञान यथार्थ नहीं होगा; क्योंकि पीले तो पीतल आदि अन्य पदार्थ भी होते हैं । इसलिए सोने को जाने बिना उसके पीलेपन का भी ज्ञान सच्चा नहीं होता । इसीप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मवस्तु में अनन्तधर्म है। उनके ज्ञानपूर्वक एक धर्म का ज्ञान होता है; परन्तु सम्पूर्ण आत्मा के लक्ष्य बिना मात्र एक ही धर्म को जाने, तब तो मिथ्यात्व ही रहेगा।

देखो, 'जो ज्ञान है वह आत्मा है' – इसप्रकार ज्ञान के भेदपूर्वक आत्मा को लक्ष्य में लिया जाय तो ज्ञान तो अन्य आत्माओं में भी होता है अर्थात् इसप्रकार तो अन्य आत्माओं से भिन्न अपने आत्मा का स्वरूप लक्ष्य में नहीं आयेगा, क्योंकि वह ज्ञान किसका है ? इसका निर्णय कैसे होगा ? मेरा ज्ञान है, वह मेरे आत्मा के साथ अभेद रहता है। इसप्रकार ज्ञान को आत्मा के साथ अभेद करके आत्मा का स्वसंवेदन करने पर आत्मा यथार्थपने जाना जाता है और इसप्रकार आत्मा को जानने के बाद उसके धर्मों का सच्चा ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञान बिना 'यह अंश इसका है' – यह ज्ञान नहीं होता है।

इसप्रकार प्रमाण से आत्मा को जाने बिना नय नहीं होते, धर्मों को जाने बिना धर्मी की सच्ची पहिचान नहीं होती। धर्मों की पहिचान बिना यह धर्म किसका है – इसकी खबर नहीं पड़ती। इसलिए वहाँ एकांत मिथ्यानय होते है। धर्मी के लक्ष्यपूर्वक उसके किसी एक धर्म को प्रधान करके जाननेवाला ही सम्यक् नय होता है।

एक आत्मा को विवेक की प्रधानता से और दूसरे आत्मा को विवेक बिना शुभ-अनुष्ठान को प्रधानता से सिद्धि होती है। – ऐसा नहीं है; परन्तु एक ही आत्मा में सम्पूर्ण धर्म एकसाथ रहते हैं; उसमें से जब नय एक धर्म को मुख्य करके देखता है, तब प्रमाणरूप वस्तु का ज्ञान भी गौणपने रहता ही है। उस समय एक धर्म अकेला नहीं रहता, परन्तु दूसरे अन्य अनन्तधर्मों के साथ रहता है। इसप्रकार सम्पूर्ण वस्तु के भाव बिना एक धर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

'क्रियानय से जिनकी सिद्धि अनुष्ठान को प्रधानता से होती है' – ऐसा कौन है ?

ऐसा एक धर्म नहीं, परन्तु सम्पूर्ण आत्मद्रव्य है। यह तो उस आत्म-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य का एक धर्म है। इसके साथ अन्य अनन्तधर्म भी गौणपने वस्तु में पड़े हुए है। यदि वे गौणपने न हों तो 'अनुष्ठान की प्रधानता' – ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक को प्रधान कहने पर अन्य गौणपने रहते ही है। – ऐसी नयों के वर्णन की शैली है, इसलिए वस्तु के ज्ञान बिना एक ही धर्म को लक्ष्य में लेकर चलें तो वह मिथ्यानय है। उसके तो एक धर्म का भी ज्ञान नहीं है। अर्थात् उसके कोई भी धर्म प्रगट नहीं होते। शुद्ध चैतन्यवस्तु आत्मा अनन्तधर्मों का पिण्ड है। ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु का आश्रय करते ही सम्पूर्ण धर्म निर्मलपने प्रगट हो जाते हैं।

सम्पूर्ण जीवों के लिये यह सामान्य अबाधित नियम है कि शुद्धचैतन्य वस्तु के आश्रय से ही धर्म का विकास होता है।

एक जीव को क्रियानय की मुख्यता से मुक्ति होती है और दूसरे जीव को ज्ञान की मुख्यता से मुक्ति होती है। इसप्रकार यदि भिन्न-भिन्न आत्मा के भिन्न-भिन्न धर्म हों तो वे दोनों आत्मा एक जाति के नहीं रहे, आत्मा ही भिन्न-भिन्न जाति के हो गये; परन्तु वस्तुस्थिति तो ऐसी नहीं है।

जगत में जिसप्रकार 'भव्यस्वभाव' और 'अभव्यस्वभाव' इसप्रकार दो प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वभाववाले जीव हैं, उसीप्रकार कोई जीव शुभक्रिया की प्रधानता से मुक्ति पाता है – ऐसे स्वभाववाला है और दूसरा जीव ज्ञान की प्रधानता से मुक्ति पाता है – ऐसे स्वभाववाला है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाववाले भिन्न-भिन्न दो जीव नहीं है। 'अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है' – इसप्रकार क्रियानय से आत्मा को लक्ष्य में लेने के समय ही उसी आत्मा को ज्ञाननय से देखो तो ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा उसका धर्म है।

इसप्रकार क्रियानय तथा ज्ञाननय दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म एकसाथ एक आत्मा में रहते हैं। अलग-अलग नय अलग-अलग धर्मों द्वारा एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य को ही जानते हैं।

एक-एक धर्म के क्रम से अनन्तधर्मों को जाने तो अनन्तकाल लग जाये। तात्पर्य यह है कि अकेले भेद के लक्ष्य से कभी भी वस्तुस्वरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं जाना जा सकता; परन्तु धर्म और धर्मी के अभेदरूप वस्तु का अनुभव करने पर प्रमाणज्ञान प्रकट हो जाता है और अनन्तधर्म एकसाथ प्रतीति में आ जाते हैं। पश्चात् साधकदशा में अपना विशेष प्रयोजन सिद्ध करने के लि साधकजीव नयों द्वारा धर्मों को मुख्य-गौण करके जानता हुआ सम्पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में रखता है और अज्ञानी एक धर्म को जानकर सम्पूर्ण वस्तु को छोड़ देता है। इसलिए उसे एकान्त-मिथ्यात्व ही रहता है।

यहाँ पर यह बताया जा रहा है कि आत्मा किसप्रकार प्रमेय होता है अर्थात् जाना जाता है। तात्पर्य यह कि यहाँ आत्मा को जानने की विधि बताई जा रही है।

आत्मा अनंतधर्मात्मक एक अखण्ड द्रव्य है। धर्म अनंत है, परन्तु अनुभव करने योग्य आत्मा एक ही है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण धर्मों द्वारा जानने योग्य आत्मा तो एक ही है। समस्त अनंतधर्म भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उन सभी धर्मों को धारण करनेवाला धर्मी आत्मा एक है। इस एक आत्मा के लक्ष्य से प्रमाणज्ञान होता है और तत्पश्चात् आत्मा प्रमेय होता है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा अनंतशक्ति सम्पन्न है। उसमें सर्वथा भेद करके एक-एक शक्ति को देखने से तो आत्मा का खण्ड-खण्ड रूप ही दिखाई देगा, यथार्थरूप दिखाई नहीं देगा। आत्मा को अनंतशक्तियों के एक अखण्ड पिण्डरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्यपने प्रतीति में लेने पर, वह आत्मा अनंत शक्तियों सहित यथार्थपने जाना जाता है।

समयसार में समागत २७०वें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि 'अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायरूप यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है। इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें खण्डों को निराकृत नहीं किया गया है; तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकांत शांत है और अचल है। – ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।'

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उक्त अभिप्राय को व्यक्त करनेवाला आचार्य अमृतचन्द्रकृत छन्द इसप्रकार है –

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोय्यमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक –
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोस्मि ॥

–ऐसे अनुभवपूर्वक होनेवाला नय ही सच्चा नय होता है। वह एक धर्म को भले मुख्य करके जाने, परन्तु वहाँ प्रमाण का अभाव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि धर्मी के नय के समय भी शुद्ध चैतन्यद्रव्य की दृष्टि चलायमान नहीं होती। यदि अखण्ड आत्मद्रव्य की दृष्टि छोड़कर अकेले नयों द्वारा मात्र एक-एक धर्म को देखने जाय तो वहाँ अकेली भेददृष्टि से आत्मा छिन्न-भिन्न हो जायेगा अर्थात् वहाँ सम्यक् आत्मा का अनुभव नहीं होता है; परन्तु अकेले विकल्प ही होते हैं।

इसी प्रवचनसार में कहा है कि वस्तु के अनंतधर्मों को अतद्भावपने के द्वारा भिन्न करना अशक्य है। अर्थात् एक वस्तु में रहे हुए अनंतधर्मों में जो एक धर्म है, वह दूसरे धर्मरूप नहीं है – ऐसा परस्पर अतद्भावपना है; परन्तु कहीं इतने मात्र से धर्म जुदे नहीं हो जाते; क्योंकि वस्तुपने तो उन दोनों धर्मों को एकता है। भिन्न-भिन्न अनंतधर्म होते हुए भी अनंतधर्मस्वरूप वस्तु तो एक ही है। नयों को पद्धति में एक धर्म को मुख्य और दूसरे धर्म को गौण किया जाता है। इससे कहीं वे धर्म वस्तु से पृथक् नहीं हो जाते।

वस्तु में से एक धर्म को पृथक् करके मात्र उसे ही सबकुछ मान ले, तब तो मिथ्यात्व ही होगा; क्योंकि धर्म अनंत हैं और धर्मी एक है। तथा उस धर्मी के साथ सम्पूर्ण अनंतधर्म अभिन्न हैं। ऐसे धर्मी की दृष्टि – लक्ष्य से सम्पूर्ण धर्मों का विकास हो जाता है। एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाला नय भी उस धर्मस्वरूप चैतन्यद्रव्य को देखता है। यदि चैतन्यद्रव्य की दृष्टि न हो तो नय भी मिथ्या होता है और वचन भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्या होता है।

आत्मा में सम्पूर्ण धर्म एकसाथ आत्मा के आश्रय से ही रहते हैं। और वे सम्पूर्ण धर्म एक साथ अपना-अपना कार्य करते है। आत्मद्रव्य के परिणमन के साथ उसके सम्पूर्ण धर्म भी प्रतिक्षण परिणमन कर रहे हैं। एक धर्म पहले क्षण में व दूसरा धर्म दूसरे क्षण में परिणमे – ऐसा नहीं है।

एक जीव गर्भकाल से ही उम्र की गणना करने पर आठ वर्ष की उम्र में अर्थात् जन्मकाल से ७ वर्ष ३ माह की उम्र में आत्मज्ञानपूर्वक मुनि होकर अन्तर्मुहूर्त में ही शुक्लध्यान से केवलज्ञान प्राप्त करता है; और दूसरा जीव आत्मज्ञानपूर्वक मुनि होकर भी करोड़ों-अरबों वर्षों तक चारित्र पालन करता है और तत्पश्चात् शुक्लध्यान से केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वहाँ आठ वर्ष में मुक्ति पानेवाले जीव में ज्ञाननय की प्रधानता से सिद्धि होने का धर्म हो व करोड़ों वर्षों तक चारित्र पालन के बाद मुक्ति पानेवाले जीव में क्रियानय की प्रधानता से सिद्धि होने का धर्म हो – ऐसा बिल्कुल नहीं है; परन्तु दोनों ही जीवों में वे दोनों ही धर्म मौजूद हैं, मात्र नय उन्हें मुख्य-गौण करके जानता है। यहाँ तो वास्तव में नयों द्वारा स्वयं अपने आत्मा को ही देखने की बात है। प्रमाण से अथवा नय से स्वयं आत्मा को शुद्धचैतन्यस्वरूप देखना ही एकमात्र तात्पर्य है।

जहाँ शुद्धज्ञानानंदस्वरूप आत्मा के भानपूर्वक अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा हो, वहाँ तो क्रियानय सच्चा है, परन्तु यदि साक्षीपना आदि अन्य धर्मों को छोड़कर अकेले अनुष्ठान से सिद्धि होना माना जाय तो वहाँ क्रियानय भी मिथ्या है; क्योंकि अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसे एक धर्म को लक्ष्य में लेने के समय राग का अकर्ता – साक्षी रहनेरूप अकर्तृधर्म कहाँ गया ? स्वभाव की मुख्यता में राग को गौण करनेवाला अनीश्वर अथवा प्रभुत्व धर्म कहाँ गया ? राग के बिना स्वयं स्वतन्त्रपने मोक्ष का कर्ता है – ऐसा कर्ताधर्म कहाँ गया ? अन्य साधन के बिना स्वयं स्वभाव से ही मोक्ष प्राप्त कराने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वाला करणधर्म कहाँ गया ?

इसलिए अनंतधर्मवाला शुद्ध चिन्मात्र आत्मद्रव्य को प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से नहीं जाननेवाले के एक भी धर्म का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

साधकदशा में शुभरागरूप अनुष्ठान भी होता है और क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है – ऐसा कहनेवाला भी एक धर्म है।

यहाँ प्रश्न होता है कि वह क्रियानय किसे देखता है ? तात्पर्य यह है कि उस क्रियानय के समय ज्ञानी की दृष्टि किसपर रहती है ? अकेले शुभराग पर या आत्मद्रव्य पर भी ?

क्रियानय आत्मा का धर्म है; इसलिए क्रियानय मात्र राग को ही नहीं देखता, अपितु शुद्धचिन्मात्र आत्मद्रव्य के ज्ञानसहित राग को भी जानता है। इसप्रकार आत्मद्रव्य को देखने पर उसके अवलम्बन द्वारा साधक जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि धर्म पूर्णतया प्रगट होकर मुक्तदशा प्रगट हो जाती है। यही आत्मा को सम्यक् नयों से जानने का फल है।

– इसप्रकार ४२वें क्रियानय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(४३)

ज्ञाननय

ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजव-द्विवेक प्राधान्यसाध्यसिद्धिः ।

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से मुट्ठीभर चने देकर चिन्तामणिरत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुये व्यापारी की भांति विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधे – ऐसा है ।

ज्ञाननय से देखने पर विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है, – ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है । जैसे कोई चिन्तामणिरत्न का पारखी व्यापारी अपने घर के कोने में बैठा हो और कोई ग्वाला चिन्तामणिरत्न लेकर उसके घर आवे और वह उससे उस चिन्तामणिरत्न को मुट्ठीभर चना देकर खरीद ले; इसीप्रकार जब आत्मा विवेक द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा चैतन्य-चिन्तामणि भगवान आत्मा को जाकर उसमें अन्तर-एकाग्रतापूर्वक क्षणमात्र में सिद्धि प्राप्त करता है, तब विवेक अर्थात् सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से आत्मा की सिद्धि हुई – ऐसा ज्ञाननय जानता है, ज्ञाननय से कहा जाता है ।

'ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि हुई' – ऐसा देखनेवाला ज्ञाननय अथवा 'क्रिया की प्रधानता से सिद्धि हुई' – ऐसा देखनेवाला क्रियानय; – यह दोनों नय शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के ही हैं । अतः दोनों ही एक आत्मा को देखते हैं और ज्ञान को आत्मसन्मुख करके आत्मा में ही एकाग्र करते हैं ।

अकेले ज्ञानधर्म को मानने से मुक्ति नही होती, परन्तु 'ज्ञान के ही साथ आनन्दादि अन्य अनन्तधर्म आत्मा में हैं, – ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करके उस आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही मुक्ति होती है । उस समय ज्ञाननय से ऐसा कहा जाता है कि विवेक की प्रधानता से सिद्धि

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होती है।

यहाँ प्रश्न है कि ऐसा ज्ञाननय किस जीव के होता है ?

जिस जीव के सम्पूर्ण आत्मा की दृष्टि प्रकट हुई है, उस जीव के ही ज्ञाननय होता है और वही ज्ञानी है।

सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के ज्ञानपूर्वक ही ज्ञाननय सिद्ध होता है, इसके अलावा ज्ञाननय सिद्ध नहीं होता। अज्ञानी को एक भी नय नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण नय प्रमाणज्ञान के अंश हैं, प्रमाण बिना सच्चे नय नहीं होते। जिसे अनन्तधर्मात्मक शुद्ध चैतन्य वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं हुआ, उसे उसके एक-एक धर्म का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

जिस जीव को स्वर्गादि संयोगों को प्राप्त करने की भावना नहीं है, परन्तु आत्मा का स्वरूप समझकर उसी को प्राप्त करने की भावना है – ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो ! यह आत्मा कैसा है ? और इसकी प्राप्ति किसप्रकार होती है ? हे प्रभो ! जिसे मैंने अनादिकाल से नहीं जाना – ऐसे आत्मस्वरूप को जानकर अब मैं उसको प्राप्त करना चाहता हूँ, जिससे मेरा संसार परिभ्रमण समाप्त हो और मुझे मुक्ति की प्राप्ति हो। अत: उस आत्मा का स्वरूप मुझे बताइये।

– ऐसे जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं, यहाँ इन नयों द्वारा उसी आत्मस्वभाव का वर्णन चल रहा है।

जो जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता/समझता है, वह उसमें एकाग्र होकर अवश्य उसकी प्राप्ति करता है और उसकी मुक्ति होती है। आत्मा का स्वरूप जाने बिना उसकी प्राप्ति कहाँ से हो ? इसलिए जिसे संसार परिभ्रमण से छूटना हो और आत्मा की मोक्षदशा प्राप्त करना हो, उसे आत्मस्वरूप को भलीभाँति जानना चाहिये।

आत्मा में एकसाथ अनन्तधर्म हैं, अनन्तधर्म होते हुए भी वे सभी चैतन्यसामान्य से व्याप्त हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करने पर ही वे अनन्तधर्म यथार्थ जाने जाते हैं। अनन्तधर्म

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को धारण करनेवाला एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है और उसके ही अवलम्बन से मोक्षमार्गरूप धर्म होता है – इसके अलावा अन्य किसी के भी अवलम्बन से मोक्ष नहीं होता / धर्म नहीं होता।

आत्मस्वरूप का सर्व-अपेक्षाओं सहित निर्विवाद निर्णय करके, श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करने पर स्वानुभव द्वारा आत्मा को जानकर उसमें एकाग्रता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है और सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र की पूर्णता से मोक्ष होता है। इसी का नाम शुद्धात्मा की प्राप्ति होना है।

श्रद्धा-अपेक्षा तो चौथे गुणस्थनवर्ती सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है, उसकी प्रतीति में शुद्धात्मा आ गया है; परन्तु सम्पूर्ण शुद्धात्मा की प्राप्ति तो मुक्तदशा प्रगट होने पर ही होती है। अत: उसकी प्राप्ति के लिए साधकजीव बारम्बार शुद्ध चैतन्यद्रव्य के सम्मुख एकाग्र होकर उद्यम करता है। ऐसा साधक जीव किस-किस नय से आत्मा को कैसा-कैसा जानता है ? यहाँ परिशिष्ट में उसी का वर्णन चल रहा है।

साधकजीव प्रमाण से देखे अथवा नय से देखे; परन्तु अन्तर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र ही देखता है और उसी के आश्रय से शुद्धता को साधता है। यह बात पहले भी अनेक बार कही है।

साधकजीव को क्रियानय के समय भी 'ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि होती है' – ऐसा ज्ञाननय का ज्ञान भी साथ ही रहता है और दृष्टि शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही रहती है वर्तती है। इस सम्बन्ध में पहले ४२वें क्रियानय का वर्णन करते समय विस्तार से कहा था, उसीप्रकार यहाँ भी समझ लेना।

– इसप्रकार ४३वें ज्ञानय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(४४)

व्यवहारनय

व्यवहारनयेनबन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमान-परमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उस वियुक्त होनेवाले परमाणु की भांति बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला बंधक और मोच क है ।

इस प्रवचनसार परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा का ४७ नयों द्वारा वर्णन किया है, उनमें से अभी तक ४३ नयों द्वारा विवेचन हो चुका है और अन्तिम ४ नयों का वर्णन होना है । वे चार नय इसप्रकार है–

(१) व्यवहारनय (२) निश्चयनय ३) अशुद्धनय और (४) शुद्धनय ।

यहाँ प्रथम व्यवहारनय द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया जाता है ।

व्यवहारनय से देखने पर आत्मद्रव्य बन्ध और मोक्ष के रूप में द्वैत का अनुसारी होता है । जिसप्रकार एक परमाणु बन्ध के समय अन्य परमाणु के साथ संयोगरूप द्वैत को प्राप्त करता है और परमाणु के बन्धन से छूटने के समय एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को प्राप्त करता है; उसीप्रकार व्यवहारनय से आत्मा में बन्ध के समय कर्म के साथ संयोग की अपेक्षा एवं मोक्ष के समय कर्म के वियोग की अपेक्षा होने से द्वैत है ।

देखो, कर्म से निरपेक्ष अकेले मात्र चैतन्यस्वभाव को ही लक्ष्य में लेकर देखा जाय तो भगवान आत्मा बन्ध-मोक्ष से रहित त्रिकाल एकरूप ही है; परन्तु पर्याय में बन्ध भी है और मोक्ष भी है । तथा बन्ध में कर्म का सद्भाव निमित्त है और मोक्ष में कर्म का अभाव निमित्त है।

इसप्रकार आत्मा को व्यवहार से बन्ध-मोक्ष दोनों अवस्थाओं में

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुद्गल कर्म की अपेक्षा होती है। इसलिए आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है – ऐसा कहा है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि द्वैत का अनुसरण करनेवाला धर्म आत्मा का स्वयं का है। वह किसी कर्म के कारण नहीं हुआ है।

अपने पर्याय में बन्ध की योग्यता के समय आत्मा स्वयं कर्म का अनुसरण करता है और अपनी पर्याय में मोक्ष की योग्यता के समय आत्मा कर्म के अभाव का अनुसरण करता है। कहीं कर्म में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा को कर्म का अनुसरण करने के लिए जबरदस्ती करता हो अर्थात् जितने अंशों में कर्म का उदय आता हो, उतने अंशों में आत्मा को कर्म का अनुसरण करना ही पड़ता हो – ऐसा नहीं है।

कर्म के उदय का अनुसरण न करता हुआ अपने आत्मस्वभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष का साधन हो और मोक्षदशा प्रगट हो। मोक्ष में आत्मा कर्म के अभाव का अनुसरण करता है। स्वभाव का अनुसरण न करके कर्म का अनुसरण करे तो बन्धन होता है और कर्म का अनुसरण न करके स्वभाव का अनुसरण करे अर्थात् कर्म के अभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष होता है।

इसप्रकार बन्ध में कर्म के सद्भाव का निमित्त है और मोक्ष में कर्म के अभाव का निमित्त है – ऐसा जानना चाहिये। बन्ध और मोक्ष की अवस्थारूप परिणमन तो आत्मा स्वयं अकेला ही करता है। मात्र उसमें कर्म के सद्भाव या अभावरूप निमित्त की अपेक्षा आती है। इसलिए ऐसा कहा है कि व्यवहारनय से आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है, परन्तु इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि कर्म आत्मा को बन्ध-मोक्ष कराता है। निश्चय से आत्मा राग करता है और व्यवहार से कर्म राग कराता है – ऐसा भी नहीं है।

वास्तव में जब आत्मा स्वयं राग करता है, तब कर्म का अनुसरण करता है। स्वभाव का अनुसरण करनेवाले के राग नहीं होता। इसलिए राग में कर्म के निमित्त की अपेक्षा है और इसका व्यवहार करना,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यवहारनय है; परन्तु राग कर्म कराता है ऐसा मानना ही भ्रम तो है। इसी प्रवचनसार की १२६वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने यह बात स्पष्टरूप से कही है कि अज्ञानदशा में, ज्ञानदशा में, संसार में अथवा मोक्ष में आत्मा स्वयं अकेला ही कर्त्ता है।

प्रश्न – क्षायिकसम्यक्त्व होने पर जीव को यह अच्छी तरह भासित हो जाता है कि राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा तो राग-द्वेष रहित एक ज्ञायकस्वभाव है, तब फिर सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष क्यों होता है ? उन्हें तो राग-द्वेष कर्म ही कराता होगा ? क्योंकि उनकी राग-द्वेष करने की भावना तो है नहीं।

उत्तर – क्षायिकसम्यक्त्व होने पर भी अर्थात् राग-द्वेष रहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान होने पर भी, उस जीव को जो राग-द्वेष होते हैं, उन्हें कर्म नही कराता, वह आत्मा स्वयं कर्म का अनुसरण करता है, इसलिए राग-द्वेष होते हैं। कर्म का उदय उसे जबरदस्ती राग-द्वेष करावे – ऐसा नहीं है।

राग-द्वेष करने की धर्मी के भावना नहीं होती, भावना तो स्वभाव का ही अनुसरण करने की होती है, परन्तु अस्थिरता के कारण अभी राग-द्वेष होते हैं और वे कर्म का अनुसरण करने पर होते हैं – ऐसा धर्मी जीव जानता है। तथा उसीसमय स्वभाव की दृष्टि के जोर से प्रतिक्षण उसके कर्म का अवलम्बन/अनुसरण टूटता जाता है और स्वभाव का अवलम्बन/अनुसरण बढ़ता जाता है।

इसप्रकार व्यवहार में बन्ध की भांति मोक्ष में भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है।

यह नय साधकजीव के होते हैं। अकेले संसार में रखड़नेवाले मिथ्यादृष्टि के नहीं होते, जिसकी दृष्टि में अकेले कर्म का ही अवलम्बन है, स्वभाव का अवलम्बन किन्चित् भी नहीं है, उसके तो यह व्यवहारनय भी नहीं होता है। ज्ञानी की दृष्टि में तो निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है, परन्तु अभी साधकदशा में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जितना राग-द्वेष होता है, उतना कर्म का अवलम्बन है। जितना राग है, उतना कर्म का निमित्त है – ऐसा वह जानता है और स्वभाव के अवलम्बन से जितने कर्मनिमित्त का अभाव हो जाता है, ज्ञानी उसे भी जानता है।

यहाँ बन्ध तथा मोक्ष में आत्मा के अलावा अन्य की अपेक्षा होने से उसे व्यवहार से द्वैत कहा।

समयसार में दृष्टिप्रधान कथन में सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे गुणस्थान में भी अबन्ध कहा है। 'उसे बन्ध ही नहीं है'। ऐसा वहाँ दृष्टि की प्रधानता से कहा है; परन्तु चौथे, पाँचवे और छटवें गुणस्थान में भी अभी चारित्र की अस्थिरता के कारण जितना राग-द्वेष होता है, उतना बन्धन भी है और उस बन्ध में कर्म के निमित्ता की अपेक्षा भी है। साधकजीव उसे व्यवहारनय से जानता है। अबन्धस्वभाव की दृष्टिपूर्वक वह बन्धन तथा उसके निमित्त को जानता है और अबन्धस्वभाव की दृष्टि बिना अज्ञानी को तो बन्ध का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

जिसप्रकार एक परमाणु 'बंधा या छूटा' यह बात ही अन्य परमाणु की अपेक्षा रखती है। 'इससे बंधा और इससे छूटा' इसप्रकार अन्य परमाणु की अपेक्षा आती है। इसलिए वह परमाणु बन्ध में और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। अन्य परमाणु की अपेक्षा बिना उसे बन्ध-मोक्ष नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार आत्मा के बन्ध या मोक्ष में भी कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है। बन्ध और मोक्ष तो आत्मा स्वतन्त्रपने करता है, परन्तु उसमें कर्म के सद्भाव या अभाव की अपेक्षा आती है। इसलिए व्यवहारनय से आत्मा बन्ध में कर्म का अनुसरण करता है और मोक्ष के समय कर्म के अभाव का अनुसरण करता है – ये दोनों प्रकार इस व्यवहारनय में आ जाते हैं।

साधकजीव की पर्याय आंशिक कर्म का अनुसरण करती है और आंशिक कर्म के अभाव का भी अनुसरण करती है। सर्वथा कर्म के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सद्भाव का ही अनुसरण करे – ऐसा नहीं है, परन्तु उसीसमय आंशिक स्वभाव का भी अनुसरण करती है। इसप्रकार यह साधकजीव की बात है।

परमपारिणामिक निरपेक्षस्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय के बन्ध-मोक्ष में कर्म के सद्भाव या अभाव की जितनी भी अपेक्षायें होती हैं, साधकजीव उन्हें भी जानता है।

बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला धर्म भी मेरी पर्याय का है अर्थात् बंध और मोक्ष में कर्म के निमित्त की अपेक्षा आने पर भी उन अवस्थाओं में भी मेरे आत्मा की स्वतन्त्रता है – ऐसी धर्मी जानता है।

यदि कर्म आत्मा को विकार कराता हो, तब तो फिर कर्म निमित्तरूप में नहीं रहा, परन्तु वह निमित्त ही स्वयं उपादान धर्म में आ गया अर्थात् उपादान धर्म स्वतंत्र नहीं रहा, परन्तु ऐसा नहीं होता।

यहाँ तो आत्मा अकेला स्वयं से ही बन्ध-मोक्षपने परिणमता है; परन्तु उसमें कर्मनिमित्त के सद्भाव या अभाव की अपेक्षा आती है। – यह बात शामिल है। जीव स्वयं विकार करके कर्म के उदय का अनुसरण करता है। इसलिए कर्म को निमित्त कहा जाता है। 'कर्म विकार कराता है' – यह मान्यता तो स्पष्ट उल्टी है; क्योंकि कर्म विकार नहीं कराता 'परन्तु अपनी गलती से ही विकार होता है' – ऐसा मानकर भी जीव विकारसन्मुख ही दृष्टि किये रहता है, विकार बराबर ही अपने आत्मा का अनुभव करता है। अतः वह भी मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ आत्मा की बन्ध-मोक्ष पर्याय में कर्म की अपेक्षा आती है, बस! उस अपेक्षा द्वैत को व्यवहार कहा है और बन्ध-मोक्ष पर्याय को निरपेक्ष कहने की अपेक्षा निश्चय कहा है।

समयसार में अध्यात्मदृष्टि की प्रधानता से बन्ध-मोक्ष पर्याय को भी व्यवहार में लिया है। वहाँ भेदमात्र को व्यवहार में लिया है और शुद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभेद-आत्मा को निश्चय में लिया है। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार का – भेद का आश्रय नहीं है। समकिति की दृष्टि में तो एकरूप अभेद शुद्धात्मा ही ध्येय व साध्य होता है और उस ध्येय में एकाग्रता करने पर पर्याय में निर्मलता प्रगट होती जाती है और बन्ध का अभाव होता जाता है। इसप्रकार पूर्ण निर्मल मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में अपनी पर्याय को भी निश्चय कहा है और उसमें पर की अपेक्षा होने से उसे व्यवहार कहा गया है। बंध-मोक्षपर्यायरूप आत्मा अकेला ही परिणमता है – ऐसा जानना निश्चयनय है और उस बंध-मोक्षपर्याय में कर्म की अपेक्षा होने के कारण आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है – ऐसा जानना व्यवहारनय है। यदि आत्मा सर्वथा कर्म के अभाव का ही अनुसरण करे तो मोक्षदशा प्रगट होती है और सर्वथा कर्म के उदय का ही अनुसरण करे तो मिथ्यादृष्टि अर्थात् संसार-अवस्था होती है। ये दोनों धारायें साधकजीव को एक साथ होती हैं अर्थात् साधकजीव स्वभाव के अवलंबन से आंशिक कर्म के अभाव का एवं अल्पविकार होने से आंशिक कर्म के उदय का अनुसरण करता है।

जब एक परमाणु किसी अन्य परमाणु से छूटकर किसी अन्य दूसरे परमाणु के साथ बंधता है, तब वहाँ उस परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंधने का स्वयं का धर्म होता है, अन्य परमाणु का नहीं। परमाणु को बंधने के लिए आगम में ऐसा नियम बताया है कि वह दो गुण अधिकवाले स्कंध के साथ ही बंधता है, परन्तु छूटने का कोई नियम नहीं है। दो परमाणुओं के संयोग को बंधन और आपस में बँधे हुए दो परमाणुओं के संयोग छूटने को मोक्ष – इसप्रकार बंध और मोक्ष दोनों में द्वैतपना है। स्पर्शगुण की चार अंशवाली रूक्षता एवं चिकनाई के साथ दो अंशवाले परमाणुओं का बंध होता है। वहाँ उन चार अंशवाले परमाणुओं को बंधक (बंध करनेवाला) कहते हैं और वह परमाणु अन्य परमाणु से छूटा, इसलिए अन्य परमाणु को मोचक (मुक्त करनेवाला)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहते हैं । इसप्रकार परमाणु के बंध-मोक्ष में अन्य परमाणु की अपेक्षा होने से उनमें व्यवहारनय से द्वैतपना है ।

इसप्रकार आत्मा की अवस्था में अपनी-अपनी योग्यतानुसार बंध - मोक्ष होता है, वहाँ 'आत्मा बंधा और मुक्त हुआ ।' – इसप्रकार कहने में 'कर्म से बंधा और कर्म से छूटा' ऐसी कर्म की अपेक्षा होने से द्वैतपना आता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा व्यवहारनय से द्वैत का अनुसरण करता है और यह स्वयं आत्मा का ही एक धर्म है ।

कार्तिकेयस्वामी ने द्वादशानुप्रेक्षा में पुद्गल की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा के केवलज्ञानरूप महानस्वभाव को ढकने में निमित्तरूप पुद्गल की महान शक्ति है – ऐसा कहकर वहाँ तो निमित्त-अपेक्षा पुद्गल की पर्याय में कैसा उत्कृष्ट धर्म है – यह बताया है; परन्तु उससे विपरीत जीव का उत्कृष्ट स्वभाव तो केवलज्ञानादि सामर्थ्य से भरा हुआ है, उसकी प्रतीति करे तो ही पुद्गल के स्वभाव का यथार्थज्ञान होता है । 'अकेले पुद्गल की ही सामर्थ्य है और पुद्गल ही जीव की शक्ति को रोकता है' – ऐसा माननेवाले की तो दृष्टि ही उल्टी है, वह तो जीव-पुद्गल की भिन्नता को भी नहीं जानता, तब फिर उसमें जीव की शक्ति क्या है और पुद्गल की शक्ति क्या है – इसका यथार्थ ज्ञान कैसे होगा ? पुद्गल का धर्म पुद्गल में स्वतंत्र है और जीव का धर्म जीव में स्वतन्त्र है, 'पर' पुद्गल का अनुसरण करना या 'स्व' चिदानंदस्वभाव का अनुसरण करना – इसमें भी स्वयं जीव स्वतंत्र है ।

वर्णन व्यवहारनय से हो अथवा निश्चयनय से हो – दोनो में सर्वत्र जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता को कायम रखकर ही वर्णन किया गया है – ऐसा समझना चाहिए और यह भी समझना चाहिए कि यही सर्वज्ञ भगवान के शासन का रहस्य है । जब जीव स्वयं केवलज्ञानरूप नहीं परिणम कर अल्पज्ञानरूप परिणमता है, तब वह केवलज्ञानावरणी कर्म का अनुसरण करता है । वहाँ केवलज्ञानावरणी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्म ने जीव की केवलज्ञान शक्ति को रोका – ऐसा कहा जाता है; परन्तु वह तो मात्र निमित्त-अपेक्षा उपचार कथन है। केवलज्ञानावरणी कर्म है, इसलिए आत्मा को उसका अनुसरण करना पड़ता है – ऐसा उल्टा मत मान; परन्तु बंधभाव के समय कर्म का अनुसरण करने का तेरे आत्मा का ही अपना धर्म है – इसप्रकार आत्मा की मुख्यता रख, तो तुझे आत्मा के धर्म द्वारा आत्मद्रव्य की पहिचान होगी और तेरा व्यवहारनय भी सच्चा होगा।

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष्य में लेकर देखा जाय तो आत्मा शुद्ध एकरूप ही है। उसकी पर्याय का विकारीभाव में अटकना भावबंध है और उस भावबंध में कर्मसंयोगरूप निमित्त होना – यह द्वितीयपना है, द्वैत है, अन्य द्रव्य है। इसप्रकार बंध में द्वैत है।

इसीप्रकार स्वभाव में लीन होकर मोक्षपर्याय प्रगट करने में भी कर्म के नाश की अपेक्षा होने से द्वैत है। इसप्रकार 'पर' की अपेक्षा सहित बंध-मोक्षपर्याय का कथन करना व्यवहारनय है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष दोनों में द्वैत की अपेक्षा रखनेवाला है। यहाँ एकरूप आत्मा में बंध-मोक्ष इसप्रकार दो भेद पड़े, इसलिए व्यवहार कहा गया हो – ऐसा नहीं है, अपितु बंध और मोक्ष – इन दोनों पर्यायों में पर की अपेक्षारूप द्वैत होने से व्यवहार कहा गया है तथा कर्म की अपेक्षा न लगाने पर तो आत्मा अकेला ही बंध-मोक्षदशारूप होता है। इसप्रकार लक्ष्य में लेना निश्चयनय है। इसप्रकार यहाँ बंध-मोक्षपर्याय का कथन निमित्त की अपेक्षा सहित करना व्यवहारनय है और निमित्त की अपेक्षा के बिना करना निश्चयनय है।

भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से निश्चय-व्यवहार कहा गया हो, वहाँ उसप्रकार समझना चाहिए।

इस संपूर्ण कथन का आशय यह नहीं है कि पुद्गल कर्म जीव को भावबंध कराता है, अपितु आत्मा में ही एक ऐसा धर्म है कि वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपने भावबंध में पुद्गल कर्म का अनुसरण करता है अर्थात् आत्मा निमित्त का अनुसरण करता है, निमित्त में ऐसा कोई धर्म नहीं है कि वह आत्मा को जबरदस्ती अनुसरण करावे।

कर्म का अनुसरण करनेवाला धर्म आत्मा की क्षणिकपर्याय में है, त्रिकालीस्वभाव में नहीं; अपितु कर्म के अभाव का अनुसरण करनेवाला धर्म आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है, अतः पर्याय में बंध है, स्वभाव में बंध नहीं है। ऐसे स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक प्रगट हुई धर्म की पर्याय में से कर्म का अनुसरण छूटता जाता है और कर्म के अभाव का अनुसरण होता जाता है।

पुद्गलकर्म में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा के बंध-मोक्ष का करनेवाला हो। आत्मा स्वयं ही अपने बंध-मोक्ष का करनेवाला है और स्वयं ही द्वैत का अनुसरण करता है। बंध और मोक्ष तो क्रम से होते हैं। बंधदशा के समय मोक्षदशा नहीं होती ओर मोक्षदशा के समय बंधदशा नहीं रहती, परन्तु उन बंध और मोक्ष दोनों दशाओं में द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म आत्मा में सदा होता है। बंध के समय द्वैत के अनुसरणरूप जुदा धर्म हो और मोक्ष के समय द्वैत के अनुसरणरूप जुदा धर्म हो – आत्मा में ऐसे जुदे-जुदे दो धर्म नहीं है, परन्तु आत्मा में तो द्वैत का अनुसरण करनेरूप एक ही धर्म है, उस धर्म से आत्मा बंध और मोक्ष के समय द्वैत का अनुसरण करता है।

मोक्षपर्याय में भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है – ऐसा व्यवहारनय से कहा है। उस कथन से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा को पर का अवलंबन है। मोक्षपर्याय की योग्यता के समय आत्मा स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है, इसलिए एक 'स्वयं' तथा दूसरा कर्म के अभावरूप 'निमित्त' – इसप्रकार आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। ऐसा जानना चाहिए।

द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म भी आत्मा के ही आश्रय से है, पर के आश्रय से नहीं। देखो, यह चैतन्य की महिमा ! इसमें अनन्तधर्मों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का निवास-स्थान है । चैतन्यवस्तु अनन्तधर्मों की बस्ती है, आत्मा अनन्तधर्मों का निवास-स्थान है । जिसप्रकार बड़े-बड़े मकानों में उद्घाटन करके लोग उनमें वास करते हैं, उसीप्रकार यहाँ आत्मवस्तु का उद्घाटन किया है, उस आत्मवस्तु में अपने अनन्तधर्म बसते हैं, उन अनन्तधर्मों का निवास-स्थान आत्मा है ।

हे जीव ! अपनी निजात्मवस्तु की महिमा को लक्ष्य में लेकर तू उसमें निवास कर, तो तेरा भववास समाप्त होकर तुझे मोक्षदशा प्रगट हो ।

आत्मा के अनन्तधर्मों में एक ऐसा धर्म है कि बंध और मोक्ष में वह द्वैत का अनुसरण करता है । बंध-अवस्था में कर्म का उदय है, इसलिए आत्मा कर्म के कारण द्वैत का अनुसरण करता है – ऐसा नहीं है; क्योंकि मोक्ष-अवस्था तो कर्म का अभाव होने पर ही प्रगट होती है और आत्मा वहाँ भी द्वैत का अनुसरण करता है – यह पहले स्पष्ट हो ही चुका है ।

इसप्रकार द्वैत का अनुसरण करने में भी आत्मा की स्वतंत्रता है । ऐसा नहीं है कि कर्मोदय का जोर होने के कारण आत्मा को बंध का अनुसरण करके बंधभाव करना पड़ता है और जब आत्मा को कर्म बंधनमुक्त करे, तब मोक्ष प्राप्त हो । आत्मा बंध के समय स्वयं कर्म का अनुसरण करता है और मोक्ष के समय स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है । इसप्रकार द्वैत का अनुसरण करनेवाला धर्म आत्मा का स्वयं का है ।

परसन्मुखदृष्टि से इस धर्म की प्रतीति यथार्थपने नहीं हो सकती, परन्तु आत्मसन्मुख दृष्टिपूर्वक ही आत्मा के धर्म का यथार्थपने स्वीकार होता है – प्रतीति होती है ।

यदि आत्मा के एक धर्म को भी यथार्थपने स्वीकार किया जाय तो उसमें भी संपूर्ण आत्मा का रहस्य समझ में आ जाता है । आत्मा एक वस्तु उसमें अनन्तधर्म, उन धर्मोंरूप वस्तु को जाननेवाला प्रमाणज्ञान,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक-एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय और अनन्तनयोंस्वरूप श्रुतज्ञान प्रमाण तथा पर्याय में विकार और उसका निमित्त – इसप्रकार संपूर्ण रहस्य इसमें (एक धर्म की यथार्थ स्वीकृति में) आ जाता है। यह बात सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए जैनदर्शन के सिवाय अन्य कहीं भी नहीं मिलती।

यहाँ आत्मद्रव्य का स्वरूप समझने के लिए उसके जुदे-जुदे धर्मों द्वारा उसका वर्णन किया है; परन्तु उद्देश्य एक-एक धर्म के भेद पर वजन देना नहीं है, अपितु अभेद आत्मा पर वजन देता है। आत्मा के इन अनन्तधर्मों द्वारा अनन्तधर्मात्मक धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मद्रव्य का निर्णय करके, उस पर ही दृष्टि का जोर देना है। अंतरंग में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना ही – सभी नयों का तात्पर्य है। इसके अलावा निमित्त, विकार अथवा भेद पर वजन देना किसी भी नय का प्रयोजन नहीं है। 'अनन्तधर्मों के पिंडरूप चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य के ही ये सभी धर्म हैं' – इसप्रकार जानकर शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का ही अवलंबन करने पर शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मा की पूर्णशुद्ध मुक्तदशा प्रगट हो जाती है।

देखो, यहाँ व्यवहारनय में भी ऐसा नहीं कहा कि कर्म का उदय आत्मा को बंधन कराता है। व्यवहारनय से तो मात्र इतना कहा है कि आत्मा स्वयं बंध के समय कर्म का अनुसरण करता है। कर्म में ऐसा कोई धर्म नहीं है कि जिससे वह आत्मा को बंध अथवा मोक्ष करा सके। बंध-मोक्ष के समय कर्म के सद्भाव या अभाव का अनुसरण करना – ऐसा आत्मा का धर्म है और आत्मा के इस धर्म को व्यवहारनय बताता है। व्यवहारनय भी आत्मा के धर्म को ही बताता है, निमित्त के धर्म को नहीं।

व्यवहारनय से आत्मा बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है – ऐसा कहा, उसमें द्वैत का अनुसरण करनेरूप जो धर्म है, वह तो आत्मा में निश्चय से ही है अर्थात् व्यवहारनय का विषयभूत धर्म भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा में तो निश्चय से ही है ।

आत्मा के जो अनन्तधर्म हैं, वे सभी आत्मा में निश्चय से ही हैं । उनमें से यह बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म के द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाला ज्ञान व्यवहारनय है, क्योंकि वह निमित की अपेक्षापूर्वक बंध-मोक्ष को जानता है ।

जिसप्रकार दो अंश अधिक रूखे अथवा चिकने परमाणु में बंध होने की योग्यता होने पर परमाणु अपने से 'दो अंश अधिक' ऐसे अन्य परमाणु के स्कन्ध का अनुसरण करके स्वयं ही उसरूप परिणमन करता है, बंधता है – इसप्रकार व्यवहारनय से वह परमाणु बंध में द्वैत का अनुसरण करता है । परन्तु अनुसरण करने का धर्म तो उस परमाणु का स्वयं का ही है, दूसरे दो अंश अधिक परमाणु के कारण वह धर्म उसमें नहीं आया । इसीप्रकार उस परमाणु की योग्यता होने पर ही वह स्कंध से छूटता है, वहाँ भी अन्य परमाणु से छूटनेरूप द्वैत का अनुसरण करता है । इसीप्रकार आत्मा बंध-मोक्ष में स्वयं ही द्वैत का अनुसरण करता है ।

बंधन कहने से कर्म के संयोग की अपेक्षा आती है और मोक्ष कहने से कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है । आत्मा और कर्म इन दो बिना बंध-मोक्ष सिद्ध नहीं होता । इसलिए व्यवहारनय से बंध और मोक्ष दोनो में आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है – ऐसा कहा ।

व्यवहारनय से भी ऐसा नहीं कहा कि पर के कारण आत्मा को बंध-मोक्ष होता है; क्योंकि वास्तव में बंध-मोक्ष तो स्वयं से ही होता है, परन्तु उसमें कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा आती है । इसलिए बंध-मोक्ष में द्वैतपना है – ऐसा व्यवहारनय से कहा है । यह समझ में आने पर जीव को कर्म के कारण मोक्ष होता है – ऐसी मिथ्या मान्यता ही नहीं रहती अर्थात् पराधीनदृष्टि का नाश होकर दृष्टि आत्मद्रव्य पर ही स्थिर हो जाती है ।

जिनकी दृष्टि विकार एवं निमित्त पर रहती है, उनको आत्मा के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक भी धर्म की यथार्थ प्रतीति नहीं होती ।

धर्म द्वारा धर्मी – ऐसे शुद्ध चैतन्यरूप आत्मद्रव्य को देखकर, उसके ऊपर दृष्टि का जोर जाते ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर आत्मा के धर्मों की यथार्थ प्रतीति होती है । इसप्रकार किसी भी धर्म के ज्ञान द्वारा अनन्तधर्मों के पिंडरूप शुद्ध चैतन्यद्रव्य को दृष्टि में लेकर अनुभव करना – यही एक करने लायक कार्य है ।

अहो ! अनन्तगुणों से स्वाधीन ऐसे चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा की पहिचानपूर्वक उसकी महिमा भासित हो, तो उसका अनुभव करके यह आत्मा अनादि के मिथ्यात्वरूपी महापाप को छोड़कर निर्भार हो । एकबार ऐसे आत्मा पर दृष्टि करते ही अनन्तसंसार का कारणरूप मिथ्यात्व छूट जाता है और बाद में उस शुद्धात्मा के अवलंबनपूर्वक जितनी-जितनी उसमें एकाग्रता होती जाती है, उतने-उतने अविरति आदि पाप भी छूटते जाते हैं और आत्मा निर्भार तथा निष्पाप होता जाता है तथा उसके अतीन्द्रिय आत्मा का वेदन बढ़ता जाता है और क्रमशः शुद्धात्मस्वरूप में पूर्णपने एकाग्रता होने पर विकार का भार सर्वथा समाप्त हो जाता है तथा पूर्ण निर्भार अर्थात् संपूर्ण शुद्ध पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है ।

पहले बंधदशा में कर्म के निमित्त का सद्भाव था और अब मोक्षदशा में कर्म के निमित्त का अभाव हो गया है । इसप्रकार बंधपर्याय में और मोक्षपर्याय में आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है – ऐसा आत्मा का एक धर्म है और उस धर्म से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान व्यवहारनय है । इसप्रकार यहाँ व्यवहारनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

निश्चयनय

निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ।

आत्मद्रव्य निश्चयनय से अकेले बध्यमान और मुच्यमान–ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है ।

निश्चयनय से देखा जाय तो आत्मद्रव्य बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है । जिसप्रकार बंध-मोक्ष के योग्य रूक्ष एवं स्निग्धरूप परिणमकर परमाणु अकेला ही बंधता एवं मुक्त होता है । उसीप्रकार निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बंध या मोक्षदशारूप होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा भी बंध अथवा मोक्ष में अपनी योग्यता से ही परिणमता है, उसमें उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती ।

प्रश्न – यहाँ बंध-मोक्ष की पर्याय को निश्चयनय का विषय कहा है, सो क्या अपेक्षा है ?

उत्तर – यहाँ मात्र इतनी अपेक्षा है कि बंध-मोक्ष की पर्याय में पर की अपेक्षा न लेकर अकेले आत्मा की ही अपेक्षा ग्रहण की है ।

निश्चयनय से बंध-मोक्ष में भी अकेला आत्मा ही है; इसलिए ऐसा कहा कि आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है ।

यहाँ जो यह कहा है कि निश्चयनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है, उसमें दृष्टि के विषयरूप आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव की बात नहीं है, परन्तु बंध-मोक्षपर्याय में आत्मा अकेला ही परिणमता है; अतः अकेले आत्मा की ही अपेक्षा बंध-मोक्षपर्याय को लक्ष्य में लेने की बात है ।

बंधपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमता है और मोक्षपर्याय में

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी अकेला आत्मा ही परिणमता है – इसप्रकार बंध-मोक्षपर्याय पर से निरपेक्ष है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से आत्मा बंध तथा मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है। ऐसा उसका एक धर्म है।

वस्तु के एक धर्म को ही जानकर उसमें न अटकते हुए उस धर्म द्वारा अनन्तधर्मों को धारण करनेवाली ऐसी सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को जानने-मानने पर ही श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होते हैं। परन्तु जो ऐसा मानता है कि पुण्य के कारणभूत शुभराग से धर्म होता है, वह तो अनन्त - धर्मस्वरूप आत्मा को जानता ही नहीं है; परन्तु क्षणिक विकार को ही आत्मा मानता है।

देखिये, शुभराग तो आत्मा के अनन्तगुणों में से एक चारित्र गुण की एक समय की विकारीदशा है तथा उसीसमय आत्मा में उस चारित्र गुण की अनन्त शुद्धपर्यायें हों – ऐसी सामर्थ्य है और चारित्र गुण की भाँति ही ज्ञान-दर्शन आदि और भी अनन्तगुण हैं। – ऐसे अनन्तगुणों के धारक आत्मा को लक्ष्य में लेने पर क्षणिकराग में एकताबुद्धि नहीं होती और जिसके राग में एकताबुद्धि नहीं होती, वह राग से लाभ भी नहीं मानता। क्षणिकराग से लाभ माननेवाले ने अनन्तधर्मों के पिण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जाना है, नहीं माना है। इसलिए उसे धर्म नहीं होता।

हे प्रभो ! उस आत्मा का क्या स्वरूप है, जिसको जानकर अन्तर में एकाग्र होने से धर्म होता है ? – ऐसा जिज्ञासु शिष्य के पूछने पर आचार्यदेव ने यहाँ (इस प्रवचनसार परिशिष्ट में) आत्मा का अनेक नयों से वर्णन करके उसका स्वरूप समझाया है।

नयों से आत्मा के जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे सभी धर्म आत्मा में स्वयं से ही हैं, पर के कारण नहीं। अत: पर की तरफ देखने का कोई काम भी नहीं है; परन्तु अनन्तधर्मों के आधाररूप एक शुद्ध चैतन्यद्रव्य के सन्मुख रहने का ही काम है।

निश्चय से आत्मा स्वयं अकेला ही बंध-मोक्षरूप परिणमता है। 'बंध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने में कर्म का निमित्त है और मोक्ष होने में देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त है' – इसप्रकार पर की अपेक्षा से बंध-मोक्ष को लक्ष्य में लेना व्यवहार है। आत्मा स्वयं ही अपनी पर्याय में बंधता है और स्वयं अपनी पर्याय में ही मोक्ष प्राप्त करता है।

– इसप्रकार बंध-मोक्ष में स्वयं अकेला ही होने से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है। निश्चय से बंध में अथवा मोक्ष में आत्मा अपने भाव का ही अनुसरण करता है, पर का अनुसरण नहीं करता। स्वयं विकाररूप परिणमकर विकार से बंधता है और शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से स्वयं ही शुद्धभावरूप परिणमकर मुक्त होता है।

इसप्रकार निश्चय से आत्मा बंध में अथवा मोक्ष में अपने सिवाय किसी पर का अनुसरण नहीं करता। इसलिए आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। – ऐसा आत्मा का एक धर्म है। यह बात समझ में आने पर स्वयं अकेले ही बंध-मोक्षरूप परिणमनेवाले आत्मा पर दृष्टि जाये बिना नहीं रहती और आत्मा पर दृष्टि जाते ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा दृष्टि में आ जाता है। परवस्तु बंध-मोक्ष कराती है – ऐसी मान्यता तो उसके रहती ही नहीं है। और जिसके ऐसा श्रद्धान हो जाता है कि बंध-मोक्षरूप मेरा अकेला आत्मा ही परिणमता है, उसको अकेला बंधरूप परिणमन नहीं होता, बल्कि उसके तो मोक्षमार्गरूप परिणमन भी शुरू हो जाता है। इसके पूर्व ४४वें नय में व्यवहारनय से बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला धर्म भी आत्मा में ही बताया था। वह धर्म भी आत्मा का अपना होने से उसमें भी आत्मद्रव्य के सन्मुख रहने का ही उपदेश था, पर की ओर दृष्टि करने का नहीं। द्वैत का अनुसरण करनेरूप एवं अद्वैत का अनुसरण करनेरूप दोनों धर्म आत्मा में होने से ही यह बात सिद्ध है कि आत्मा में ऐसे अनन्तधर्म एकसाथ रहते हैं।

इन समस्त धर्मों को स्वीकार करते ही सम्पूर्ण आत्मद्रव्य शुद्धचैतन्यमात्रपने दृष्टि में आ जाता है। अनन्तधर्मों के पिण्डरूप सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को भूलकर एक धर्म पर ही दृष्टि जमाये रहे, तब तो आत्म-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य भी यथार्थपने दृष्टि में नहीं आता और एक धर्म का स्वरूप भी सही समझ में नहीं आता।

अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेने पर वह आत्मद्रव्य शुद्धचैतन्यमात्रपने दृष्टि में आ जाता है और अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होकर अनादि के मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। यहाँ से साधकदशा आरम्भ होती है और जब शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा में एकाग्र होने पर चारित्रदशारूप मुनिपना प्रगट होता है तब अस्थिरता का नाश होता है। यही धर्म तथा मोक्षमार्ग है।

अज्ञानी को अनन्तधर्मस्वरूप अपने आत्मा की महिमा नही आने से पर की महिमा आती है और कोई तो एक-एक धर्म के भेद के विकल्प से लाभ मानकर उसमें ही अटक जाता है। इसलिए उसको शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति नहीं होने से उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं होता।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि बंधमार्ग में भी आत्मा स्वयं अकेला ही बंधभाव को करता है और मोक्षमार्ग में भी आत्मा स्वंव अकेला ही अपने छह कारक से स्वयं मोक्षमार्ग रूप परिणमता है तथा मोक्ष में भी आत्मा स्वयं अकेला ही है। मोक्षमार्ग के समय व्यवहार में अन्य निमित्तों की अपेक्षा भले हो; परन्तु वास्तव में मोक्षमार्ग में आत्मा अपने स्वभाव का ही अनुसरण करता है। पर के अनुसरण में मोक्षमार्ग नहीं होता। बंधमार्ग तथा मोक्षमार्ग में मैं अकेला ही हूँ, किसी अन्य द्रव्य के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। – ऐसा निर्णय करनेवाले जीव परद्रव्य के प्रति एकत्वबुद्धि तोड़कर स्वद्रव्य की ओर परिणमन कर शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं।

इसी प्रवचनसार की १२६वीं गाथा की टीका में कहा है कि जब मैं संसारी था, उस समय भी वास्तव में मेरा कोई नहीं था, तब भी मैं अकेला ही कर्त्ता था; क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यस्वरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र था और ज्ञानदशा में भी वास्तव में मेरा कोई नहीं है, यहाँ भी मैं अकेला ही कर्त्ता हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र हूँ। – इसप्रकार बन्धमार्ग में और मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही है – ऐसी भावना भानेवाले के परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख होने से परद्रव्य परिणति बिल्कुल नहीं होती और परमाणु की तरह एकत्व की भावना भानेवाला वह पुरुष पर के साथ नहीं जुड़ता। इसलिए परद्रव्य के साथ नहीं जुड़ने से वह सुविशुद्ध होता है।

पूर्व में जो बन्ध-मोक्ष में द्वैत के अनुसरण की बात कही है; उसमें भी बन्ध-मोक्ष तो जीव की स्वयं की योग्यता से ही होता है, किसी पर के कारण नहीं; परन्तु वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहा है। और यहाँ बन्ध-मोक्ष में अद्वैत के अनुसरण की बात कहकर बन्धमार्ग, मोक्षमार्ग तथा मोक्ष में परद्रव्य से निरपेक्ष स्वयं अकेला आत्मा ही परिणमता है – ऐसा कहा। तात्पर्य यह है कि बन्ध-मोक्ष स्वयं अपने से ही होता हे, पर से नहीं।

'निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है' – इसका अर्थ ऐसा नहीं मान लेना कि आत्मा को बंधन ही नहीं है। बन्धन में भी निश्चय से आत्मा अकेला ही परिणमता है, इसलिए उसे अद्वैत का अनुसरण करनेवाला कहा है – ऐसा जानना।

जिसप्रकार परमाणु स्वयं अपने में ही बंध या मोक्ष के योग्य रूक्ष या स्निग्धरूप परिणमता है; अन्य परमाणुओं के साथ बंधने के काल में भी और अन्य परमाणुओं से छूटने के काल में भी वह परमाणु बन्ध अथवा मुक्त अवस्थारूप स्वयं अपने में ही परिणमता है – इसप्रकार निश्चय से उस परमाणु के बंधने या छूटने में अन्य परमाणु की अपेक्षा नहीं होती।

इसीप्रकार निश्चयनय से देखने पर आत्मा के बन्ध-मोक्ष में पर की अपेक्षा नहीं है। अत: आत्मा स्वयं अकेला ही बन्ध-मोक्ष के योग्य अपनी पर्याय से बंधता एवं छूटता है। व्यवहारनय से भी आत्मा को बन्ध-मोक्षरूप कोई दूसरा नहीं परिणमाता; परन्तु व्यवहारनय से आत्मा के बन्ध-मोक्ष में परनिमित्त की अपेक्षा आने पर भी बन्ध-मोक्षरूप आत्मा स्वयं अपने से अकेला ही परिणमता है।

'मैं परद्रव्य की क्रिया करता हूँ और परद्रव्य मेरी बन्ध-मोक्षदशा का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करनेवाला है'– ऐसा माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है, उसे अपने स्वाधीन धर्म का भान नहीं है और परवस्तु को भी वह स्वतंत्र नहीं मानता – ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव के किंचित् भी धर्म नहीं होता।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है और उस वस्तु में उसी वस्तु के अनन्तधर्म एकसाथ रहते हैं। ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु को एकसाथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है और उसके धर्मों को मुख्य-गौण करके जाननेवाला ज्ञान नय है। अनन्तधर्मस्वरूप सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके किसी धर्म को मुख्य करके जाननेवाला ज्ञान नय है। वही सच्चा नय होता है तथा सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञान बिना एक धर्म को जाननेवाला नय सच्चा नहीं होता। इसलिए नय साधकजीव के ही होते हैं।

यहाँ क्रमशः ४४-४५वें व्यवहार और निश्चय नामक नयों में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार से एक आत्मा की ही बन्ध-मोक्ष पर्याय का ज्ञान कराया है। एक आत्मा के बन्ध-मोक्ष में कर्म की अपेक्षा आती हो और दूसरे आत्मा का बन्ध-मोक्ष कर्म की अपेक्षा बिना निरपेक्ष हो जाता हो– इसप्रकार भिन्न-भिन्न दो आत्माओं के धर्मों की बात नहीं है; परन्तु एक ही आत्मा के दो धर्मों की बात है।

यहाँ प्रमाण के विषयरूप पदार्थ का वर्णन है, इसलिए आत्मा की अवस्था में जो बन्धन होता है, वह भी आत्मा का धर्म है; क्योंकि वह बन्धन किसी परवस्तु के कारण नहीं है और उस बन्धनरूप होने का धर्म आत्मा का त्रिकाली स्वभाव भी नहीं है, वह बन्ध मात्र बन्ध होने योग्य क्षणिकपर्याय के आश्रय से ही है। इसलिए बन्धन की अवस्थागत योग्यता का अभाव करके शुद्धद्रव्य के आश्रय से मोक्ष की योग्यता होनेपर सिद्धदशा में बन्धन होनेरूप धर्म का अभाव हो जाता है।

प्रमाण के विषयरूप वस्तु को जानते समय भी इस बात का खास ध्यान रहना चाहिए कि ज्ञान-श्रद्धान का जोर तो त्रिकाली शुद्धद्रव्यस्वभाव पर ही रहता है; क्योंकि वस्तु का त्रिकाली शुद्ध-स्वभाव और क्षणिक अशुद्धता –इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान क्षणिक अशुद्धता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में ही न अटक कर त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ही महिमापूर्वक उसमें एकाग्र होता है। –इसप्रकार अनन्तधर्मात्मक वस्तु को जाननेवाले की दृष्टि शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही रहती है; जिसे ऐसी दृष्टि नहीं होती, उसे वस्तु का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

'बन्ध-मोक्ष में अकेला ही है' – ऐसी प्रतीति होने पर यह जीव आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न जानते हुए अपने में ही अपने अनन्तधर्मात्मक शुद्धात्मा की दृष्टि करता है, फिर वह किसी भी परद्रव्य के कारण आत्मा को बन्ध-मोक्ष होना नहीं मानता। निश्चय से आत्मा अपने बन्ध-मोक्ष में पर की अपेक्षाकृत द्वैत का अनुसरण नहीं करता; परन्तु अद्वैत का अनुसरण करता है अर्थात् स्वयं अकेला ही बन्ध-मोक्षरूप परिणमता है।

निष्कर्ष के रूप में कहें, तो इसप्रकार कह सकते हैं –

(१) कर्म का निमित्त है, इसलिए जीव को बन्धन नहीं है।

(२) कर्म छूटा, इसलिए जीव की मुक्ति नहीं हुई।

(३) कर्म की पर्याय कर्म में है और जीव की पर्याय जीव में है।

जीव स्वयं अपनी पर्याय में विकाररूप परिणमा, इसलिए बन्धन हुआ और जीव स्वयं अपनी पर्याय में मोक्षरूप परिणमा, इसलिए मोक्ष हुआ। – इसप्रकार निश्चयनय से बन्ध-मोक्ष में आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है अर्थात् उसमें पर की अपेक्षा नहीं होती।

ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से आत्मा की बन्ध-मोक्ष पर्याय में कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा का भी साधक को ज्ञान होता है। – यह बात ४४वें नय में विस्तार से सिद्ध की है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अशुद्धनय

अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ।

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति सोपाधिस्वभाववाला है ।

जिसप्रकार घड़ा, रामपात्र आदि अवस्थायें मिट्टी का एकरूपभाव – स्वभाव नहीं है और एकरूप नहीं होने की अपेक्षा वह उपाधिभाव है – विभाव है । उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में होनेवाला विकारीभाव आत्मा का एकरूपभाव – स्वभाव नहीं है, परन्तु उपाधिभाव है – अशुद्धता है । पुद्गलद्रव्य का तो घड़ा इत्यादि पृथक्-पृथक् अवस्थाओंरूप होने का त्रिकालस्वभाव है अर्थात् पुद्गलद्रव्य तो सदा – त्रिकाल किसी न किसी अवस्थारूप रहता है; परन्तु आत्मा की पर्याय में होनेवाली अशुद्धता त्रिकाल होती रहे – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है अर्थात् अशुद्धता आत्मा का त्रिकालस्वभाव नहीं है, अपितु उपाधिभाव है ।

अशुद्धता आत्मा की उपाधि होने पर भी आत्मा ने उसे एकसमय की पर्याय में स्वयं धारण कर रखा है; इसलिए वह भी आत्मा का एक धर्म है और उस धर्म की अपेक्षा आत्मा सोपाधिस्वभाववाला है । यहाँ सोपाधिस्वभाव को त्रिकालीस्वभाव नहीं समझना, परन्तु अशुद्धपर्यायमात्र जितना क्षणिकस्वभाव समझना । ज्ञानी जानता है कि यह अशुद्धता मेरी पर्याय में होती है अर्थात् अशुद्धनय से मैं सोपाधिस्वभाववाला होने से अशुद्ध हूँ ।

यहाँ इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आत्मा का यह अशुद्धनय से वर्णन चल रहा है । उसमें भी एक शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मद्रव्य की दृष्टि कराने का ही प्रयोजन है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो, यह अशुद्धनय से जो अशुद्धता दिखाई देती है, वह तो एक क्षणिकधर्म है और आत्मद्रव्य तो एकसाथ अनन्तधर्मोंवाला है। अनन्तधर्मों की स्वीकृति होनेपर शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा की दृष्टि हुए बिना नहीं रहती; इसलिए यह अशुद्धनय भी उन्हीं (ज्ञानी) जीवों के होता है, जिनकी दृष्टि शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा पर होती है। अशुद्धनय स्वयं अशुद्ध नहीं है, वह तो श्रुतज्ञान का एक निर्मल अंश है।

आत्मा में अनन्तधर्म हैं, उनकी स्वीकृतिपूर्वक साधकजीव अशुद्धनय से औपाधिक धर्म को भी जानता है। साधकजीव ऐसा जानता है कि अशुद्धतारूप क्षणिक औपाधिक धर्म के समय ही मेरे आत्मा में शुद्धस्वभावरूप निरुपाधि धर्म भी विद्यमान है अर्थात् ज्ञानी के अशुद्धनय से उपाधि को जानते समय भी निरुपाधिस्वभाव का भी आंशिक परिणमन सदा वर्तता है। साधकजीव के मात्र अशुद्धता ही नहीं वर्तती, परन्तु अशुद्धता के समय ही आंशिक शुद्धता भी वर्तती है और उस ज्ञानी के ही सम्यक्-अनेकान्त तथा नय होते हैं। जिस जीव को स्वयं में अकेली अशुद्धता का ही परिणमन भासित हो और शुद्धता किंचित् भी भासित नहीं हो, उस जीव के तो यह अशुद्धनय भी नहीं होता। वह तो मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि के एक भी नय सच्चा नहीं होता अर्थात् उसके नय ही नहीं होते।

विकारजन्य उपाधि भी जीव की वर्तमानपर्याय का स्वभाव है। अशुद्धनय से देखने पर उस उपाधियुक्त आत्मा दिखाई देता है। 'राग से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से निश्चय प्रगट होता है' – ऐसी मिथ्या-मान्यता तो अज्ञानी का उपाधिभाव है। उस मिथ्या-मान्यता का अभाव होने के बाद अस्थिरता के कारण जो क्रोधादिभाव होते हैं, वे भी औपाधिकभाव है। 'वे औपाधिकभाव आत्मा में होते हैं' – ऐसा अशुद्धनय से ज्ञानी जानता है।

यहाँ नय अपेक्षा बात चलती है। नय ज्ञानी के ही होते हैं और ज्ञानी को मिथ्यात्वजन्य औपाधिकभाव तो होता ही नहीं है। मिथ्यात्व के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अलावा जो औपाधिकभाव होते हैं, वे भी किसी परद्रव्य के कारण नहीं होते; परन्तु स्वयं की पर्याय का ही वैसा स्वभाव है – ऐसा धर्मी जानता है अर्थात् वह द्रव्य के शुद्धस्वभाव के ज्ञानपूर्वक पर्याय की अशुद्धता को भी जानता है। आत्मा की पर्याय में जो विकारीभाव होते हैं, वे उसके एक समय के औपाधिकभाव हैं। वे औपाधिकभाव पर में नहीं हैं, पर के कारण नहीं है; परन्तु आत्मा की पर्याय का ही वैसा धर्म है।

यदि इसप्रकार का धर्म भगवान आत्मा में स्वयं का न होता तो अन्य अनन्त परद्रव्य इकट्ठे होकर भी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं करा सकते थे। निगोद से लेकर १४वें गुणस्थान तक जो उपाधिभाव विकारभाव उदयभाव संसारभाव होते हैं; उन्हें आत्मा स्वयं ही धारण किये रहता है; क्योंकि अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। जिसप्रकार रागादिरूप परिणमित होना आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नहीं है, उसीप्रकार ये रागादिभाव पर के कारण भी नहीं होते।

यद्यपि लक्ष्मी, शरीर, स्त्री-पुत्र, घर-बार, दुकान आदि परपदार्थों की उपाधि भगवान आत्मा में नहीं है, तथापि अशुद्धनय से रागादि विकाररूप उपाधिवाला तो यह आत्मा ही है। 'उपाधि' शब्द से यह तो स्पष्ट ही है कि यह भगवान आत्मा का त्रिकाली मूलस्वभाव नहीं है। मात्र पर्याय में एक समय की उपाधि है; परन्तु शुद्धनय से अन्तर्मुखस्वभाव को देखने पर उस भगवान आत्मा में यह उपाधि नहीं है।

इसप्रकार दोनों अपेक्षाओं से आत्मद्रव्य को जानकर शुद्धात्मसन्मुख होना ही धर्म है। त्रिकाल निरुपाधिके शुद्धद्रव्य और क्षणिक उपाधिरूप अशुद्धता – इन दोनों की यथार्थ जानकारी होने पर शुद्धद्रव्य की दृष्टि के बल से पर्याय की उपाधि भी नष्ट हो जाती है और शुद्धता प्रगट हो जाती है।

एकसाथ अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य सर्वत्र अशुद्ध अर्थात उपाधिवाला नहीं है; परन्तु अशुद्धनय से उपाधिवाला है और अशुद्धनय के समय भी आत्मद्रव्य में विद्यमान शुद्धता का ज्ञान धर्मी को होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्तधर्मात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य के लक्ष्य से औपाधिकभाव का यथार्थज्ञान होता है। अकेले औपाधिकभाव के लक्ष्य से औपाधिकभाव का यथार्थज्ञान नहीं होता, परन्तु एकान्त हो जाता है। उपाधि एक समय की पर्याय का धर्म है, त्रिकाल रहना उसका स्वभाव नहीं है। यहाँ प्रमाण के विषय में द्रव्य-पर्याय दोनों का वर्णन होने से उपाधि को भी आत्मा का स्वभाव कहकर उस औपाधिकपर्याय का ज्ञान कराया है। एक समय मात्र के लिए आत्मा ने स्वयं विकार को धारण कर रखा है। यदि उसे न जाने तो सम्पूर्ण वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं होता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

क्या पंचमकाल के कारण आत्मा में उपाधि है ?

नहीं; पंचमकाल के कारण आत्मा में उपाधि नहीं है, किन्तु आत्मा का ही वैसा धर्म है।

देखो, आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा औपाधिकभाव तेरे ही कारण है – ऐसा होने पर भी जो जीव ऐसा नहीं मानता और पर के कारण उपाधि मानता है, वह वास्तव में सर्वज्ञ भगवान की भी आज्ञा नहीं मानता। पंचमकाल में जन्म लेनेवाला कोई जीव उसी भव से केवलज्ञान प्राप्त करे – ऐसा भले न बने; परन्तु उसका कारण कोई पंचमकाल नहीं है, अपितु जीव की स्वयं की पर्याय में ही उसप्रकार की उपाधि होने के कारण उस जीव को केवलज्ञान नहीं हुआ।

जिसे नरकगति के आयु का बँध हुआ हो, उसे पंचम गुणस्थान नहीं होता। इसीप्रकार भोगभूमि के जुगलिया जीवों, देवगति के जीवों में और नरक में सम्यग्दर्शन तो होता है; परन्तु व्रतादिक नहीं होते, पंचम गुणस्थान के योग्य शुद्धता नहीं होती। आदि के तीन नरकों से निकलकर मनुष्यभव प्राप्त करनेवाला जीव तीर्थंकर हो सकता है; चौथे नरक से निकला हुआ जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकता; पाँचवे नरक से निकला हुआ जीव मुनिदशा प्राप्त कर सकता है, परन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; छठवें नरक से निकला हुआ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव पाँचवें गुणस्थान के योग्य शुद्धता प्राप्त कर श्रावकदशा प्राप्त कर सकता है, परन्तु मुनिदशा प्राप्त नहीं कर सकता; सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं होता – ऐसा नियम है।

तो क्या इसका कारण कर्म या पूर्वपर्याय है ?

नही; जीव की उस पर्याय में ही उसप्रकार के उपाधिभावरूप धर्म के कारण उसप्रकार की योग्यता है। समकिती जानता है कि मेरी पर्याय में ही ऐसा औपाधिकभाव है; इसलिए ही मुझे केवलज्ञान, मुनिदशा अथवा श्रावकदशा नहीं हो रही है; किसी पर के कारण मेरी उक्त दशायें नहीं अटकी हैं और उसीप्रकार किसी पर के कारण यह उपाधिभाव भी नहीं है।

क्षणिक उपाधि के समय भी शुद्धनय से तो मैं निरुपाधि शुद्धस्वभाव ही हूँ। – ऐसी प्रतीति धर्मी की कभी भी नहीं मिटती। पूर्व के संस्कार के कारण वर्तमान पर्याय ही उस उपाधिभावरूप हुई है अर्थात् उस पर्याय का ही वह धर्म है। इसीप्रकार सिद्धदशा होने पर जो ऊर्ध्वगमन होता है, वह पूर्वप्रयोग के कारण होता है – ऐसा कहना भी उपचार ही है। वास्तव में तो उसकी उससमय की पर्याय का ही वैसा ऊर्ध्वगमन स्वभाव है।

यह ऊर्ध्वगमन स्वभाव उपाधिभाव नहीं है, परन्तु पर्याय का निरुपाधिभाव है। धर्मी अपनी पर्याय के उपाधिधर्म को जानता हो अथवा निरुपाधि स्वभाव को जानता हो; परन्तु शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर से उसकी दृष्टि नहीं हटती।

इसप्रकार यहाँ ४६वें अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

नोट – आध्यात्मिकसत्पुरूष पूज्य श्री कानजीस्वामी के इस विषय पर जो प्रवचन बाद में हुए हैं, उनमें उन्होंने इस अशुद्धनय का विषय निर्विकारी पर्याय सहित आत्मद्रव्य लिया है। यह बात उनके बाद के टेपों में मिलती है। तथा यहाँ जो प्रवचन छपे हैं, उनमे विकारीपर्याय सहित आत्मद्रव्य को अशुद्धनय का विषय बताया गया है। ये प्रवचन गुजराती नयप्रज्ञापन के आधार पर दिये गये हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

शुद्धनय

शुद्धनयेन केवलमृणमत्रवन्निरूपाधिस्वभावम् ।

आत्मद्रव्य शुद्धनयसे केवल मिट्टीमात्र की भाँति निरुपाधि-स्वभाववाला है ।

जिसप्रकार अकेली मिट्टी का पिण्ड मिट्टी ही है, उसमें कोई उपाधि नहीं है; इसीप्रकार शुद्धनय से देखने पर निरुपाधिक एकरूप स्वाभावी आत्मा है, उसमें कोई उपाधि नहीं है । यद्यपि क्षणिक पर्यायगत् अशुद्धता की अपेक्षा आत्मा में उपाधि है, तथापि सामान्यस्वभाव की अपेक्षा आत्मा में उपाधि नहीं है । उपाधि के काल में भी यह आत्मा निरुपाधिस्वभाववाला भी है । एकसमय में ही यह आत्मा इसप्रकार के अनेक धर्मोंवाला है और शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना ही इन सभी धर्मों के जानने का फल है ।

पर्यायगत् क्षणिक उपाधि के समय भी साधकजीव को निरुपाधिक शुद्धस्वभाव का भान है तथा उस साधकजीव की पर्याय में भी आंशिक निरुपाधिकपना प्रगट हुआ है । तात्पर्य यह है कि साधकजीव की पर्याय में भी उपाधिपना तथा निरुपाधिपना दोनों धर्म एकसाथ होते हैं । यदि ऐसा न हो तो एकान्ततः अकेली उपाधि ही है ।

यहाँ (इस परिशिष्ट में) अनेक प्रकार से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके आत्मद्रव्य की पहिचान कराई है । ये सम्पूर्ण धर्म आत्मा के अपने धर्म हैं, किसी परद्रव्य के नहीं हैं, परद्रव्य के कारण नहीं हैं । गमन, स्थिरता, अवगाहना, परिणमन आदि सभी धर्म आत्मा में स्वयं के हैं । यद्यपि धर्म-अधर्म-आकाश-काल तो निमित्त हैं, तथापि गमन आदि होनेरूप धर्म/स्वभाव तो वस्तु के ही है; निमित्त के नहीं है, निमित्त के कारण भी नहीं है, वे धर्म तो स्वयं के ही हैं । इन अनन्तधर्मों को धारण करनेवाले स्वयं सिद्ध आत्मा को जाननेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भगवान आत्मा अनन्तधर्मों का अखण्डपिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य है। वाणी द्वारा तो उसके कुछ ही धर्मों का वर्णन हो सकता है। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ धर्मों द्वारा आत्मा का वर्णन किया है – इन धर्मों मे से जितने उपाधिरूप अर्थात् अशुद्धतारूप धर्म हैं, वे सभी सिद्धदशा में नहीं रहते और जो स्वाभाविक धर्म हैं, वे सभी सिद्धदशा में भी होते हैं। सिद्ध परमात्मा के किसी नयविशेष से जानना बाकी नहीं रहा हैं, कुछ साधना (प्राप्त करना – उपलब्ध करना) बाकी नहीं रहा है। प्रमाण और नयों द्वारा तो साधकजीव ही अपने आत्मा को साधते हैं। यहाँ इन नयों द्वारा तो साधकजीव ही अपने आत्मा को साधते हैं। यहाँ इन नयों द्वारा साधकदशा की ही बात कही गई है।

जिज्ञासु जीव ने आत्मस्वरूप के बारे में पूछा था कि हे प्रभो ! यह आत्मा कौन है ? इसके उत्तरस्वरूप प्रथम तो आचार्यदेव ने बताया कि भगवान आत्मा वास्तव में तो चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता एकद्रव्य है, जो कि श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा जाना जाता है। भगवान आत्मा का इतना सामान्यस्वरूप बताकर बाद में इन ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया। शिष्य को यह बात समझने की तीव्र जिज्ञासा है, इसलिए यह बात शिष्य की सहज समझ में न आने पर भी अन्तर में आत्मा को समझने की तीव्र जिज्ञासा होने के कारण रुचिपूर्वक सुनता है – समझता है। – ऐसे ही शिष्य को यह बात समझाई गई है।

इसप्रकार इस प्रवचनसार परिशिष्ट में समागत ४७ नयों द्वारा आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

अब, जो नय अपेक्षासहित हैं, वे ही नय सम्यक् हैं और अपेक्षारहित सभी एकान्तनय मिथ्या हैं। यह बात आगे कहेंगे; और उसके बाद यह कहेंगे कि एक शुद्ध चैतन्यमात्र निज-आत्मद्रव्य को अन्तर में देखना ही एकमात्र उद्देश्य है। इसप्रकार आत्मद्रव्य का कथन करने के बाद उसको प्राप्त करने की विधि कहेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

उपसंहार

शिष्य ने ऐसा पूछा था कि वह आत्मा कौन है, जिसके ज्ञान से कल्याण होता है? आत्मा कौन है - यह बता दिया है। अब शांति और धर्म किसप्रकार होता है उसका उपाय क्या है? - इसका उत्तर देते हैं। पहली बात तो यह है कि अनादि से अज्ञानी स्वयं के ज्ञानस्वभाव को भूलकर ज्ञेयरूप परवस्तु के साथ प्रीति करता है। परपदार्थों से लाभ होता है - ऐसा मानकर उनके साथ मित्रता नहीं छोड़ता है तथा ज्ञानानन्दस्वभाव की मैत्री नहीं करता है। आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है; उसकी पर्याय में पुण्य-पाप होना दोष है। वह दोष तथा अन्य पदार्थ आत्मा से भिन्न वस्तु हैं। अज्ञानी परवस्तु से मित्रता करता है। परपदार्थ रहे तो ठीक है और न रहे तो गलत है - ऐसी मैत्री को मिथ्यात्व कहते हैं। अपना शुद्धस्वभाव ही अनुकूल है, परवस्तु अनुकूल-प्रतिकूल नहीं है। परवस्तु का आत्मा में अभाव है; परन्तु अज्ञानी भ्रान्ति उत्पन्न करके पर को अनुकूल-प्रतिकूल मानकर राग-द्वेष किया करता है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि हे प्रभु ! शान्ति किसप्रकार होती है? यह जीव अनादिकाल से दुःखी हुआ है, संसार में रखड़ता रहा है; यह अशान्ति दूर होकर शान्ति किसप्रकार हो ? अधर्म दूर होकर धर्म किसप्रकार हो ?

श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि भाई ! तुम ज्ञानस्वरूप हो, तुम्हारा स्वभाव देखना-जानना है, उसे भूलकर तुममें अनेकप्रकार की ज्ञप्ति, जानने की क्रिया होती है, वह ज्ञानपर्याय ज्ञेयों के साथ मैत्री करती है। शरीर-मन-वाणी तथा कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के साथ मैत्री करती है। इसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। वह अनन्त संसार का कारण है। इस जीव को

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हित-अहित का ज्ञान नहीं है। परवस्तु मिले तो लाभ हो जाय, पर को दूर करूँ तो ठीक रहे - ऐसी मिथ्या मान्यता करता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र जो कहते हैं, उसकी इसे खबर नहीं है। तथा सच्चे देव-गुरु का संयोग मिलने पर उनसे लाभ मानना भी मिथ्यात्व है; क्योंकि वे भी आत्मा से भिन्न हैं। अनेक जीव तो कुदेव-कुगुरु के निमित्त से संसार में रखड़ रहे हैं। वे कहते हैं कि राग घटाओ, दान करो, बाह्य दया करो तथा इतना पैसा खर्च करो। ऐसा उपदेश सुनकर अज्ञानी को जो बात पहले से अच्छी लगती थी, उसी को अपने अज्ञान के कारण दृढ़ करता है। पैसा तो परवस्तु है, उससे आत्मा को लाभ-हानि नहीं होती है। पैसे के प्रति राग घटाना तो पुण्य है; परन्तु धर्म नहीं है। धर्म तो चैतन्यस्वभाव से होता है - यह बात इसे अच्छी नहीं लगती है और परवस्तु के साथ मैत्री करके मिथ्यात्व का सेवन करता है एवं अपने भ्रम से संसार में रुलता है, उसे आत्मप्राप्ति नहीं होती है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सच्चे देव-गुरु के पास जाकर पूछता है कि मेरा हित किसप्रकार होगा ? उसका क्या उपाय है ? हित, श्रेय, कल्याण, श्रेय का मार्ग एवं सुखी होना - ये सभी एकार्थवाची हैं। अब इनकी प्राप्ति का उपाय कहते हैं।

'परन्तु जब यह आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से' इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है - सबसे पहले यह जीव सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान करता है। जो वीतरागी व सर्वज्ञ हैं, वे सच्चे देव हैं। जिनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, वे गुरु हैं और अनेकान्त को बतानेवाले सच्चे शास्त्र हैं - इसप्रकार सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान करना चाहिए तथा उनके द्वारा कथित वस्तुस्वरूप को यथार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानना चाहिए। देह, मन, वाणी, कर्म आत्मा से पर हैं, भिन्न हैं; राग-द्वेष विकार हैं। विकार से रहित आत्मा शुद्धस्वभावी है और उसके आश्रय से धर्म होता है। इसप्रकार सर्वप्रथम आत्मा का व्यवहार से ज्ञान करना चाहिए। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ना चाहिए।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का राग भी व्यवहार है, पुण्य है। तत्संबंधी विकल्प भी छोड़कर 'यह शुभभाव भी मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञाताद्रव्य हूँ, देह की और जड़ की क्रिया से रहित, पुण्य-पाप से रहित शांतस्वरूप हूँ' - ऐसे श्रद्धान-ज्ञान को कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड प्रचण्ड करना कहते हैं। आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और लीनता से कल्याण होता है, किसी अन्यप्रकार से कल्याण नहीं होता। साधकदशा में सच्चे देव-गुरु के प्रति राग होता है; परन्तु उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। कहीं ऐसा कहा हो कि उससे कल्याण होता है, तो उसे निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया कथन समझना चाहिए।

आत्मा वध्य है और मोह घातक है। यह जीव अनादि पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले मोह को तथा आत्मा को ज्ञानपूर्वक जुदा करता है। मोह प्रवाहरूप में अनादि से है तथा जीव जो नवीन-नवीन मोह करता है, उसमें जड़कर्म निमित्त है। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा में सुख है और पुण्य में धर्म है - यही मान्यता मोह है। पूर्व के पुण्य से हम सुखी हो जावेंगे - ऐसा मानना ही भ्रान्ति है। पुण्यकर्म और उसके निमित्त से मिलनेवाले संयोग जड़ हैं। यह जीव उनमें प्रीति करता है, पर से लाभ मानता है। स्त्री, पुत्र अच्छे हों तो ठीक रहे, खानपान ठीक हो तो सही रहे - ऐसा मानकर अपने आपको नाचीज मानता है। मैं चैतन्य अखण्ड ज्ञानस्वभावी हूँ - ऐसी प्रतीति नहीं करता। परवस्तुएँ आत्मा को लाभ-हानि नहीं करतीं। तीर्थंकरदेव के समवशरण में यह जीव अनन्तबार गया; परन्तु तीर्थंकरदेव इसे धर्म

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं प्राप्त करा सके; क्योंकि वे पर हैं, वे धर्म नहीं प्राप्त कराते; पर जब यह जीव स्वयं धर्म प्राप्त करता है, तब तीर्थंकर को निमित्त कहा जाता है।

यह मोह से संसार के पदार्थों में सुख मानता है तथा धर्म के नाम पर कभी बाह्य दया, दान, व्रत, तप करता है। उसमें राग घटाना तो पुण्य है; परन्तु उससे लाभ मानना मिथ्यात्व है। लोगों ने धर्म की बात अत्यन्त सस्ती कर दी है। इतने रुपये दान दो तो धर्म हो जावे - ऐसा कहकर दया-दान में धर्म बताते हैं। 'पुण्य-पाप से रहित आत्मा समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए, यह अपने से नहीं हो सकता'- ऐसा कहकर अज्ञानी लोग पैसा खर्च करना और दया, दान, व्रत, तप करना बताते हैं, यह बात अज्ञानी को तुरन्त समझ में आ जाती है, जिससे उन निमित्तों में प्रीति करता है; परन्तु शरीर जड़ है, वह धर्म की मदद नहीं करता है; दया-दान शुभभाव है, उससे लाभ नहीं होता, लाभ तो अपनी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से होता है - यह बात किसी भी प्रकार अज्ञानी को समझ में नहीं आती। उसे कहें कि लड्डू में मिठास नहीं है, अतः सुख नहीं है तो क्या वह मान लेगा? वह कहता है, प्रत्यक्ष सुख दिखता है न? पैसा धूल है, मिट्टी है, उसमें सुख नहीं है। दया-दान विकृत स्वरूप है। पुण्य से लाभ नहीं होता है। पाप से सुख नहीं होता है; फिर भी अज्ञानी पुण्य-पाप में सुख मानता है। यही भ्रान्ति और संसार है।

परवस्तुओं से लाभ-हानि मानने की तथा पुण्य से धर्म मानने की जिस आत्मा की योग्यता हुई है, ऐसा आत्मा वध्य है, हनने योग्य है और मोह आत्मा को मारनेवाला है, घातक है। मिथ्यात्वभाव शान्ति का द्योतक है। मैं अखण्डज्ञानस्वरूपी चैतन्य हूँ - ऐसी अन्तर एकाग्रता छोड़कर निमित्त की मैत्री का भाव आत्मा का घातक है। परवस्तु से लाभ मानना, मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ, इत्यादि सभी भाव मोहभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं। अन्तर में अनन्त शक्ति का भण्डार पड़ा है, उसे न मानकर, निमित्त और पुण्य की मैत्री करके, वह पर्यायबुद्धि आत्मा वध्य होता है और मोहभाव आत्मा को हनता है, अनाकुल शान्तरस को उत्पन्न नहीं होने देता - ऐसे मोह में पुद्गलकर्म निमित्त है।

अहो ! आत्मा तो शुद्धचैतन्य स्वरूप हैं। शरीर, मन, वाणी, जड़ और पर हैं। अन्य आत्मायें सिद्ध, अर्हंत, गुरु एवं स्त्री-पुत्र आदि आत्मा से पर - भिन्न हैं। तथा राग-द्वेष होने पर भी राग-द्वेष जितना आत्मा नहीं है, आत्मा तो निर्विकारी ज्ञानस्वरूप है। पर में भ्रान्ति से सुख मानता है, वह वास्तविक सुख नहीं है। मैं तो अनाकुल शान्तस्वभावी अनादि-अनन्त रहनेवाला हूँ। - ***'ऐसा ज्ञान करके आत्मा तथा मोह'*** का विभाग करता है। शुभाशुभभाव विकार हैं और मैं उनका ज्ञाता हूँ, सभी पदार्थों का ज्ञायक हूँ। चैतन्यस्वभाव में केवलज्ञानरूपी धन भरा है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' - इसप्रकार विकाररहित सिद्धसमान अनन्तशक्तियाँ आत्मा में हैं। ऐसे ज्ञानस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान और आचरण से मिथ्यात्व का नाश होता है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। इसप्रकार आत्मा, आत्मा और मोह के विभागज्ञानपूर्वक अनादि पुद्गलकर्मरचित मोह को भिन्न करता है।

यह जीव, आत्मा और मोह के विभागज्ञानपूर्वक आप अपने को मोह से भिन्न जानता है। इसी उपाय से आत्मप्राप्ति होती है।

ज्ञानी जानता है कि शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अलावा और कुछ शरणभूत नहीं है। एक ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव ही हमारी चीज है, पुण्य-पाप हमारी चीज नहीं है। अतः अब ज्ञानस्वभाव से ही मैत्री करूँगा; अब पुण्य की या निमित्त की मैत्री उत्पन्न नहीं होने दूँगा। हमारे कुल की यही रीति है। हमारा कुल तीर्थंकरों और सिद्धों का कुल है। वे भी शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष गए हैं। इसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी जीव ज्ञानकाण्ड को प्रचंड करके भेदविज्ञान करके आत्मा को मोह से भिन्न करता है।

भेदविज्ञान होने के पश्चात् चारित्र दशा के पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं ***'स्वयं केवल आत्मभावना के प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अतिनिष्कंप रहता हुआ... ।'***

धर्मी जीव अपनी परिणति को आत्मभावना के बल से अपने में स्थिर करते हैं; निमित्त या व्यवहाररत्नत्रय के अनुभव के बल से नहीं। देखो ! ***'यहाँ केवल आत्मभावना के प्रभाव से'*** ऐसा कहकर ***'केवल'*** शब्द पर वजन दिया है अर्थात् पर पदार्थों के, निमित्तों के अथवा दया-दानादि के प्रभाव से नहीं; अपितु मात्र आत्मा के शुद्धस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान के प्रभाव से धर्मी अपनी परिणति को अपने में स्थिर करता है। जिसप्रकार समुद्र शान्त होने पर स्थिर दिखाई देता है, उसीप्रकार ज्ञानी की परिणति अपने शुद्धस्वभाव में अभेद होने पर अति निष्कंप स्थिर अर्थात् किसी भी प्रकार की वृत्ति के उत्थानरहित शान्त रहती है।

इस जीव की अनादिकाल से गाड़ी में जुतनेवाले बैल के समान संसार में जुतने की खोटी आदत पड़ी है। बच्चों के मना करने पर भी यह दुकानदारी में और व्यवहार के काम में उलझा रहता है। इसप्रकार इसे संसार के काम में रचे-पचे रहने की आदत थी; परन्तु अब इसकी परिणति पलट गई है, अब यह ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने की आदत डाल रहा है। मैं शरीरादि परपदार्थरूप अथवा पुण्य-पाप आदि भावरूप नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ - ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करके पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिए केवल शुद्धात्मा में शान्त समुद्र के समान स्थिर रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान की स्थिरता का स्वरूप बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं *'.....एक साथ ही अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता....'।*

अनादि काल से इस जीव की ज्ञानपर्यायें अलग-अलग निमित्तों में चक्कर खाती थीं। जिसप्रकार सूत कातने वाला रुई की एक पौनी कातने के बाद दूसरी पौनी उसमें जोड़ देता है, उसीप्रकार इस जीव की ज्ञानपर्याय एक के बाद दूसरे राग में, फिर तीसरे राग में चक्कर खाकर परिवर्तन करती रहती थी; परन्तु अब केवलज्ञान होने पर परिणति निश्चल ज्ञानस्वभाव में एकाग्र रहने से चक्कर नहीं खाती अर्थात् परिवर्तन को प्राप्त नहीं होती। स्वरूप की सच्ची श्रद्धा, ज्ञान और परिपूर्ण लीनता होने से ज्ञानी को पर पदार्थों में और पुण्य में जाने का अवकाश नहीं है; इसलिए उनकी ज्ञानक्रियारूप पर्यायें पर में नहीं जातीं और स्वभाव का आश्रय नहीं छोड़तीं। चूँकि अब केवलज्ञान प्रगट हो गया है; इसलिये आत्मा एक साथ सम्पूर्ण ज्ञान-पर्यायों में व्याप्त हो गया है और वह परिवर्तन को बिल्कुल भी प्राप्त नहीं होता।

आचार्यदेव शिष्य को समझाते हुए कहते हैं कि भाई ! परपदार्थ तुझमें नहीं हैं, फिर उनसे क्या मैत्री करना ? जहाँ तू नहीं और जिसमें तू नहीं - ऐसी परवस्तुओं में क्या मैत्री करना ? तू तुझमें है और वे उनमें हैं, तू एक बार अपने चैतन्य को तो देख !

निष्कंप रहना, परिवर्तन को प्राप्त न होना, बाह्य पदार्थों में मैत्री न करना, अन्तर्मुख होना इत्यादि एक ही बात है, जो अलग-अलग भाषा में समझाई जाती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिष्य आचार्य की बात समझकर अपनी परिणति को अपने में स्थिर करता है और परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता - यह बात बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं- ***'....तब ज्ञप्तिव्यक्तियों को निमित्तभूत होने से जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्यपदार्थ-व्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती....'।***

मिथ्यात्वदशा में पर में सुखबुद्धि के कारण अनेक बाह्य पदार्थों के साथ मैत्री वर्तती थी; परन्तु अब अपने में ही अपना ज्ञान और सुख है - ऐसा निर्णय करने से परिपूर्ण दशा प्रगट होने पर परिणति बाहर में नहीं जाती। स्व-परप्रकाशक ज्ञान में देव-शास्त्र-गुरु, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार आदि ज्ञेयभूत पदार्थ, जैसे हैं, वैसे ज्ञात होते हैं। जिसप्रकार दर्पण में सभी वस्तुएँ ज्ञात होती हैं, उसीप्रकार चैतन्यदर्पण में वस्त्र, मकान, सम्मेदशिखर, शत्रुंजय आदि सभी बाह्य पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं; परन्तु ज्ञान अपने स्वरूप से बाहर नहीं निकलता। ज्ञानी ज्ञेयों को जानता अवश्य है; परन्तु उनसे लाभ नहीं मानता। वह तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि से भी लाभ नहीं मानता; अतः उसके प्रति भी मैत्री नहीं है; क्योंकि वह जानता है कि वाणी भी परद्रव्य है; उससे ज्ञान नहीं होता; परन्तु अन्तर में शक्तिरूप पड़ा हुआ ज्ञानस्वभाव ही पर्याय में व्यक्त होता है। चैतन्य की खान खोदने से ज्ञान प्रगट होता है। जबतक वीतरागदशा न हो, तबतक राग आता है; परन्तु ज्ञानी राग और निमित्त से लाभ नहीं मानते; वे तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव से ही लाभ मानते हैं।

राग-द्वेषरूप परिणति दूर करने की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुये आचार्यदेव कहते हैं ***'....और इसलिए आत्म-विवेक सुप्रतिष्ठित हुआ होने के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों के रचियता राग-द्वेष-द्वैतरूप परिणति से दूर***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता हुआ पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को आत्यन्तिक रूप से प्राप्त करता है।'

अज्ञानदशा में आत्मविवेक नहीं था; अतः आत्मा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ थीं। आत्मा कैसा होगा ? जो चले-फिरे और बोले - वह आत्मा है अथवा शुभाशुभ भाव आत्मा है - इत्यादि अनेकप्रकार की मान्यतायें थी। अब ज्ञानदशा में यह जीव शरीर-मन-वाणी आदि को जड़, शुभाशुभ भावों को विकार, और शुद्ध चिदानन्दस्वभाव को आत्मा मानकर अपने में स्थित रहता है। पहले बहिर्मुख वलण (झुकाव) था और अब अन्तर्मुख वलण होने से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। अब जगत का कोई पदार्थ अनुकूल भासित नहीं होता; अतः राग करना नहीं रहा और कोई पदार्थ प्रतिकूल भासित नहीं होता; इसलिए द्वेष करना नहीं रहा; अतः जीव अपने स्वभाव में पूर्ण स्थिरता करता है, जिससे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते और नए जड़ कर्म नहीं बँधते। वास्तव में आत्मा रागादि को दूर नहीं कर सकता; परन्तु स्वभाव में स्थिर होने पर राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, अतः राग-द्वेष दूर किए - ऐसा कहा जाता है।

देखो ! जिसके फल में वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त हो, उसे ज्ञान की क्रिया कहते हैं। इसमें मोह के विभागपूर्वक आत्मा का अनुभव प्रगट होता है। ***'अत्यन्त अन्तर्मुख होता हुआ'*** - ऐसा कहकर ***'अत्यन्त'*** शब्द पर वजन दिया है। अर्थात् वह जीव अपने स्वभाव में उग्रतापूर्वक ढल गया। अब वह पीछे नहीं हटेगा; अपितु वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करेगा।

ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा की प्राप्ति होना अपूर्व है, अनादिकाल से यह जीव अनन्तभव धारण कर चुका, द्रव्यलिंगी मुनि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर स्वर्ग में भी गया; अतः वह कुछ भी अपूर्व नहीं है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक वीतरागी पर्याय प्रगट करना अपूर्व है।

देखो ! यहाँ आत्मप्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धापूर्वक आत्मा के ज्ञानकाण्ड से मोह का नाश होता है। आचार्यदेव अत्यन्त करुणापूर्वक कहते हैं कि ***'जगत भी ज्ञानानन्दात्मक आत्मा को अवश्य प्राप्त करो।'***

आचार्यदेव जगत के जीवों को अत्यन्त उल्लासपूर्वक आमंत्रित करते हैं। अरे जगत के जीवों ! पुण्य-पापरहित आत्मा का स्वरूप समझकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करके परमानन्ददशा प्राप्त करो।

हे जीवों ! तुम इस परमात्मपद को अवश्य प्राप्त करो। तुमसे यह काम नहीं हो सकता - ऐसा मत कहना। बहिरात्मपना छोड़कर, आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान प्रगट कर अन्तरात्मपना प्रगट करके विशेष पुरुषार्थ द्वारा परमात्मदशा को अवश्य प्राप्त करना। अवश्य प्राप्त करो - ऐसा कहकर आचार्यदेव उग्र पुरुषार्थ प्रगट करने की विशेष प्रेरणा दे रहे हैं।

भगवान आत्मा अन्तरंग में शुद्धस्वभावी है; परन्तु पर्याय में उसे स्वभाव का भान नहीं है; इसलिए पर पदार्थों से लाभ-हानि मानकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन कर रहा है। जब यह आत्मा पर पदार्थों से लाभ-हानि मानना छोड़कर पर और पर्याय की रुचि छोड़कर अखण्ड ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रचण्ड ज्ञानदृष्टि करके अपने को मोह से भिन्न करता है अर्थात् चैतन्यस्वभावी में ही वीर्य को रोककर परिणति को निश्चल करता है, तब अपने में अति निष्कंप रहता हुआ ज्ञान पर्याय को स्वसन्मुख झुकाने से परवस्तु की मैत्री छोड़ देता है; उसका आत्मविवेक सुस्थित हो जाता है और वह ज्ञानानन्द स्वभाव की अपूर्व प्राप्ति करता है। इसप्रकार यहाँ भगवान आत्मा की प्रतीति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और रमणतापूर्वक सम्पूर्ण मुक्तदशा प्रगट करने का उपाय बताया है।

आचार्य भगवान आदेश देते हैं कि हे जीवों ! तुम ज्ञान और आनन्दस्वभावी आत्मा को प्राप्त करो। यह जगत पैसे में तथा पुण्य-पाप में आनन्द मानता है; परन्तु इसमें आनन्द नहीं है, आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानी जीव आत्मा को देहस्वभावी, पुण्यस्वभावी तथा परद्रव्यों का कर्त्तास्वभावी मानता है; परन्तु आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है; अतः अब विपरीत मान्यता छोड़कर, परमात्मदशा प्रगट करके अशरीरी सिद्धदशा को अवश्य प्राप्त करो। अबतक जितने भी केवली और सिद्ध हुए हैं, वे सब इसी उपाय से हुए हैं; महाविदेह क्षेत्र में भी अनेक जीव केवली होकर तीर्थंकर पद में विराजमान हैं तथा भविष्य में भी अनेक जीव सिद्ध पद प्राप्त करेंगे।

आचार्यदेव की परिणति में भी चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता वर्त रही है; मैं स्वयं परमात्मा होनेवाला हूँ - ऐसी निःशंक श्रद्धा वर्त रही है। उन्हें जरा शुभ विकल्प आ गया; इसलिए वे उल्लासपूर्वक कहते हैं कि जगत के जीव तुम भी परमात्मदशा प्राप्त करो। वे जगत के सभी जीवों को सम्बोधन करते हैं अर्थात् सभी जीव परमात्मा हो सकेंगे या नहीं ? ऐसी शंका उन्हें नहीं होती। देखो ! आचार्य भगवान को स्वयं के परमात्मा होने की निःशंक श्रद्धा है; इसलिए उनकी वाणी में भी वही बात आती है।

आचार्यदेव परमात्मपद प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं, लक्ष्मी प्राप्त करने की या मनुष्य और स्वर्ग के भव प्राप्त करने के लिए नहीं कहा है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पुण्य-पाप रूप विकार रहित है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है, इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। कहा भी है :- ***'एक***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होय त्रणकाल मां परमारथ नो पंथ' अर्थात् परमार्थ प्राप्त करने का उपाय एक ही है, दो नहीं।

भव्यजीवों को परम आनन्ददशा की प्राप्ति की प्रेरणा देने के पश्चात् आचार्यदेव बीसवें कलश में जिनशासन की महिमा बताते हुए कहते हैं कि हे जीवों ! तुम स्यात्कार लक्षण जिनशासन के आधार से स्वतत्त्व को प्राप्त करो। कलश और उसका सामान्यार्थ निम्नानुसार है :-

आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदन श्रीमुखम्॥
स्यात्कारांकजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः॥

आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता में (मुक्तिरूपी नदी में) जो डूबा हुआ है, जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्नकिरण की भाँति स्पष्ट है और जो इष्ट है, ऐसे उल्लसित (प्रकाशन, आनन्दमय) स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों। 'स्यात्कार' जिसका चिन्ह है ऐसे जिनेन्द्र भगवान के शासन का आश्रय लेकर प्राप्त करो।

स्वतत्त्व कैसा है ? आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहने वाली कैवल्यसरिता में डूबा हुआ है। अर्हन्त और सिद्ध भगवन्तों ने स्वभाव के अवलम्बन से ही परमात्मदशा प्राप्त की है तथा वर्तमान में भी केवलज्ञानपर्याय स्वभाव का अवलम्बन कर रही है; अतः उनका आत्मा केवलज्ञानरूपी स्वभाव में डूबा हुआ है। जिसप्रकार नदी में मीठा पानी बहता है; उसीप्रकार मुक्तिरूपी नदी में आनन्दरूपी अमृत का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूर बहता है। दया, दान, करुणा, कोमलता आदि के शुभभाव भी अमृत नहीं हैं, जहर हैं; अतः मुक्तिसरिता में इनका प्रवेश नहीं है। त्रिकाली स्वभाव भी इन भावों से रहित है, वही श्रद्धा करने योग्य है। वर्तमान पर्याय में दुख होने पर भी त्रिकाली स्वभाव में आनन्द है, वर्तमान पर्याय में उपाधि होने पर भी त्रिकाली स्वभाव निरुपाधि है, वर्तमान पर्याय में अशुद्धता होने पर भी त्रिकाली स्वभाव परिपूर्ण शुद्ध है। जगत के जीव विषयों में आनन्द मानते हैं, परन्तु उनमें आनन्द का अमृत नहीं, आकुलता का जहर है। जिसप्रकार चौमासे में नदी दोनों किनारों से भी ऊपर बहती है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव भी आनन्द से पूर्ण भरा हुआ है। चैतन्यरत्न कैवल्यसरिता में डूबा हुआ है। हे जीवों ! अपने स्वभाव को जानकर उसमें रमणता करो।

केवलज्ञान का महान सामर्थ्य बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं, ***'जगत को देखने में समर्थ महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है....'*** स्वतत्त्व कैसा है ? जिसमें केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी भरी है, जो लोकालोक को देखने में समर्थ है। यह लक्ष्मी अर्हन्तों और सिद्धों को प्रगट हुई है, अतः वे जगत को प्रत्यक्ष जानते हैं। आत्मा में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनन्त गुण हैं; परन्तु उनमें ज्ञानगुण मुख्य है, वह स्वपरप्रकाशक है अर्थात् अपने को जानता है और पर को भी जानता है।

'जो उत्तमरत्न की किरण जैसा स्पष्ट है और जो इष्ट है - ऐसे उल्लसित स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों' जिसप्रकार उत्तम रत्न की किरण स्पष्ट होती है, उसीप्रकार विकाररहित शुद्धात्मतत्त्व भी स्पष्ट है; इसलिए परपदार्थों और विकार की रुचि छोड़ देना चाहिए। आत्मा को स्वतत्त्व ही इष्ट है पुण्य-पापरूप भाव इष्ट नहीं हैं, निमित्त इष्ट नहीं है, लोकालोक को देखना भी इष्ट

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है; परन्तु स्वतत्त्व इष्ट है, जो आनन्द से भरी हुई नदी में एकमेक हो गया है। हे जीवों! तुम ऐसे स्वतत्त्व को स्यात्कार लक्षण जिनशासन का आश्रय करके प्राप्त करो। स्यात्कार अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन करना। जैसे 'आत्मा दुखी है', यह बात पर्याय की अपेक्षा से सही है। वर्तमान पर्याय में दुःख होने पर भी स्वभाव में दुःख नहीं है, स्वभाव में तो सुख ही है।

प्रश्न :- आत्मा में अशुद्धता दिखती है न ?

उत्तर :- हाँ, आत्मा में अशुद्धता है; परन्तु वर्तमान पर्याय जितनी है। त्रिकाली स्वभाव में संसार नहीं है; अतः तू भयभीत मत हो; क्योंकि दुःख मात्र वर्तमान पर्याय जितना है, स्वभाव में दुःख नहीं है। यह जो पुण्य-पाप भाव दिखते हैं; वे भी क्षणिक वर्तमान जितने ही हैं। स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है। जिससमय पर्याय में दुःख है; उसीसमय त्रिकाली स्वभाव सुख से भरपूर है। जिससमय पर्याय में अशुद्धता है, उसीसमय त्रिकाली स्वभाव शुद्धता से भरा हुआ है। जिससमय पर्याय में अल्पज्ञता है, उसीसमय त्रिकाली स्वभाव सर्वज्ञता से भरा हुआ है। जिससमय पर्याय में क्रोध है, उसीसमय त्रिकाली स्वभाव क्षमा का समुद्र है, जिससमय आत्मा शरीर के संयोग में है, उसीसमय त्रिकाली स्वभाव संयोग रहित है; जिससमय आत्मा कर्म के संयोग में है, उसीसमय त्रिकाली स्वभाव कर्मों से रहित है - इसप्रकार अपेक्षायें समझना चाहिए।

आत्मा का स्वतत्त्व (स्वभाव) परिपूर्ण, शुद्ध और असंग है। अज्ञानी कहता है कि हमें ऐसा आत्मा भासित नहीं होता। यह सत्य है कि उसे कथंचित् अर्थात् पर्याय में आत्मा भासित नहीं होता; परन्तु अन्तर में अनन्त शक्ति स्पष्ट प्रकाशमान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्त नहीं है, यह बात भी खोटी है। आत्मा कथंचित् अर्थात् वर्तमान पर्याय में निमित्त का आश्रय लेता है; परन्तु स्वभाव में निमित्त का आश्रय नहीं हैं।

आत्मतत्त्व सर्वथा विकारी नहीं हो सकता; क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है। आत्मा पर्याय में भी अविकारी है - ऐसा नहीं है; क्योंकि पर्याय में विकार है भाईसाहब ! आत्मा कथंचित् अर्थात् पर्याय में पामर है। स्वभाव में पामरता नहीं, अपितु प्रभुता है। जिससमय पर्याय में पामरता स्वीकार की है; उसीसमय स्वभाव में प्रभुता है - ऐसी श्रद्धा करे तो पामरता का अभाव होकर प्रभुता उत्पन्न हो जाएगी।

प्रश्न :- स्त्री-पुत्रादि में, धन में जैसा आनन्द दिखता है; वैसा आनन्द आत्मा में प्रत्यक्ष दिखे तो मानें ?

उत्तर :- भाई ! सबसे पहले यह निर्णय कर कि स्त्री-पुत्रादि में आनन्द नहीं, अपितु दुःख ही है और वह भी कथंचित् अर्थात् एकसमय मात्र जितना है। त्रिकाली स्वभाव शुद्ध, अभेद और अखण्ड है - ऐसी श्रद्धा करना ही सुखी होने का मार्ग है।

जो ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करके जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के आधीन वर्तता है अर्थात् उनके द्वारा कहे गये स्याद्वाद के अनुसार वस्तु का ज्ञान-श्रद्धान करता है, उसे धर्म प्रगट होता है। पुण्य-पापरूप विकारी भाव तो एकसमय जितने ही हैं। विकार रहित शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, ज्ञानानन्द का पूर बहता है। तुझमें ऐसा पूर बहे - ऐसी अद्भुत शक्ति है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि जिसप्रकार बर्तन के नीचे कालिमा लगी हो तो वह मूँज से रगड़ने पर ही निकलती है; उसीप्रकार आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में अनादि से लगी हुई निद्धत्त और निकाँचित कर्मों की कालिमा बाह्य तप किए बिना कैसे जाएगी ? परन्तु भाई ! मात्र शरीर की क्रिया और शुभभाव तप नहीं है। ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि करके उसमें ठहरना ही तप है, चारित्र है। सच्ची समझ के बिना बाह्य तप तो छिलके कूटने जैसा है। इसलिए सर्वप्रथम सच्ची-श्रद्धा ज्ञान होने पर क्रमशः राग दूर होने पर वीतरागता प्रगट होती है।

वर्तमान पर्याय में विकार होने पर भी त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा आत्मा शुद्ध है। स्वभाव में रमणता करने पर विकार घटता जाता है और अन्त में पूर्ण वीतरागता प्रगट होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है। जिसप्रकार लक्षण से लक्ष्य की पहिचान होती है, उसीप्रकार स्यात्कार लक्षण से लक्ष्यभूत आत्मा की प्राप्ति होती है। हे जीवों ! तुम स्यात्कार चिन्ह द्वारा आत्मा को पहिचानकर स्वतत्त्व को प्राप्त करो।

प्रवचनसार की टीका पूर्ण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव स्वयं को इस टीका का रचयिता मानना योग्य नहीं है - ऐसे आशय गर्भित काव्य द्वारा वस्तुस्वरूप को प्रगट करके स्वतत्त्वप्राप्ति की प्रेरणा देते हैं। कलश और उसका सामान्यार्थ निम्नानुसार है :-

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां,
व्याख्यातामृतचन्द्र सूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्,
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः॥

आत्मा और यह विश्व व्याख्येय अर्थात् समझाने योग्य है, त्राणी का गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता हैं - इसप्रकार जन मोह में मत नाचो; किन्तु स्याद्वाद विद्या के बल से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशुद्धज्ञान की कला द्वारा एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज निराकुल रूप से नाचो अर्थात् परमानन्द रूप परिणमित होओ।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमने वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन किया है - यह बात सच नहीं है; क्योंकि आत्मा में शब्दों से वर्णन करने की शक्ति नहीं है। वर्णन करने की ताकत तो वाणी की है। यह बात आचार्यदेव निरभिमानत बताने के लिए कह रहे हैं - ऐसा नहीं है। वास्तव में आत्मा तीन काल में भी वाणी का कर्ता नहीं है।

आत्मा तो ज्ञाता- दृष्टारूप है। पुद्गल परमाणु स्वयं ही शब्दरूप परिणमते हैं, आत्मा उन्हें नहीं परिणमा सकता।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो दीवार में से आवाज क्यों नहीं निकलती ?

उत्तर :- भाषा अपने काल में अपने कारण से होती है। भाषा की पर्याय न होना हो तो नहीं होगी। जब भाषा के परिणमन योग्य काल होता है तब वह परिणमती है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है।

अज्ञानी जीव अभिमान करते हैं कि हमारा गला कितना अच्छा है, जब हम भाषण देते हैं, तब हजारों लोक इकट्ठे हो जाते हैं और स्तब्ध रह जाते हैं; परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। आत्मा चैतन्यमय अरूपी पदार्थ है और पुद्गल अचेतनरूप रूपी पदार्थ है। आत्मा में भाषा की खान नहीं है कि वह बोले। आत्मा और वाणी में अत्यन्ता-भाव है। जगत में भाषा - वाणी के परमाणु भरे पड़े हैं, वे ही शब्दरूप परिणमन करते हैं, आत्मा उन्हें नहीं परिणमा सकता। वह तो भाषा का ज्ञान या उसके परिणमन में कर्तव्य का अभिमान कर सकता है; परन्तु वह भाषा का कर्ता नहीं हो सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमात्मा की ॐ ध्वनि भी जड़ है, पुद्गल है। उसका परिणमन पुद्गल परमाणुओं के कारण होता है। आत्मा जड़ की पर्याय का कर्ता नहीं होता। जिसप्रकार बारीक आटे से मेसूरपाग बनता है और मोटे आटे से मगज बनता है, उसीप्रकार सूक्ष्म स्कन्धों से वाणी बनती है और स्थूल स्कन्धों से शरीर बनता है।

प्रश्न :- हम जैसा बोलना चाहें, वैसा बोल तो सकते हैं न ?

उत्तर :- भाई ! तू बोलने की इच्छा कर सकता है; परन्तु तेरी इच्छा में वाणी उत्पन्न करने की ताकत नहीं है; क्योंकि भाषा और इच्छा दोनों स्वतन्त्र हैं। आत्मा और पुद्गल की भिन्नता का भान न होने से अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि हम सामायिक करते हैं, प्रोषध करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं धर्म करते हैं; परन्तु भाई ! जो जीव शरीर या वाणी की क्रिया का स्वामी होता है, वह अज्ञानी है, उसे धर्म नहीं होता। आचार्य भगवान कहते हैं कि हमने शास्त्र की रचना की है - ऐसा मत मानो; क्योंकि आत्मा शब्दों को नहीं परिणमा सकता।

विश्व के सभी पदार्थ स्वयं ही ज्ञेयरूप से परिणमते हैं। शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर नहीं समझा सकते। आत्मा स्वयं ज्ञान से समझता है, शब्दों में आत्मा को समझाने की ताकत नहीं है; इसलिए तू अपनी ज्ञानपर्याय द्वारा आत्मा को प्रमेय बना। शब्दों के कारण ज्ञान होता है - ऐसा किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द पुद्गल की पर्याय है और समझ अर्थात् ज्ञान आत्मा की पर्याय है। यदि यह जीव शब्दों से समझता हो तो अनेक तीर्थंकर हो गए; उनसे सभी जीवों को समझ जाना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। जीव स्वयं समझे तो उसमें वाणी को निमित्त कहा जाता है।

ज्ञान में आत्मा को प्रमेय बनाने की शक्ति है; परन्तु वाणी में आत्मा को प्रमेय बनाने की शक्ति नहीं है, पुण्य-पाप में भी आत्मा को जानने की ताकत नहीं है, भगवान की वाणी आत्मा को ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्पन्न करा दे - ऐसी ताकत उसमें नहीं है, ज्ञान आत्मा में है, वाणी में नहीं - इसप्रकार वस्तु का स्वरूप समझना चाहिए।

इस जगत में आत्मा सहित छह द्रव्य हैं। वे वाणी से समझाने योग्य हैं - ऐसे मोह में मत नाचो। उन पदार्थों का स्वरूप ही ऐसा है कि वे वाणी के प्रमेय नहीं बन सकते; अतः पदार्थों का स्वरूप वाणी द्वारा समझाया जा सकता है - ऐस मत मानो। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान ने वस्तु का ऐसा स्वरूप बनाया नहीं है; परन्तु उसे जाना मात्र है। वाणी में भी यही आया कि आत्मा वाणी द्वारा नहीं समझा जा सकता, पुद्गल आदि अन्य द्रव्य भी वाणी द्वारा नहीं समझा सकते। सभी पदार्थ ज्ञान द्वारा समझे जा सकते हैं, प्रमेय हो सकते हैं। जो पदार्थ ज्ञान का प्रमेय हो सकता है, वह वाणी का प्रमेय कैसे हो सकता है?

इसलिए हे जनो ! आत्मा सहित छह द्रव्य वाणी द्वारा समझाने योग्य हैं - ऐसे मोह में मत फूलो अर्थात् ऐसा मोह मत करो।

वाणी का ग्रंथन व्याख्या है - ऐसे मोह में मत नाचो। वाणी तो भाषा वर्गणा का परिणमन है, जड़ की पर्याय है तथा समझ अर्थात् ज्ञान आत्मा की पर्याय है। आत्मा और भाषा में अत्यन्त अभाव है; इसलिए वाणी से ज्ञान नहीं होता; परन्तु ज्ञान स्वयं अपनी योग्यता से होता है। यदि वाणी से ज्ञान उत्पन्न होता हो तो जितने लोग वाणी सुनते हैं, उन सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। वाणी से ज्ञान होता है - ऐसी मिथ्या मान्यता जबतक जीव की रहेगी, तबतक उसका लक्ष्य वाणी पर ही रहेगा और अपने ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य करने का कभी प्रसंग नहीं आएगा। अतः हे जीवों ! वाणी से ज्ञान होता है - ऐसे मोह से मत नाचो अर्थात् ऐसे मिथ्यात्व भाव से मत उछलो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अमृतचन्द्र सूरि व्याख्याता हैं - ऐसे मोह में मत नाचो। आचार्य भगवान कहते हैं कि हम समझाने वाले हैं - ऐसा मत मानों; क्योंकि हम इन शब्दों के कर्ता नहीं हैं; शब्दरूप तो पुद्गल परिणमता है। ये परमाणु भी जगत के पदार्थ हैं, उनमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता रहता है। एक अक्षर अनन्त परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्था है, हम उसे परिणमानेवाले नहीं हैं। जो वाणी बोली जाती है, हम उसके भी कर्ता नहीं हैं।

प्रश्न :- ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या आत्मा व्यवहार से भी नहीं बोलता ? यह आत्मा बोलता हुआ दिख रहा है न ?

उत्तर :- भाई ! आत्मा नहीं बोलता, जो बोले, वह आत्मा नहीं और जो आत्मा है, वह बोलता नही। बोलनेवाला तो जड़ है। अज्ञानी जीव कंठ का, स्वर का, भाषा का अभिमान करते हैं; परन्तु भाषा का कर्ता आत्मा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि हमें शब्दों का अर्थात् जड़ का कर्ता न बनाओ। भाषा, भाषारूप है आत्मारूप नहीं है, आत्मा आत्मारूप है, भाषारूप नहीं है; अतः आत्मा भाषा या अक्षरों का कर्ता नहीं है; इसलिए इस टीका के कर्त्ता अमृतचन्द्रसूरि हैं - ऐसे मोह में मत नाचो अर्थात् ऐसा मोह मत करो।

जबतक स्वभाव में पूर्णरूप से न ठहर जाये तबतक धर्मी जीवों को आचार्यों के प्रति बहुमान का विकल्प उठता है तथा उनकी वाणी में भी आता है कि कुन्दकुन्दाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य भगवन्तों का बहुत उपकार है; परन्तु उनकी यह भाषा, भाषा के कारण निकलती है, ज्ञान के कारण नहीं। यद्यपि ज्ञान, पदार्थ और वाणी - इन तीनों की सत्ता लोक में है; तथापि ये तीनों स्वतन्त्र हैं। जब शब्द बोले जाते हैं, तब शब्द और पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान भी है, पदार्थ भी है और शब्द भी है। तीनों एक साथ होने पर भी ये एक दूसरे के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आधीन नहीं हैं। वाणी अपनी योग्यता से निकलती है, इच्छा के कारण नहीं; इच्छा तो निमित्तमात्र है। जब वाणी निकलती है, तब इच्छा भी होती है; इसलिए इच्छा से वाणी निकलती - ऐसा कहा जाता है; परन्तु इच्छा से वाणी का परिणमन होता है - ऐसा नहीं मानना चाहिए।

जब आत्मा वाणी की शब्दरूप या लिखनेरूप पर्याय का कर्ता नहीं है तो पदार्थों का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? अज्ञानी मानता है कि अच्छा व्यवहार करें तो कमाई अच्छी हो जाएगी, ध्यान से लिखें तो मोती जैसे सुन्दर अक्षर आयेंगे; परन्तु भाई ! ये सभी बातें मिथ्या हैं। परपदार्थों का परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है, अतः उसका अभिमान छोड़। वस्तुस्वरूप का निर्णय करे तो जीवन में बहुत समाधान हो। कोई जीव अपनी निन्दा या प्रशंसा करे तो विचार करना चाहिए कि किसकी निन्दा और किसकी प्रशंसा ? प्रशंसा और निन्दा के शब्द तो जड़ की पर्यायें है, आत्मा उनका वेदन नहीं कर सकता। प्रशंसा या निन्दारूप जड़ की पर्यायों से आत्मा को कोई लाभ या नुकसान नहीं है - इसप्रकार सत्य समझने से आत्मा में शान्ति प्रगट होती है। अज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टा न रहकर प्रशंसा या निन्दा से लाभ-हानि मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा वाणी का कर्ता है - ऐसे मोह में मत नाचो।

अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमने की प्रेरणा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों ! तुम स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञानकला द्वारा एक शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके अव्याकुलरूप से नाचो अर्थात् परमानन्दरूप परिणमो।

आत्मा वाणी का कर्ता है और वाणी से ज्ञान होता है - ऐसा मोह मत करो; अपितु स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा आत्मा का अनुभव करो। आत्मा स्वरूप से है और पररूप से नहीं; आत्मा आत्मा रूप से है और वाणी रूप से नहीं; भाषा भाषा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रूप से है, आत्मा रूप से नहीं। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी सर्वज्ञता हो सकती है, पर्याय में विकार होने पर भी अविकारी हुआ जा सकता है - इसप्रकार स्याद्वाद विद्या से अनुभव करो।

देखो ! यहाँ स्याद्वाद विद्या शब्द का प्रयोग किया है। स्याद्वाद कथन नहीं कहा अर्थात् विद्या शब्द से अनेकान्तरूप सम्यग्ज्ञान बताना चाहते हैं। निमित्त और पुण्य-पाप का अनुभव करनेवाली दृष्टि छोड़कर अखण्ड स्वभाव की दृष्टि करके आत्मा का अनुभव करो। वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी और ज्ञानपर्याय में सम्पूर्ण आत्मा प्रत्यक्षरूप से ज्ञात न होने पर भी परिपूर्ण शुद्ध आत्मा की प्रतीति की जा सकती है - इसप्रकार निर्णय करनेवाला ज्ञान ही विशुद्ध ज्ञानकला है। आचार्यदेव कहते हैं कि विशुद्ध ज्ञानकला द्वारा स्वतत्त्व को प्राप्त करो; निमित्त, पुण्य-पाप, राग, या वाणी द्वारा प्राप्त करो - ऐसा नहीं कहा।

ज्ञानकला द्वारा इस एक सम्पूर्ण शाश्वत निराकुल शुद्ध आत्मा को प्राप्त करके परमानन्द परिणामरूप परिणमों, परमानन्द में नाचो, मोह में मत नाचो, पुण्य में मत नाचो, वाणी और राग का अभिमान छोड़कर ज्ञान की दृढ़ता करो।

प्रश्न :- अभी तो पंचम काल चल रहा है तो परमानन्द का अनुभव करने के लिए क्यों कहा है ?

उत्तर :- भाई ! काल के सामने कौन देखता है ? ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड शुद्ध चैतन्य पर ही है। पंचम काल में आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता - जो जीव ऐसा मानकर स्वरूप को कठिन मानता है उसे पुण्य अर्थात् जड़ की रुचि है; परन्तु आत्मा की रुचि नहीं है। आत्मा के स्वरूप को कठिन कहनेवाला और पुण्य तथा जड़ के कार्य को सरल माननेवाला जीव बहिरात्मा है; अतः आचार्यदेव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोह को छोड़कर स्याद्वाद विद्या के बल से परम शुद्ध आनन्ददशा को प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं।

आचार्यदेव आशीर्वादपूर्वक आदेश देते हैं कि अनेकान्तरूपी ज्ञान से स्वतत्त्व को प्राप्त करके परम आनन्द का अनुभव करो। कैसी है स्याद्वाद विद्या ? जो वर्तमान पर्याय में विकार होने पर भी त्रिकाली स्वभाव को विकार रहित देखती है। आत्मवस्तु एक होने पर भी अनन्त गुणों का पिण्ड है और अनन्त गुण होने पर भी वस्तु एक है; जो एकरूप है, वही अनेक रूप है और जो अनेक रूप है, वही एकरूप है; त्रिकाली स्वभाव निर्मल होने पर भी पर्याय में मलिनता है, द्रव्यदृष्टि से नित्य होने पर भी पर्याय दृष्टि से अनित्य है - इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करना ही स्याद्वाद विद्या का बल अर्थात् अनेकान्त है। इस स्याद्वाद विद्या के बल से ज्ञान विशुद्ध होता है।

आचार्यदेव ने अनेकान्तमय विशुद्धज्ञान के बल से एक शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके परमानन्दरूप परिणमने की प्रेरणा दी है। आत्मा में एकाग्रता एक समयवर्ती ज्ञानपर्याय द्वारा होती है, निमित्त या पुण्य द्वारा नहीं। भगवान ने ऐसा आत्मा बनाया नहीं है, बल्कि बताया है। वे कहते हैं कि शरीर, स्त्री, लक्ष्मी आदि का स्वामी आत्मा नहीं है, वह पुण्य-पाप का स्वामी भी नहीं है, वह तो ज्ञान-आनन्दरूपी लक्ष्मी का स्वामी है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानकला द्वारा पर्याय में स्वतत्त्व का लक्ष्य करने से और पुण्य-पाप की रुचि छोड़ने पर स्वतत्त्व के आनन्द का अनुभव होता है।

यदि वर्तमान पर्याय त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करे तो आज ही आत्मा का अनुभव हो सकता है।

यहाँ आत्मा को शाश्वत स्वतत्त्व कहा है अर्थात् आत्मा मात्र भूतकाल में था या मात्र वर्तमान जितना है - ऐसा नहीं है, वह तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीनों काल शाश्वत रहनेवाला है। वर्तमान पर्याय अपूर्ण होने पर भी पूर्ण स्वभाव का लक्ष्य करती है। यद्यपि एक समय की पर्याय में सम्पूर्ण शाश्वत द्रव्य नहीं आ जाता; तथापि वह सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में ले लेती है - यही स्याद्वाद है। आचार्य भगवान आदेश देते हुए आशीर्वाद देते हैं कि हे जीवों ! तुम विशुद्धज्ञान के बल से शुद्ध चैतन्यकन्द आत्मा का अनुभव करके परम आनन्ददशा को प्राप्त करो। जो यह बात समझे उसी के लिए उनका आशीर्वाद है।

अन्तिम कलश में आचार्यदेव चैतन्य की महिमा का वर्णन करते हुए उसके अनुभव की प्रेरणा देकर इस पवित्र परमागम की पूर्णाहुति करते हैं। कलश और उसका सामान्यार्थ इसप्रकार है :-

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्,
चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्,
अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित्॥

इसप्रकार इस परमागम में अत्यन्त बलपूर्वक जो थोड़ा बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब अग्नि में होमी गई वस्तु के समान चैतन्य में स्वाहा हो गया है। उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता से अनुभव करो; क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी उत्तम नहीं है, चैतन्य ही उत्तम तत्त्व है।

तीर्थंकर भगवान की वाणी में कहा गया वस्तुस्वरूप महामुनियों द्वारा झेला गया है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले महाविदेहक्षेत्र में गए थे। वहाँ आठ दिन तक सीमंधर भगवान की वाणी सुनकर पुनः भरत क्षेत्र में आकर उन्होंने इस परमागम की रचना की है। इसमें उन्होंने भगवान की वाणी अर्थात् प्रवचन का सार भर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दिया है। इसमें थोड़ा बहुत तत्त्व जोर से (अर्थात् दृढ़ता पूर्वक) से कहा गया है। ज्ञान अधिकार, ज्ञेय अधिकार और चरणानुयोग चूलिका में बहुत कुछ कहा गया है। शरीरादि और रागादि से भिन्न ज्ञान-आनन्द स्वभावी भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें रमणता से ही मोक्ष होता है। इसके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है। यह वीतराग मार्ग ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। ऐसा हम जोर से कहते हैं। कौन जाने कि मोक्ष कैसे होता होगा ? ऐसा हो गया या ऐसा होगा ? इसप्रकार धीरे-धीरे या डांवाडोल होकर नहीं कहते। पुण्य से धर्म नहीं होता, रागादिभाव क्षणिक हैं, आत्मा विकार रहित है और उसी के आश्रय से धर्म होता है, ऐसा वस्तुस्वरूप आत्मा में से प्रत्यक्ष प्रगट हुआ है, सर्वज्ञ से रजिस्टर्ड है।

यद्यपि यहाँ थोड़ा बहुत तत्त्व कहा गया है; तथापि यह सम्पूर्ण कथन अनन्त महिमाशाली चैतन्य स्वभाव के सामने तुच्छ है। जैसे अग्नि में डाले गये घी को अग्नि खा जाती है, ऐसा लगता है कि अग्नि में कुछ डाला ही न गया हो; वैसे चैतन्य स्वरूपी आत्मा अपने ही सारे वर्णन को खा जाता है; मानो उसके बारे में कुछ कहा ही न गया हो। आत्मा की महिमा के सामने उस का सारा वर्णन ही तुच्छ भासित होता है; क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा वचनानीत मनातीत और विकल्पातीत है। वाणी-विलास से तो राग उत्पन्न होता है; क्योंकि स्वरूप में लीन नहीं हुआ जा सकता; अतएव शुद्धात्म तत्त्व का आश्रय लेना चाहिए।

आत्म स्वरूप का पूरा वर्णन तो भगवान की वाणी में भी नहीं आ सकता। श्रीमद् राजचन्द्र जी अपूर्व अवसर काव्य में लिखते हैं:-

जो पद श्री जिनवर ने देखा ज्ञान में,
कह न सके वह पद श्री जिन भगवान भी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उस स्वरूप को अन्य वचन क्या कह सकें,
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान भी॥

चिदानन्द स्वरूप सिद्ध समान भगवान आत्मा को अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा सर्वज्ञ भगवान जानते हैं; परन्तु ॐ ध्वनि द्वारा उसका पूरा वर्णन नहीं कर सकते; तो छद्मस्थ की वाणी द्वारा उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? वाणी जड़ है; अतः उसके द्वारा स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। अरूपी और ज्ञानस्वरूप भगवान-आत्मा मात्र अनुभव गोचर है।

एक युवक के पिता उसके बचपन के समय ही उसके लिए पच्चीस लाख रुपये जमा करा गये थे; परन्तु उसे इस बात का पता नहीं था, इसलिए वह पराधीन होकर यहाँ - वहाँ मारा-मारा फिरता था। एक बार उसके पिता के मित्र ने उससे कहा 'बेटा ! तेरे पिता तेरे नाम से पच्चीस लाख रुपये जमा कर गये थे, अब वे ब्याज सहित तुझे मिल जायेंगे; इसलिए अब तू पराधीनता छोड़ और अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर।' यह सुनते ही उसकी पराधीन वृत्ति टूट गई और अपनी सम्पत्ति पाने के लिए उसका पुरुषार्थ जाग उठा।

सर्वज्ञ भगवान प्रत्येक आत्मा को समझाते हैं कि तू अनन्तानन्त गुणों का भण्डार है; तुझमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र अस्तित्व, वस्तुत्त्व, कर्तृत्व, स्वच्छत्व, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। तुझे सुखी होने के लिए पर की ओर झाँकने की आवश्यकता नहीं है। तू अपने को शक्ति अपेक्षा पूर्ण मानेगा तो पर्याय में भी पूरा हो जाएगा। वस्तुस्वभाव कभी अपूर्ण नहीं हो सकता, निमित्ताधीन दृष्टि से ही अपूर्णता की कल्पना की जाती है। यदि जीव पूर्ण स्वभाव की दृष्टि करे तो मोक्षमार्ग प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्यदेव आत्मा का अनुभव करने की उग्रप्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे जीवों ! तुम निमित्तों और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर शुद्ध चैतन्य की रुचि करो। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में ठहरकर उग्ररूप से उसी का अनुभव आज ही करो, वायदा मत करो।

दया, दान, पूजा आदि बाह्य क्रियाओं से धर्म मानना अज्ञान है। यह अज्ञान छोड़कर सच्ची दृष्टि करो, चैतन्य को चैतन्यरूप ही अनुभव करो, अन्दर नजर करो, नजर करनेवाले को नजर में लो, दृष्टा को दृश्य बनाओ, ज्ञाता को ज्ञेय बनाओ, श्रद्धा करने वाले को श्रद्धेय बनाओ और उसका प्रबल अनुभव करो।

प्रश्न :- हमारा तो प्रतिदिन दातौन किए बिना चाय पिये बिना काम नहीं चलता, हमारे गले से धन्धा पानी, स्त्री-पुत्रादि बँधे हैं और आप हमें अनन्त लक्ष्मी का भण्डार कहते हैं; परन्तु हमें तो लक्ष्मी कहीं नजर नहीं आती ?

उत्तर :- अनादि से जीव स्त्री-पुत्रादि पर पदार्थों के बिना ही जी रहा है; परन्तु पर पदार्थों के बिना मेरा काम नहीं चलता - ऐसी उसकी मान्यता इसने आज तक नहीं छोड़ी। अब तू आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ कर उल्टी मान्यता निकाल दे। तेरी सत्ता अपने कारण से है और पर पदार्थों की सत्ता अपने कारण से है। तुझे अपनी अनन्त शक्तियों का भरोसा नहीं है और दुनिया के सब पदार्थों का भरोसा है। जितने जीव परमात्मा बने हैं, वे सभी पहले संसार दशा में थे। उनकी मान्यता भी पहले उल्टी थी; परन्तु मन-वचन-काय और पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा और ज्ञान करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है। मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र यही उपाय है। कोई कहे कि आत्मा में विकार तो है न ? तो उससे कहते हैं कि तू विकार को याद मत कर; क्योंकि वह तेरा स्वभाव नहीं है, क्षणिक उपाधि है। तू तो अपने ज्ञाता - दृष्टा स्वभाव का प्रबलता से अनुभव कर।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न :- आप आत्मा का अनुभव करने के लिए ही कहते हैं; परन्तु भक्ति, दया, दानादि करने के लिए क्यों नहीं कहते ?

उत्तर :- भाई ! आत्मा पर-पदार्थों की क्रिया कर ही नहीं सकता जो कर ही नहीं सकता, उसे करने के लिए कैसे कहें ? दया, दान, पूजा आदि के भाव होते अवश्य हैं; परन्तु वे विकार हैं, आकुलता स्वरूप हैं, तेरे स्वभाव नहीं हैं; इसलिए उनका लक्ष्य छोड़कर चैतन्य स्वभाव का लक्ष्य करके उसका अनुभव कर। जिसप्रकार गुड़ का स्वभाव मीठा है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है, उसमें स्थिरता करने से ही शान्ति प्रगट होती है। सुखी होने का यही एक अचल और अभंग उपाय है।

इस लोक में चैतन्य स्वरूप आत्म ही परमतत्त्व है, अन्य कोई उत्तम नहीं है; इसलिये आचार्यदेव उसके अनुभव की प्रेरणा देते हैं।

स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मकान, लक्ष्मी आदि पर पदार्थ हैं, वे उत्तम नहीं हैं। मनुष्य पर्याय, राजपद, देवपर्याय आदि भी उत्तम नहीं हैं, क्योंकि ये सब आत्मा से भिन्न हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव भी स्वयं के लिए तो उत्तम हैं; परन्तु इस जीव के लिए उत्तम नहीं हैं; क्योंकि वे भी पर पदार्थ हैं।

व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नव-तत्त्वों का व्यावहारिक ज्ञान और भक्ति, पूजा तथा व्रतादिरूप मन्द कषाय के परिणाम भी उत्तम नहीं हैं; क्योंकि ये औपाधिक भाव हैं, विभाव हैं, आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं हैं।

अनन्त ऋद्धियों से भरी हुई सम्पूर्ण चैतन्य वस्तु की दृष्टि करके उसमें अभेद हुआ आत्मा ही उत्तम है। पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञान-स्वभाव से भरपूर आत्मा ही लोक में उत्तम है।

दूसरा कुछ भी उत्तम नहीं है - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने पहले नास्ति से कथन किया और अन्त में चैतन्य ही एक परमतत्त्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है - इस प्रकार अस्ति से कथन करके यह महान परमागम प्रवचनसार पूर्ण किया है।

इस महान परमागम में ज्ञान अधिकार, ज्ञेय अधिकार और चरणानुयोग चूलिका में अलौकिक रीति से वस्तु का स्वरूप बहुत कुछ कहा जा चुका है। वाद-विवाद करने से कुछ लाभ नहीं है; इसलिए जिसे अपना कल्याण करना हो उसे शुद्ध चैतन्यकन्द आत्मा की रुचि करके उसी में रमणता करना चाहिए। यही सारभूत है, व्यवहार की बहुत बातें आती हैं; परन्तु उससे परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती।

इस टीका के अन्त में कही गई निम्न बातें मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

टीका के अन्त में कहा है कि हे जगत के जीवो ! तुम ज्ञानानन्द स्वरूपी परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो। इस जीव ने दया, दान, व्रत, तप आदि भाव तो बहुत किए हैं, द्रव्यलिंग धारण करके पाँच महाव्रतों का पालन भी अनन्त बार किया है और उसके फल में नवमें गैवेयक भी अनन्त बार गया है, अतः ये भाव भी अपूर्व नहीं है। इन्द्राणी डिगाने आए तो भी न डिगे, अनेक परिषह आने पर भी विचलित न हो - ऐसा मुनिपद भी अपूर्व नहीं है।

इस अज्ञानी जीव को पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिल जाये तो यह ऐसा मानता है कि मैं चौड़ा और बाजार सकरा हो गया; हमारे बाप-दादों के पास तो कुछ भी नहीं था, हमने अपनी बुद्धि से इतना पैसा कमाया है - इसप्रकार अभिमान करता है। परन्तु भाई ! पैसा तो जड़ है, उसकी प्राप्ति पुण्योदय से होती है, वह कोई अपूर्व चीज नहीं है, अतः उसका अभिमान मत कर।

अनेक जीव व्रत, पूजा, तपश्चरण आदि क्रियाएँ करके अभिमान करते हैं कि हमने धर्म किया; परन्तु भाई ! तू इससे भी अधिक क्रिया-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

काण्ड करके अनन्त बार नवमें गैवेयक गया है, इसमें कुछ अपूर्वता नहीं है।

पंचेन्द्रिय विषयों में और पुण्यभाव में सुख नहीं है, आत्मा स्वयं सुख स्वरूप है - ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव कर। ऐसा अनुभव आज तक नहीं किया; अतः यह अपूर्व है। अहो भव्य प्राणियों ! आनन्द को जन्म देनेवाले जीवो ! तुम विकार को जन्म देने वाले नहीं हो। तुम्हारे स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि विद्यमान हैं, उन्हीं की प्रसूति करो और परमानन्द पद को प्राप्त करो।

बीसवें कलश में आचार्यदेव ने स्यात्कार लक्षण जिनशासन के आश्रय से आनन्दमय स्वतत्त्व की प्राप्ति की प्रेरणा दी है। यह स्वतत्त्व मुक्तिरूपी सरिता में डूबा हुआ है, उसमें केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी मुख्य है, वह उत्तम रत्न-किरण के समान स्पष्ट है और इष्ट है। ऐसे उल्लसित अर्थात् प्रकाशमान स्वतत्त्व को जिनेन्द्र शासन के वश से प्राप्त करो। आचार्यदेव का हृदय पुकारता है कि अवश्य ही प्राप्त करो। जिसप्रकार गुड़ के ऊपर धूल दिखाई देती है; परन्तु वह उसका स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में विकार दिखाई देता है; परन्तु वह उसका स्वरूप नहीं है, उसके पीछे अमृतकुम्भ भगवान आत्मा विद्यमान है।

आत्मद्रव्य स्वभाव की अपेक्षा कूटस्थ है और पर्याय की अपेक्षा पलटनेवाला है, वस्तुरूप से एक है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की अपेक्षा अनेक है, स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है, परचतुष्टय से नास्तिरूप है- स्त्री, पुत्र , शरीर, कर्म, देव, शास्त्र, गुरु आदि की अपेक्षा अभाव स्वरूप है— इसप्रकार स्याद्वाद द्वारा स्वतत्त्व की प्राप्ति करना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्यदेव इक्कीसवें कलश में कहते हैं 'स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञानकला द्वारा एक सम्पूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही अव्याकुलरूप से नाचो।'

जिसने स्याद्वाद का बल प्राप्त किया है, उसने पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव में अपना ज्ञान जोड़ दिया है, अब वह जगत में रुकने वाला नहीं है। जिसप्रकार सोना वर्तमान आभूषण जितना नहीं है, आभूषण तो वर्तमान पर्याय है, सोना अखण्ड परिपूर्ण है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञान के वर्तमान उघाड़ जितना नहीं है, वह तो अनन्त शक्तियों से भरपूर परिपूर्ण अखण्ड वस्तु है। जिसने स्याद्वाद विद्या के बल से ऐसे आत्मा की प्रतीति की, वह अब किसी के रोकने से रुकनेवाला नहीं है, वह मोक्षलक्ष्मी का वरण अवश्य करेगा।

अन्तिम कलश में आत्मानुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि 'चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता से अनुभव करो। इस शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता का पुरुषार्थ करके आज ही उसका अनुभव करो।'

टीका के अन्तिम कलशों में आचार्यदेव ने आराधकपना और उग्रता बताई है। इसमें तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का सार भर दिया। अब समय नहीं गँवाना चाहिए। निमित्त, विकार और भेद की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि जोड़कर आज ही उसका अनुभव करो। आचार्यदेव ने यही आदेश उपदेश और आशीर्वाद दिया है।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com